संकाय पत्रिका

श्रमणविद्या

[भाग-५]

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

वाराणसी

संकाय पत्रिका

श्रमणविद्या

| भाग-५ |

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

SAṄKĀYAPATRIKĀ

ŚRAMAṆAVIDYĀ

[Vol-5]

BOARD OF EDITORS

PROF. YADUNATH PRASAD DUBEY
DR. HAR PRASAD DIXIT
DR. BINA SHRIVASTAV

EDITED BY

PROF. RAMESH KUMAR DWIVEDI
Head, Jain Darshan Department
Prakrit and Jainagam Department
&
Dean, Faculty of Śramaṇa-Vidyā

Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi
2008

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

❏

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Academic, Research & Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❏

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❏

First Edition, 500 Copies
Price : Rs. 264=00

❏

Printed by—
GAURI SHANKAR PRESS
Navapura, Varanasi- 221 002

संकाय पत्रिका

श्रमणविद्या

[भाग- ५]

सम्पादक-मण्डल

प्रो. यदुनाथ प्रसाद दुबे
डॉ. हरप्रसाद दीक्षित
डॉ. बीना श्रीवास्तव

सम्पादक

प्रो. रमेश कुमार द्विवेदी

अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
एवम्
संकायाध्यक्ष, श्रमणविद्या-संकाय

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
२००८

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक—

निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी।

□

प्रकाशक—

डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी

निदेशक, शिक्षण, शोध एवं प्रकाशन-संस्थान

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी - २२१००२

□

प्राप्तिस्थान—

विक्रय विभाग,

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी - २२१००२

□

प्रथम संस्करण- ५०० प्रतियाँ

मूल्य- २६४.०० रूपये

□

मुद्रक—

गौरीशंकर प्रेस

नवापुरा, वाराणसी- २२१००२

शुभाशंसा

बौद्ध दर्शन ने समस्त विश्व को अपनी ओर आकर्षित किया है। विश्व को शान्ति एवं अहिंसा के साथ ही बन्धुता का उपदेश देने वाले युगप्रवर्तक भगवान् बुद्ध ने समाज में व्याप्त कठिनाइयों का सुगम मार्ग प्रशस्त किया है। बुद्ध का जीवन मानव-कल्याण के लिए समर्पित रहा, जिसके कारण ही सम्पूर्ण भू-मण्डल में भगवान् के रूप में प्रतिष्ठित हुए। बुद्ध की कल्याणकारी नीतियाँ, आदर्श और सिद्धान्त तथा दर्शन अन्य धर्म के साहित्य को न केवल प्रभावित किया, बल्कि समृद्ध भी किया। बुद्धचरित भगवान् बुद्ध पर प्रथम महाकाव्य है और इसकी रचना संस्कृत के कवियों ने कलापूर्ण भाषा में प्रस्तुत कर भगवान् बुद्ध द्वारा अनुभूत संसार के वास्तविक दुःख और उसके निदान का मार्ग प्रशस्त किया है। भगवान् बुद्ध ने सारनाथ में पहुँचकर सर्वप्रथम प्रथम धम्म उपदेश दिया, जो बौद्ध जगत् में 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' नाम से विख्यात है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी कर्णधार के रूप में अपनी अग्रणी भूमिका का निर्वाह करता है। इसी विश्वविद्यालय में जहाँ एक ओर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का पोषण होता है, वहीं दूसरी ओर भगवान् बुद्ध के उपदेशों को जन-जन तक पहुँचाने एवं महावीर के उपदेशों को मुखरित करने हेतु श्रमणविद्या संकाय की स्थापना हुई है और यह अति प्रसन्नता का प्रसंग है कि श्रमणविद्या संकाय अपनी संकाय-पत्रिका **"श्रमणविद्या"** के नाम से प्रकाशित करता है, जिसके सम्पादक मण्डल के रूप में संकाय के यशस्वी अध्यापक **प्रो. यदुनाथ प्रसाद दुबे, डॉ. हरप्रसाद दीक्षित, डॉ. बीना श्रीवास्तव** एवं सम्पादक के रूप में **प्रो. रमेश कुमार द्विवेदी** बधाई एवं प्रशंसा के पात्र हैं।

मेरी दृढ़ मान्यता है कि संकाय की पत्रिका **''श्रमणविद्या''** भाग-५ उच्च गौरव को प्राप्त करेगी तथा संकाय पत्रिका के माध्यम से भगवान् बुद्ध के परमपावन संदेश एवं विचार जन-जन को आप्लावित करते हुए विश्वव्यापी होंगे।

इस 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' संकाय पत्रिका भाग-५ के सौष्ठव-पूर्ण एवं यशस्वी प्रकाशन के लिये प्रकाशन निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** को बधाई प्रदान करता हूँ।

अनन्त शुभकामनाओं सहित।

(प्रो. वेम्पटि कुटुम्ब शास्त्री)
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी

वाराणसी
दीपावली
विक्रमसम्वत् २०६५

सम्पादकीय

जगत के उत्तम शास्ता परम कारुणिक भगवान बुद्ध की शिक्षा बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय की भावना से अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म त्रिधा विभक्त है, यथा—परियत्ति, प्रतिपत्ति (पटिपत्ति) और प्रतिवेध (पटिवेध)। इनमें से भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म 'परियत्ति' नामक सद्धर्म है। यही बुद्धशासन की आधारशिला है। इस (परियत्तिधर्म) के होने पर ही अन्य (प्रतिपत्ति और प्रतिवेध) धर्म भी स्थित रह सकते हैं, न होने पर नहीं। इसीलिए अङ्गुत्तरनिकाय की अट्ठकथा में भी कहा गया है—

सुत्तन्तेसु असन्तेसु पमुट्ठे विनयम्हि च।
तमो भविस्सति लोको सुरिये अत्थङ्गते यथा ॥
सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो योगक्खेमा न धंसति ॥

अर्थात् सूत्रान्तों के न होने पर और विनय के विनष्ट हो जाने पर यह लोक उसी प्रकार अन्धकार पूर्ण हो जायेगा, जिस प्रकार सूर्य के अस्तङ्गत हो जाने पर होता है। सूत्रान्तों के सुरक्षित रहने पर पटिपत्ति (ध्यानभावना आदि) भी सुरक्षित रहती है और पटिपत्ति में स्थित धीर पुरुष योगक्षेम से परिभ्रष्ट नहीं होता।

इसी कारण सद्धर्म की चिरस्थिति की कामना से महाकाश्यप आदि महास्थविरों ने परियत्ति (त्रिपिटक) नामक बुद्धवचनों का सङ्गायन कर बुद्धशासन की रक्षा की। सद्धर्म की अभिवृद्धि चाहने वाले तत्कालीन राजाओं और सामान्य जनों ने भी सङ्गीति करने वाले उन महास्थविरों की भरपूर सहायता की।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की स्थापना परम्परागत संस्कृत, पालि एवं प्राकृत भाषाओं की अभिवृद्धि एवं संरक्षण के लिए हुआ है। यहाँ वैदिक धारा एवं श्रमण धारा का ज्ञान गंगा अविरल रूप में प्रवाहित होती है। श्रमण धारा के ज्ञान को प्रचुर मात्रा में प्रचारित एवं प्रसारित करने हेतु विश्वविद्यालय में जब से संकायों का गठन हुआ है तब से श्रमण विद्या नामक संकाय पत्रिका 'श्रमण विद्या संकाय' द्वारा प्रकाशित होती है। **'श्रमणविद्या'** संकाय पत्रिका भाग-५ विद्वज्जनों एवं अध्येताओं के सम्मुख समर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो

रहा है। विशेष हर्ष इसलिए भी हो रहा है कि इसके सम्पादन में प्राच्यविद्या के विश्वविश्रुत विद्वानों एवं चिन्तकों का सहयोग मुझे निरायास प्राप्त हुआ है। इसमें वैदिक धारा एवं श्रमण धारा उभयविध विद्वानों के शोधपरक लेख सम्मिलित हैं। इसमें जिन विद्वानों के शोध निबन्धों का समावेश किया गया है वे अपने-अपने क्षेत्र के विशिष्ट विद्वान व सुचिन्तक हैं। शोध निबन्धों के अतिरिक्त इसमें संस्कृत बौद्धदर्शन के लघुग्रन्थ का भी प्रकाशन किया जा रहा है, जो सर्वथा अप्राप्य एवं दुर्लभ थे; परन्तु देवनागरी लिपि में इस ग्रन्थ का संस्कृत भूमिका के साथ आज तक कोई संस्करण उपलब्ध नहीं हैं। अत: इस लघुग्रन्थ को पाठ संशोधन तथा सारभूत संस्कृत भूमिका के साथ **श्रमणविद्या** संकाय पत्रिका में प्रकाशित कर पाठकों के लिए सुलभ किया जा रहा है। दुर्लभ एवं अप्रकाशित लघुग्रन्थों का प्रकाशन भी इस पत्रिका का लक्ष्य रहा है।

'श्रमणविद्या' संकाय पत्रिका श्रमणविद्या संकाय के सामूहिक प्रयत्न एवं इस विद्या के परिनिष्ठित विद्वानों के सहयोग से प्रकाशित हो रही है। **श्रमणविद्या संकाय** द्वारा आयोजित विशिष्ट व्याख्यानमाला जिसमें लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों का शोधपरक व्याख्यान होता है साथ ही संकाय के अन्तर्गत आने वाले सभी विभागों में भी तत्तद् विभागों के ख्यातिलब्ध विद्वानों के शोध परक व्याख्यान आयोजित किये गये थे, उन सभी व्याख्यानों को भी इसमें प्रकाशित किया जा रहा है। साथ ही विगत वर्षों से शासन के निर्देशानुसार बड़े ही भव्यता पूर्वक **डॉ. भीमराव अम्बेडकर जयन्ती** का भी आयोजन विश्वविद्यालय द्वारा श्रमणविद्या संकाय के माध्यम से मनाया गया है। जिसमें बड़े-बड़े विद्वानों का शोधात्मक व्याख्यान आयोजित हुआ है। उस व्याख्यान को भी इस **श्रमणविद्या** संकाय पत्रिका में समावेश किया गया है। इस प्रकार इस अंक की महत्ता और भी बढ़ जाती है।

श्रमण विद्या संकाय पत्रिका भाग-५ का प्रकाशन, स्वर्ण जयन्ती वर्ष में प्रकाशित कर विश्वविद्यालय ने यशकीर्ति को बढ़ाने में स्तुत्य प्रयास किया है। यद्यपि **श्रमणविद्या** संकाय पत्रिका का प्रकाशन प्रतिवर्ष होना चाहिए; परन्तु किन्हीं अपरिहार्यकारणों से कुछ अन्तराल के बाद सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के स्वर्णजयन्ती वर्ष में इसे प्रकाशित करते हुए अत्यन्त हर्षित हूँ।

प्रस्तुत **'श्रमणविद्या'** संकाय पत्रिका में ३४ महत्वपूर्ण शोध निबन्ध प्रकाशित किये जा रहे हैं। साथ ही प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय पर प्रो० संघ सेन सिंह ने स्वरचित पालि गाथा रूप में उनकी महत्ता प्रकाशित की है, जो अत्यन्त विद्वतापूर्ण गाथाओं

से संतृप्त है। **भगवान बुद्ध और भारत** एवं **आवरण और आवरणों का प्रहाण** प्रो० रामशंकर त्रिपाठी शोध आचार्य केन्द्रीय उच्चतिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी का अत्यन्त महत्वपूर्ण निबन्ध है। इन दोनों शोध निबन्धों में प्रो० त्रिपाठी ने बौद्ध धर्म दर्शन के मूलभूत दार्शनिक पक्षों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में निरूपित किया है साथ ही **भगवान बुद्ध और भारत** में ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अवदानों को सारगर्भित रूप में करते हुए कहा है कि आश्चर्य है कि आज से २५०० वर्षों से पहले भगवान बुद्ध ने उन समस्याओं के प्रति अपना विरोध प्रकट किया, जिनसे मानव जाति विशेषतः भारत आज भी परेशान और त्रस्त है, यथा— जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रीयता, धर्मानुमोदित हिंसा तथा सामाजिक एवं आर्थिक वैषम्य आदि। उन्होंने इन सबका कारण मनुष्य के अज्ञान, स्वार्थ और तृष्णा को बताया। उन्होंने घोषाण की कि पूरी सृष्टि में मनुष्य से श्रेष्ठ कोई अन्य नहीं है। मनुष्य स्वयं अपना भाग्य विधाता है। दुनिया के अच्छे या बुरे होने के कारण एकमात्र मनुष्य का अच्दा या बुरा होना है।

बौद्ध धर्म की आचार्य परम्परा और डॉ० भीमरावरामजी अम्बेडकर, संशय-शाश्वत-उच्छेदवाद दर्शनों के सन्दर्भ में गौतम बुद्ध की मूल-देशना, प्रो० संघसेन सिंह अभ्यागत आचार्य, बौद्धविद्या केन्द्र, गुरुगोविन्द सिंह भवन, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला (पंजाब) के अत्यन्त महत्वपूर्ण दो शोधनिबन्ध हैं, जिसमें बौद्धधर्म की आचार्य परम्परा और डॉ० भीमरावरामजी अम्बेडकर किन अच्छाइयों के चलते बौद्ध धर्म को ग्रहण किये तथा उनकी आचार्य परम्परा कितनी सशक्त है, साथ ही गौतम बुद्ध की मूल देशना में निहित ज्ञान विज्ञान संशय-शाश्वत-उच्छेदवाद को उपायकौशल भगवान बुद्ध के वचनों द्वारा बड़े ही तार्किक व प्रमाण पुरस्सर प्रतिपादित किया है। प्रो० संघसेन सिंह जी ने **डॉ० भीमराव अम्बेडकर की टिप्पणियाँ** नामक शोध लेख में विद्वतापूर्ण मनीषी विद्वान् ने डॉ० भीमराव अम्बेडकर के ज्ञानवर्धक टिप्पणियों से समलंकृत किया है।

प्रो० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' आचार्य जैन दर्शन विभाग द्वारा लिखित **'अनात्मवाद निराश : जैनशास्त्रों के परिपेक्ष्य में** एक महत्वपूर्ण निबन्ध है जिसमें प्रवाह रूप से वीतरागवाणी-द्वादशांगवाणी अनादि और अनन्त होने पर भी वह कृतक ही है, अकृतक नहीं। वह पौरुषेय ही है, अपौरुषेय नहीं। इस प्रकार बड़े ही गंभीरता से उक्त विषय पर प्रो० प्रेमीजी ने प्रकाश डाला है। प्रो० परमानन्द सिंह आचार्य एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग, महात्मा गाँधी काशीविद्यापीठ, वाराणसी ने **डॉ० भीमराव अम्बेडकर एवं बौद्धधर्म** की विशेषताओं पर विहङ्गम दृष्टि से व्यापकता एवं उपादेयता पर

अपने निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। डॉ० हरप्रसाद दीक्षित उपाचार्य एवं अध्यक्ष, पालि एवं थेरवाद विभाग ने **बौद्धधर्म एवं सामाजिक सद्भाव** विषयक निबन्ध में विस्तार से सामाजिक सहिष्णुता, जाति विहीन समाज की स्थापना एवं प्रचलित कुरीतियों से दूर बौद्धधर्म एवं सामाजिक सद्भाव के पक्ष को समुद्घाटित किया है। प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष ने **'सौत्रान्तिक-दर्शन तत्त्वविमर्शः'** नामक संस्कृत शोध निबन्ध में सौत्रान्तिक दर्शन के मूलभूत तत्त्वों का प्रतिपादन अत्यन्त सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किये हैं। **'जैन अर्द्धमागधी आगमों में गीतकला** नामक शोध निबन्ध में डॉ० हरिशंकर पाण्डेय उपाचार्य प्राकृत एवं जैनागम विभाग ने गीत की महत्ता, गीत की व्युत्पत्ति, आगम साहित्य में स्वर, सात स्वर, स्वरों के अन्यान्य भेदोपभेदों का विस्तार से उल्लेख किया है। **बौद्धसंघ की जन्मस्थली : सारनाथ** नामक निबन्ध डॉ० रमेश प्रसाद वरिष्ठ प्राध्यापक—पालि एवं थेरवाद विभाग द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्रो० प्रद्युम्न दूबे पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने **अश्वघोष : बौद्धधर्म के उन्नायक के रूप में** नामक शोध निबन्ध को प्रस्तुत किया है। जिसमें अश्वघोष के जन्म से लेकर उनके साहित्यिक, दार्शनिक अवदानों की विशेष चर्चा की गयी है। प्रो० दूबे ने सिद्ध किया है कि बौद्ध धर्म के उन्नायक के रूप में अश्वघोष की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे आचार्य एवं अध्यक्ष बौद्ध दर्शन विभाग ने **'बौद्ध तन्त्र व निगमागम सम्बन्ध** विषय पर निबन्ध प्रस्तुत किये हैं जिसमें आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, सर्वतथागततत्त्वसंग्रह, सर्वदुर्गतिपरिशोधन तन्त्र, गुह्यसमाज तन्त्र, हेवज्रतन्त्र, चण्डमहारोषण तन्त्र खसमतन्त्र, महामायातन्त्र, कृष्णायमारितन्त्र, सम्पुटतन्त्र, डाकार्णवतन्त्र, अभिधानोत्तरतन्त्र, चक्रसंवरतन्त्र, संवरोदय तन्त्र, कालचक्रतन्त्रादि के बारे में विस्तार से प्रकाश डाले हैं। प्रो० ब्रह्मदेवनारायण शर्मा पूर्व श्रमण विद्यासंकायाध्यक्ष एवं पालि एवं थेरवाद विभागाध्यक्ष ने **पालिनिकायों में यज्ञ का स्वरूप** विषय पर शोधपरक निबन्ध प्रस्तुत किया है जिसमें यज्ञ विधि के बाह्य एवं आभ्यन्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म वैज्ञानिक विविधता पूर्ण विवेचन सार रूप में चित्रित है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के संस्कृत पालि एवं प्राकृत विभागाध्यक्ष प्रो० सत्यदेव कौशिक ने **वेद और बुद्ध : परस्पर आदान-प्रदान का प्रभाव** विषय पर निबन्ध प्रस्तुत कर श्रमण धारा एवं वैदिक धारा दोनों में निहित विषयों का प्रतिपादन किया है। डॉ० टशी पल्जोर पूर्व प्राचार्य केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान चोगलमसर लेह लद्दाख ने **पूर्वापर जन्म एवं कर्मफल** विषयक शोध

निबन्ध में पाँच महाविद्याओं और बौद्धधर्म दर्शन की सर्वज्ञता व व्यापकता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। केन्द्रीय बौद्धविद्या संस्थान लेह के ही वरिष्ठ प्राध्यापक भन्ते छेवांग रिगजिन ने **लद्दाख में गोनपाओं की परम्परा एवं प्रबन्ध व्यवस्था** विषयक निबन्ध में गोनपाओं की परम्परा एवं प्रबन्ध व्यवस्था के जो नियम, उपनियम एवं अन्य आवश्यक दिशा निर्देशों का सम्यक् वर्णन प्रतिपादित है। प्रो० रामचन्द्र सिंह पूर्व आचार्य अर्थशास्त्र विभाग महात्मा गाँधी काशीविद्यापीठ, वाराणसी ने **बौद्धधर्म के संस्थापक : गौतम बुद्ध** के बारे में अपना निबन्ध प्रस्तुत किया है। श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली के जैनदर्शन विभागाध्यक्ष डॉ० अनेकान्त कुमार जैन ने **सल्लेखना : साधना और भारतीय संविधान** में मृत्यु और भय, संथारा और समाधिमरण, सल्लेखना के बारे में विस्तार से प्रकाश डाले है साथ ही आत्महत्या एवं सल्लेखना का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। डॉ० प्रीति कुमारी दूबे रीडर पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने **बौद्ध-चिन्तन परम्परा में लोक व्यवस्था** विषयक शोध निबन्ध में बौद्ध अध्ययन परम्परा में लोक व्यवस्था पर सुन्दर ढंग से चर्चा है। डॉ० हरीश्वर दीक्षित उपाचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग राजा हरपाल सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिंगरामऊ—जौनपुर ने **विश्वशान्ति एवं बन्धुत्व में बौद्धधर्म का योगदान** विषयक शोध निबन्ध प्रस्तुत किये हैं, जिसमें वैदिक काल से लेकर श्रमण काल तक का विस्तार से वर्णन है। जैनविद्या की विदुषी डॉ० मुन्नीपुष्पाजैन शारदा नगर वाराणसी ने **शिक्षा के प्रसार में जैन महिलाओं का योगदान** विषयक निबन्ध को विद्वतापूर्ण ढंग से उपस्थापित किया है। डॉ० हरेराम त्रिपाठी पूर्व अध्यक्ष सर्वदर्शन विभाग श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ—नई दिल्ली ने **वैशेषिक दर्शन दिशा परमाणु विज्ञानम्** विषय पर संस्कृत भाषा में शोध निबन्ध प्रस्तुत किया है जिसमें परमाणु के बारे में शास्त्रसम्मत क्या-क्या व्याख्यायें हो सकती हैं उसे सयुक्तिक प्रमाण पुरस्सर प्रस्तुत किया गया है। डॉ० वीना श्रीवास्तव उपाचार्य एवं अध्यक्ष—संस्कृत विद्याविभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने **सामाजिक पर्यावरण में पातञ्जल योग की भूमिका** विषय पर निबन्ध प्रस्तुत किया है जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि के साथ-साथ पर्यावरण पर विस्तार से चर्चा की हैं। उसी विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ० लक्ष्मीकान्त झा ने **कविशिक्षा** विषय पर निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र के संस्कृत विभागीय डॉ० देवी सिंह ने **बौद्ध न्याये**

स्वभाव प्रतिबन्ध : विषय पर संस्कृत भाषा में अपना शोध निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। ये पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के माध्यम से स्वभाव प्रतिबन्ध को सम्यक् रूप में निदर्शित करने का प्रयास किये हैं। सामाजिक विज्ञान विभाग के पूर्व विभागाध्यक्ष डॉ० सोमनाथ त्रिपाठी ने **काशी और बौद्धधर्म की ऐतिहासिकता** विषय पर सांस्कृतिक व पुरातात्विक दृष्टि से अपना शोध निबन्ध प्रस्तुत किया है। **कर्माश्रीनालन्दा उच्च बौद्ध अध्ययन संस्थान रूमटेक सिक्किम** के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० अवधेश कुमार द्विवेदी ने **बौद्ध धर्म दर्शन में अहिंसा का सिद्धान्त** विषय पर बड़े ही सावधानी पूर्वक सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरुपण कर अहिंसा के सिद्धान्त को अपने निबन्ध में प्रतिपादित किया है। पुराणेतिहास विभागाध्यक्ष डॉ० आशुतोष मिश्र ने **शिवमहापुराणे भक्तानां वर्णनम्** विषय पर संस्कृत भाषा में अपने शोध निबन्ध को प्रस्तुत कर पुराणों के महत्ता पर प्रकाश डाला है। डॉ० अनामिका सिंह जैन बौद्धदर्शन विभाग काशी हिन्दू विश्विविद्यालय, वाराणसी ने **मध्यान्त विभाग शास्त्र में लोकोपकार के तत्त्व** विषय पर लोकोपकार के स्वरूप, मध्यान्तविभागशास्त्र में लोकोपकारक दृष्टि का सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है। डॉ० विनीता पाण्डेय जैन बौद्धदर्शन विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने **बौद्ध संस्कृत साहित्य की विशेषताएँ** विषय पर विद्वतापूर्ण शोध निबन्ध प्रस्तुत की हैं। डॉ० ददन उपाध्याय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने **पाण्डुलिपि सम्पादन एवं ईक्ष्य शोधन** विषयक गाम्भीर्य पूर्ण शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किये हैं। डॉ० शिव कुमार चौबे अंशकालिक प्राध्यापक बौद्धदर्शन विभाग ने **वैश्विक सामाजिक परिवर्तन में बौद्धदर्शन की भूमिका** विषय पर अपने निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। डॉ० शोभनाथ पाठक अंशकालिक प्राध्यापक इतिहास विभाग हरिचन्द्र पी.जी. कालेज, वाराणसी ने **बदलते परिवेश में बौद्धधर्म का योगदान** आदि विषय पर निबन्ध अत्यन्त गवेषणापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। जिनसे अध्येताओं एवं शोधकर्ताओं को अत्यन्त लाभ होगा।

इन निबन्धों के अतिरिक्त इस पत्रिका में संस्कृत बौद्धदर्शन का एक लघुग्रन्थ का भी पहली बार प्रकाशन हो रहा है। यह ग्रन्थ अभी तक देवनागरी लिपि में विना भूमिका के ४५ वर्ष पूर्व छपा था। परन्तु संस्कृत भूमिका के साथ पाठ संशोधन सहित यह पहली बार प्रकाशित हो रहा है। यह लघुग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपादेय है। इसके सम्पादक प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से शोध कर्ताओं तथा पालि एवं बौद्ध विद्या से सम्बन्धित पाठकों को अत्यन्त लाभ होगा।

श्रमणविद्या भाग-५ में प्रकाशित उपर्युक्त सामग्री प्राच्यविद्याओं के अनुशीलन एवं शोध में कितनी उपयोगी सिद्ध होगी, यह इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों एवं गवेषकों के प्रयत्नों पर निर्भर है। यदि इन सामग्रियों के उपयोग से शोध कर्ताओं को थोड़ा भी लाभ मिला तो इसकी सार्थकता सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

श्रमणविद्या संकाय पत्रिका के प्रकाशन के अवसर पर विद्वज्जनों के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा परम कर्तव्य है। अतः सर्वप्रथम पूर्व कुलपति प्रो० अशोक कुमार कालिया जी एवं प्रो० रामजीमालवीय जी प्रतिकुलपति का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। जिनके कार्यकाल में इस संकाय पत्रिका को मुद्रित कराने हेतु स्वीकृति मिली। प्राच्य विद्या के मनीषी विद्वान प्रो० वि० कुटुम्ब शास्त्री कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्विविद्यालय, वाराणसी के प्रति प्रणति सहित आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी सहृदयता, सदाशयता तथा श्रमण विद्या के प्रति अगाध प्रेम के कारण इस पत्रिका को सम्पादित कर विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। उन्होंने कृपापूर्वक इस पर अपनी शुभाशंसा लिखकर इसका गौरव बढ़ाया है। अतः पुनः उनके प्रति विनम्रभाव से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत बौद्धदर्शन के प्रख्यात विद्वान पूर्व श्रमण विद्या संकायाध्यक्ष प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, पालि एवं थेरवाद के प्रकाण्ड विद्वान पूर्व श्रमण विद्यासंकायाध्यक्ष प्रो० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा, संस्कृत साहित्य के विद्वान प्रो० राजीव रंजन सिंह पूर्व श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष, प्राकृत एवं जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान प्रो० गोकुल चन्द जैन पूर्व श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष एवं डॉ० पुरुषोत्तम प्रसाद पाठक पूर्व श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ जिनके सत्प्रेरणा से यह संकाय पत्रिका प्रकाशित हो रही है। पूज्यनीय पिता पं० श्री रामवृक्ष द्विवेदी एवं पूज्यनीया माता श्रीमती चम्पा देवी के आशीर्वादों की परिणति यह **श्रमणविद्या** का अंक है।

श्रमणविद्या संकाय के सामूहिक प्रयत्न की प्रस्तुति एवं पारस्परिक सौहार्द और सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो सका है, अतः इस भाग के सम्पादक मण्डल तथा लेखन-सम्पादन सहयोग के लिए सभी विद्वज्जनों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। प्राच्यविद्या के विश्रुत विद्वानों ने अपने निबन्धों से **श्रमण विद्या संकाय पत्रिका** को समृद्ध बनाया है, उन सभी मनीषी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जिन विद्वज्जनों ने परिश्रम पूर्वक लघुग्रन्थों का सम्पादन किया है और इस पत्रिका को

दीर्घावधि तक के लिए उपयोगिता प्रदान की है उन सबके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। विश्वविद्यालय के कुलसचिव श्री योगेन्द्र नाथ गुप्ता के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सत्परामर्श से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। साथ ही डॉ० पद्माकर मिश्र विक्रयाधिकारी के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके बार-बार उत्साहित करने से यह कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका है।

प्रकाशन-संस्थान के निदेशक माननीय डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठीजी के हम विशेष आभारी है, जिनके प्रोत्साहन एवं सहयोग से **श्रमणविद्या संकाय पत्रिका भाग-५** सुसज्जित रूप में प्रकाशित हो सकी है। प्रकाशन से सम्बन्धित डॉ० हरिवंश कुमार पाण्डेय एवं डॉ० ददन उपाध्याय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सहयोग एवं परामर्श से इस पत्रिका का इस रूप में प्रकाशन सम्भव हो सका है। प्रकाशन संस्थान के अन्य सहयोगीवृन्द को साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने इस पत्रिका के सम्पादन में प्रभूत सहायता की है। 'श्रमण विद्या' के इस अंक को इतने आकर्षक रूप में मुद्रित करने हेतु गौरीशंकर प्रेस दारानगर, वाराणसी के व्यवस्थापक **श्री शिवप्रसाद रस्तोगी** को सस्नेह साधुवाद देता हूँ। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जिनका सहयोग रहा है, उन सबके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

ज्ञान असीम है और कार्य का क्षेत्र व्यापक है। मानवीय क्षमता की सीमाएँ हैं। सभी प्रकार की सावधानी के बाद भी त्रुटियाँ सम्भव हैं, विद्वज्जन उनके परिमार्जन पूर्वक इसे स्वीकार करेंगे। यथा—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
संकायाध्यक्ष
श्रमणविद्या संकाय
अध्यक्ष-जैन दर्शन विभाग
एवं
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

२०-१०-२००८

अनुक्रमणिका

लघु-ग्रन्थमाला

●

श्रमणविद्या संकाय पत्रिका-भाग-५
जगन्नाथो उपज्झायो

बन्धकारो सेतलसङ्घसेनो

उपज्झायो जगन्नाथो सोगतो अग्गपण्डितो।
विवरि सोगतं सत्थं पिहितं यं नु भारते॥१॥

अज्झेनं यं कतं तेन सोगतानं च सासने।
बहुसो तं च उद्दिट्ठं जनकल्याणसाधने॥२॥

बद्धकोसे मुनिस्सत्थे बोद्धेहि तित्थियेहि च।
तल्लिकं विनिवेसित्वा सत्थद्वारं अपाकरि॥३॥

परिहानिं गते धम्मे तित्थियानं समुग्गते।
सोगतानं हतासाय अन्धकारे विवड्ढिते॥४॥

तित्थियानं विवादेहि व्यत्तसत्तसतद्दिके।
भारते पन संपुण्णे वज्जित-हिमवन्तके॥५॥

वीसतिमे इसूवीये उप्पज्जिंसु बहुस्सुता।
महावीरा महेसक्खा लोके लोकहितेसिनो॥६॥

अनुकम्पं उपादाय सद्धम्मो तेहि सोगतो।
चित्ते निधाय कल्याणं आविकतो पकासितो॥७॥

सब्बे ते बहुविज्जा च बुद्धसत्थसमन्विता।
बुद्धविज्जादिविकासाय दिन्नचित्ता महामना॥८॥

तेसु यो पि विसिट्ठो वे अहोसि विदु-नायको।
मित्तामच्चो नरिन्दस देवन्तस्स महेसिनो॥९॥

सो सङ्कच्चानिके मग्गे अद्धगो राहुले पन।
आचरितं यथा वुत्तं सा विज्जा या विमुत्तये॥१०॥

तेन उदारचित्तेन बाराणसियं तथा पन।
संपुण्णे भारते रट्ठे बुद्ध-भेरिं अताळयि॥११॥

तित्थपङ्केसु आकण्ठं निगुळहं-बुद्ध-सत्थकं।
सबलेन सचागेन सथामेन ससत्तिकं॥१२॥

उट्ठापेसि च ठापेसि विसिट्ठायुच्चभूमियं।
समणसंकायकं नाम विज्जापीठे च संखते।।१३।।

न जानासि न पस्सामि रट्ठे रट्ठन्तरेसु च।
पुरिसपुङ्गवं अञ्ञं यो चक्खमो यथा स हि।।१४।।

धम्मन्धताय संसित्तं लोकं सब्बत्थ भारते।
कातुं च बोद्धता-पोणं जगन्नाथो विचक्खणो।।१५।।

तेसु तेसु खणेस्वेव सफलोऽहोसि नायको।
जगन्नाथो उपज्झायो बाराणसीय-केसरी।।१६।।

सहव्यताय भोटानं भोट-सण्ठान-ठापने।
विज्जापीठीकरणे च सफलोऽहोसि नायको।।१७।।

कता सञ्चालिता चापि पालि-संठान-योजना।
लखनो-नगरे वापि कुसिनाराय वा पन।।१८।।

कता सञ्चालिता तेन कालेन योजना बहु।
तेन पुरिससेट्ठेन तेन एव महेसिना।।१९।।

हेस्सन्ति सफला तायो कालेन न हि संसयो।
कतवेदिनो जना लोके सरिस्सन्ति युगे युगे।।२०।।

यथा दानि मयं सब्बे सङ्काय-भवने ठिता।
सरन्ति तं महापोसं पण्डितानं विनायकं।।२१।।

इति यं सङ्घसेनस्स सेतलस्स निवेदितं।
एत्थ कादेय्य-बन्धेसु तेन वुद्धन्तु पंडिता।।२२।।

इति सेतलसङ्घसेनस्स
दिल्ली नगरट्ठस्स।

✵

भगवान बुद्ध और भारत

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

शोध आचार्य

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ-वाराणसी २२१००७

भगवान् बुद्ध जैसे महापुरुषों का जन्म लोक में अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य रूप में जन्म लेकर उन्होंने निश्चय ही मानव-जाति का गौरव बढ़ाया है। इतना ही नहीं, उन्होंने मनुष्य को यह विश्वास भी प्रदान किया है कि दृढ़ इच्छाशक्ति हो तो कोई भी मनुष्य बुद्धत्व जैसा उच्च पद प्राप्त कर सकता है। भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म में प्रवेश के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा। किसी भी जाति, वर्ण, लिङ्ग, देश आदि का पुरुष अथवा स्त्री उसमें स्वेच्छया प्रवेश ले सकता हैं। सभी में बुद्धत्व का बीज निहित है। सभी को एक न एक दिन अवश्य ही बुद्धत्व प्राप्त करना है। उन्होंने जिस मार्ग और जिस विधि से बुद्धत्व प्राप्त किया था, उस परीक्षित मार्ग का उन्होंने यावज्जीवन बिना भेद-भाव के और बिना कुछ छिपाये मुक्त हस्त से वितरण किया। उनके जीवन काल में ही राजा से लेकर रङ्क पर्यन्त बड़ी संख्या में आबाल-वृद्ध नर-नारियों ने उनके लोकमंगलकारी धर्म की शरण ग्रहण की। उनकी बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, की प्रेरणा से प्रभावित होकर उनके अनुयायी भिक्षुओं ने भी अपनी जान की परवाह किये बिना ऊँचे-ऊँचे पर्वतों, घने जंगलों और विस्तृत रेगिस्तानों को लाँघते हुए दुर्गम स्थानों और दूर-दूर के देशों तक बिना भय, लोभ और हिंसा के उनके धर्म का प्रकाश फैलाया और लगभग आधे विश्व-गोलार्द्ध को उससे लाभान्वित किया। धर्मों के विकास के इतिहास में बौद्धधर्म के विकास का इतिहास बेजोड़ है।

आश्चर्य है कि आज से २५०० वर्षों से भी पहले भगवान् बुद्ध ने उन समस्याओं के प्रति अपना विरोध प्रकट किया, जिनसे मानव जाति विशेषत: भारत आज भी परेशान और त्रस्त है, यथा– जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रीयता, धर्मानुमोदित हिंसा तथा सामाजिक एवं आर्थिक वैषम्य आदि। उन्होंने इन सबका कारण मनुष्य के अज्ञान, स्वार्थ और तृष्णा को बताया। उन्होंने घोषणा की कि पूरी सृष्टि में मनुष्य से श्रेष्ठ कोई अन्य नहीं है। मुनष्य स्वयं अपना भाग्य-विधाता है। दुनियाँ के अच्छे या बुरे होने के कारण एकमात्र मनुष्य का अच्छा या बुरा होना है। मनुष्य अपने

दु:खों का कारण स्वयं है । इस दु:ख से छुटकारा भी उसे कोई दूसरी शक्ति नहीं दिला सकती । इसके लिए स्वयं को प्रकाशवान् बनाना होगा और अपने ही प्रकाश में चलना होगा । मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है—मानव जाति को आन्तरिक और बाह्य सभी प्रकार के दु:खों से मुक्ति दिलाना। इसके लिए आवश्यक है कि वह प्राणिमात्र के प्रति अपरिमित मैत्री और करुणा का विस्तार करे। जैसे माता अपने इकलौते पुत्र की रक्षा के लिए अपना जीवन न्यौछावर कर देती है, वैसे ही प्राणिमात्र की रक्षा के लिए अपने जीवन को समर्पित करना होगा।

बुद्ध ने मनुष्य-जाति के हित में धर्मों की भी सीमा बताई । उन्होंने कहा कि धर्म तो लकड़ी से बने बजड़े की भाँति मात्र नदी पार करने के लिए है, सिर पर ढोने के लिए नहीं । उन्होंने कहा अधर्म को तो पहले ही छोड़ना है, इसमें कोई विवाद नहीं है, किन्तु अन्त में धर्म को भी छोड़ना होगा । उन्होंने कहा कि धर्म क्या है ? अधर्म क्या है ? इसके निर्णय के लिए किसी शास्त्र पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। उन्होंने कहा कि जैसे स्वर्णकार कई प्रकार की परीक्षा के अनन्तर उसे उत्तम समझने के बाद ही सोने को खरीदता है, वैसे ही मेरी बात भली-भाँति परीक्षा करके सही मालूम हो तो ग्रहण करो, अन्यथा नहीं । केवल इसलिए मेरी बात को स्वीकार मत कर लो कि इसे बुद्ध ने कहा है । उन्होंने बहुजन के हित और बहुजन के सुख को धर्म का लक्ष्य बताया और इसके लिए अपने जीवन को समर्पित करने के लिए कहा, साथ ही, इसके पहले अपने राग, द्वेष और मोह पर विजय प्राप्त करने के लिए सावधान किया ।

कौन मनुष्य श्रेष्ठ है? इसके बारे में बुद्ध ने कहा कि श्रेष्ठता का निर्णय उसकी जाति, वंश और गोत्र से नहीं हो सकता, ये सब तो मिथ्या कल्पित है । उन्होंने कहा कि यह उचित नहीं है कि किसी की जाति पूछो, अपितु उसके आचरण को पूछो और देखो ।

इसी प्रकार उन्होंने कहा कि कोई भाषा पवित्र या पूज्य नहीं होती । जिसमें मानव-कल्याण की बातें हों, वही भाषा श्रेष्ठ और ग्राह्य है । उन्होंने जोर देकर कहा कि शब्दों (शास्त्रों) की शरण में न जाओ, उसके अर्थ की शरण में जाओ । अपने वचनों को वैदिक संस्कृत में रूपान्तरित करने की अनुमति न देते हुए उन्होंने कहा—'अनुजानामि भिक्खवे, सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं ति' अर्थात् भिक्षुओं, अपनी-अपनी भाषाओं में बुद्धवचनों को ग्रहण करने की अनुमति देता हूँ। इस तरह उन्होंने जनभाषाओं को महत्त्व प्रदान किया । फलत: उनके उपदेश सामान्य जनता तक पहुँच सके । यही कारण है कि हजारों वर्ष पूर्व विश्व की अनेक भाषाओं में बुद्ध की शिक्षाओं का अनुवाद किया जा सका ।

क्षेत्र की श्रेष्ठता और पवित्रता के बारे में बुद्ध का कहना था कि कोई भी स्थान या क्षेत्र अपने में श्रेष्ठ नही होता, अपितु जहाँ भी सन्त या सज्जन पुरुष निवास करते हैं, वही स्थान रमणीय है ।

भगवान् बुद्ध ने राजतन्त्र से गणतंत्र को श्रेष्ठ बताया और व्यक्ति से संघ को श्रेष्ठ बताया। गणतन्त्रों के आदर्शों के अनुरूप ही उन्होंने अपने संघ का गठन किया। उन्होंने कहा कि जब तक गणतन्त्र के सदस्य परस्पर मेल-जोल से अपनी बैठकें करते रहेंगे, अपने मतभेद मिटाकर निर्णय लेते रहेंगे तथा जो निर्णय ले उन्हें कार्यान्वित करते रहेंगे, तब तक गणतन्त्र को बाहिरी शक्तियाँ पराजित नहीं कर सकेंगी। उन्होंने कहा कि वृद्धों और स्त्रियों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, प्रत्युत उन्हें पर्याप्त सम्मान मिलना चाहिए । भारतीय इतिहास में पहली बार उन्होंने स्त्रियों को संघ बनाने की अनुमति दी । फलतः स्त्रियाँ भी अध्यात्म के उत्कृष्ट मूल्य को अपने जीवन मे उतारने का अवसर प्राप्त कर सकीं । समता की जो भावना गणतनत्र में थी, बुद्ध ने उसे संघ में स्वीकार किया। उन्होंने कहा जैसे विभिन्न दिशाओं से आती हुई गंगा, यमुना, सरयू आदि नदियाँ समुद्र से मिलकर अपना-अपना रंग-रूप, नाम आदि समुद्र में विलीन कर देती है, केवल समुद्र का रंग, रूप ही शेष रहता है, उसी प्रकार विभिन्न वर्णों, जातियों, कुलों, गोत्रों से जाने पर भी संघ मे सभी लोग एक समान बुद्धपुत्र हो जाते हैं । यही कारण था कि संघ के उच्चतम धर्मासन पर किसी भी वर्ग, वंश और जातियों से सम्मिलित हुए लोगों को आसीन होने का सम्मान और अवसर प्राप्त हो सका । इस तरह उन्होंने सामाजिक विषमता के खिलाफ मानव-समता को प्रतिष्ठित किया।

संघ की आचार-संहिता के द्वारा बुद्ध ने एक मानवतावादी उदार संस्कृति को जन्म दिया। बुद्ध के जीवन की ऐसी पचासों घटनाएँ हैं, जिनके प्रभाव में परम्परागत भारतीय संस्कृति नवीन रूप धारण कर सकी । ज्ञात है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद महाकाश्यप के सभापतित्व में राजगृह में जो संगीति हुई, उसमें नाई जाति के उपालि ने विनय का संगायन किया, जो भारतीय इतिहास में विनयधर के रूप में प्रसिद्ध हुए । बुद्ध की इस नई संस्कृति मे न जाने कितने शूद्र, चण्डाल, वेश्या, भील आदि जाति के लोग मानव होने का उच्चतर गौरव प्राप्त कर सके ।

आर्थिक समानता की दृष्टि से बुद्ध ने संघ में व्यक्तिगत सम्पत्ति का निषेध किया और उन्होंने सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति के स्थान पर संघ को देना उचित समझा। बुद्ध ने व्यक्ति और सामाजिक जीवन में सन्तुलन बनाये रखने के लिए मध्यम मार्ग अपनाने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि अत्यधिक कष्टभोग और अत्यधिक सुखभोग दोनों ही हानिकर एवं हीन आचरण हैं। इस तरह उन्होंने दरिद्रता

और विलासिता दोनों को समान रूप से हेय बताया। उन्होंने जाति पर आधारित परम्परागत जीविका के विरोध में योग्यता और श्रम पर आधारित जीविका को प्रोत्साहित किया।

बुद्ध ने इन सामाजिक परिवर्तनों को व्यापक आधार देने के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में एक दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इसके अनुसार व्यक्ति या समाज में अथवा आन्तरिक और बाह्य जीवन में जो घटनाएँ घटती हैं, उनके पीछे एक नहीं, अनेक कारण होते हैं। उन कारणों मे कोई प्रधान या गौण नहीं होता, अपितु सभी समान महत्त्व के होते हैं। ऐसा भी नही है कि इन कारणो में कोई अपरिवर्तनशील, स्थिर या नित्य हो। सभी कारण परस्पर आश्रित रहते हुए नूतन परिणाम को घटित करते हैं। इस पूरे सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि सृष्टि में सब कुछ गतिशील है। अत: अपेक्षित परिणाम को लाने के लिए परस्पर की निर्भरता और सामूहिकता आवश्यक है। इस सामूहिकता से सामूहिक उत्थान सम्भव है। इस ऐतिहासिक परिवर्तन के लिए केवल बाहरी ही नहीं, अपितु भीतरी तैयारी भी होना चाहिए। बुद्ध ने कहा कि परिवर्तन मन से प्रारम्भ होता है। ऐसी तैयारी के लिए मन को राग, द्वेष, अज्ञान और अन्धविश्वासों से मुक्त होना चाहिए। उन्होंने कहाकि जिसका चित्त लाभ-हानि, यश-अपयश, निन्दा-प्रशंसा और सुख-दु:ख आदि इन लोक धर्मों से विचलित न हो, वहीं अपेक्षित परिवर्तन ला सकता है।

दु:ख, उसके कारण और उनका निवारण ही बुद्ध की चिन्ता के प्रमुख विषय थे। इनकी खोज के लिए ही वे घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुए। अनेक लोगों से मिले; किन्तु समाधान प्राप्त नही हुआ। अन्त में उन्हें अपने ही रास्ते से वैशाख-पूर्णिमा के एक दिन समाधान प्राप्त हुआ।

वस्तुत: मनुष्य ने अपने अज्ञान के कारण अपने भीतर एक 'मैं' (अहं) नामक नित्य सत्ता की कल्पना कर ली है। 'मैं' की भावना 'मेरे' की भावना को जन्म देती है और मुनष्य की सारी गतिविधियाँ हमेशा इन्हीं भावनावों के चारों ओर घूमती रहती है। फलत: मनुष्य परम स्वार्थी और स्वकेन्द्रित हो गया है। परम्परागत धर्म, संस्कृति और शिक्षा ने इन भावनाओं को विस्तार प्रदान किया। फलत: मेरा धर्म, मेरा देश और मेरा ईश्वर आदि अनेक संकीर्ण और क्षुद्र भावनाएँ पैदा हुई और उनके कारण हिंसा, कलह, युद्ध आदि अनेक उपद्रव और बुराइयाँ पैदा हुई। ये ही सब दु:ख के कारण हैं।

दु:खता एक मानवीय समस्या है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उसमें कुछ बाहरी भिन्नता अवश्य दिखलाई देती है। किन्तु उसकी संवेदनशीलता

और मनोवैज्ञानिक प्रभाव प्राय: एक-समान ही है । अत: दु:खता का आयाम अत्यन्त विस्तृत और व्यापक हो जाता है । भगवान् बुद्ध ने इसका कारण अपने अस्तित्व के प्रति तृष्णा को बताया और कहा 'आत्मा नहीं है'—इस नैरात्म्य ज्ञान से ही 'मैं' और 'मेरे' के प्रति होने वाली तृष्णा और उससे उत्पन्न दु:खों का निवारण किया जा सकता है । इस प्रकार के ज्ञान (प्रज्ञा) के उत्पाद के लिए उन्होंने शील और समाधि को आवश्यक बताया ।

दु:खता की समस्या के समाधान के लिए स्वयं मुनष्य को ही प्रयास करना होगा; क्योंकि अपने अज्ञान और तृष्णा का कारण वह स्वयं है, अत: उसका प्रहाण भी किसी अन्य ईश्वर आदि के वरदान या कृपा पर निर्भर नहीं है । व्यक्ति और समाज मे यदि परिवर्तन लाना है और उन्हें सुखी, शान्त और दु:खों से मुक्त करना है तो अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं को बदलना होगा और नैरात्म्य को जानने वाली प्रज्ञा का उत्पाद करना होगा ।

उपर्युक्त विचार हमारे पूर्वज अर्थात् भगवान् बुद्ध और बौद्ध आचार्यों के है, जिन विचारों ने विश्व के अधिकांश भाग को प्रभावित किया था और आज भी पचासों देशों में वे विद्यमान है । आज भारत की स्थिति अत्यन्त सोचनीय है । हमने उन विचारों को प्राय: भुला दिया है । हमारे लिए बुद्ध एक विदेशी के समान हो गये हैं। तथ्य यह है कि जब से बुद्ध विदेशी बनाये गये, तब से हमारी स्वतन्त्रता भी विदेशी हाथों में चली गई। स्वराज्य प्राप्त होने पर यद्यपि राष्ट्रध्वज, मुद्रा और आदर्श वाक्यों में बुद्ध का स्मरण किया गया, किन्तु यह तो राजनीति का क्षेत्र है । यदि उन विचारों का समाज-परिवर्तन की दिशा में उपयोग किया गया होता तो हजारों साल की गुलामी की वजह से उदासीन बने हुए भारतीय मानस में सांस्कृतिक चेतना और गौरव को तेजस्वी बनाया जा सकता था। किन्तु आज धर्म के नाम पर मन्दिर-मस्जिद और संस्कृति के नाम पर नाच-गाने और सिनेमा का बोलबाला है। इस कोलाहल में उन महनीय विचारों को कौन सुनता है ? जब बुद्ध और उनके विचार नहीं तो वह भारतीयता कहाँ, जो मानवजाति की पीड़ा की वाणी बन सके। जब भारतीयता नहीं तो जातिवाद, ऊँच-नीच, भाषावाद, क्षेत्रवाद, अलगाव, नफरत और अनेकता आदि क्यों नहीं पनपेंगे ? इसे इतिहास का व्यंग्य ही कहा जा सकता है। फिर भी हमें आशा और उत्साह की किरण भी दिखलाई देती है। क्योंकि यह विस्मृति हमारी है और इसमें परिवर्तन लाया जा सकता है।

*

आवरण और आवरणों का प्रहाण

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी
शोध-आचार्य
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी - २२१००७

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन का चरम उद्देश्य या परम पुरुषार्थ मोक्ष या निर्वाण ही माना गया है, व्यक्ति राग, द्वेष, मोह, आदि क्लेशों के वशीभूत होकर कर्म करता है और उन कर्मों की वजह से जन्म, जरा, व्याधि आदि नाना प्रकार के दु:ख उत्पन्न होते हैं। क्लेश, कर्म और जन्म की इस दु:खमय परम्परा का सर्वथा निरोध ही बौद्ध दृष्टि में निर्वाण है। इस दु:ख से उद्विग्न होकर जब व्यक्ति उपाय द्वारा शीघ्रातिशीघ्र उसका प्रहाण कर निर्वाण में विलीन हो जाता है तो उसका यह निर्वाण नितान्त व्यक्तिगत होता है। सभी बौद्धेतर भारतीय दर्शनों में हीनयानी बौद्धों में इसी प्रकार का निर्वाण मान्य है।

इससे भिन्न भी एक निर्वाण होता है, जिसे अप्रतिष्ठित निर्वाण कहते हैं। यही बुद्धत्व या सर्वज्ञत्व है। महायानी बौद्ध इसे ही प्राप्त करना चाहते हैं। करुणा और प्रज्ञा ही इसकी प्राप्ति के प्रधान उपाय हैं। अप्रतिष्ठित निर्वाण प्राप्त व्यक्ति प्रज्ञा के कारण न तो सांसारिक दोषों से लिप्त होता है और न शम अर्थात् निर्वाण मे विलीन होता है, अपितु लोक का कल्याण करने के लिए तथा सबको दु:ख से मुक्त करने और सुख से अन्वित करने के लिए जब तक संसार है, तब तक स्थित रहता है। उसकी दृष्टि में संसार एक अन्त (छोर) है और निर्वाण दूसरा अन्त। वह इन दोनों अन्तों का परिहार (त्याग) करके मध्य में स्थित होता है। वस्तुत: उसने प्रारम्भ में ही "मैं सभी प्राणियों को दु:ख से मुक्त करने के लिए बुद्धत्व प्राप्त करुँगा" इस प्रकार का संकल्प लिया था, अब यदि वह निर्वाण में विलिन हो जाता है तो अपने संकल्प की पूर्ति कैसे सम्भव होगी। अत: वह निर्वाण में विलीन नहीं होता।

वस्तुत: व्यक्तित्व का विकास समाज में ही सम्भव है। उसके विकास में प्राय: सभी का योगदान होता है। अत: उसके उपर सभी का ऋण होता है। अब यदि व्यक्ति सभी प्राणियों को दु:ख की अवस्था में ही छोड़कर अकेले निर्वाण प्राप्त कर लेता है तो यह एक प्रकार की कृतघ्नता ही होती है और एक प्रकार से स्वार्थ का

ही व्यापार सिद्ध होता है । अत: बुद्धत्व-प्राप्त व्यक्ति संसारपर्यन्त स्थित रहते हुए उन्हें दु:ख से मुक्ति के उपाय की देशना करता रहता है । उसकी इस प्रकार की सोच वस्तुत: सार्वभौम उत्तरदायित्व की भावना का ही निदर्शन है ।

महायानियों के अनुसार सभी प्राणियों में बुद्धत्व के बीज निहीत होते हैं । सभी में बुद्धत्व प्राप्ति की योग्यता होती है । एक न एक दिन सभी को बुद्धत्व प्राप्त करना ही हैं। वास्तव में सभी प्राणी बुद्ध ही हैं, किन्तु आवरणों से मलिन होने के कारण उनका बुद्धत्व छिपा रहता है, उसका आभास या अनुभूति नहीं होती । आवरणों को हटा दिया जाए तो सभी प्राणी बुद्ध ही हैं ।

प्राणियों में दो प्रकार के आवरण होते हैं—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण । इन आवरणों की वजह से उनमें निहित वह बुद्धबीज अंकुरित नहीं हो पाता । इसलिए बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए इनका प्रहाण परम आवश्यक है और यह प्रहाण भी सम्यग् ज्ञान द्वारा ही सम्भव है । अत: यहाँ निम्नलिखित चार बिन्दुओं पर विचार किया जा सकता है—

१. आवरण का स्वरूप
२. आवरणों के प्रहाण का क्रम
३. सम्यग् ज्ञान का विकास
४. सम्यक् संबोधि की सिद्धि

१. आवरण का स्वरूप

(क) श्रावक ज्ञान :—ज्ञात है कि निर्वाण ही श्रावकयानियों का चरम लक्ष्य है। अविद्या ही संसार का मूल है। अविद्या की वजह से ही राग, द्वेष आदि सभी प्रधान क्लेश उत्पन्न होते हैं। ये क्लेश ही क्लेशावरण हैं और ये ही निर्वाण की प्राप्ति में प्रमुख बाधक हैं। स्थविरवादी, वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि श्रावकयानियों के मतानुसार एक ही आवरण होता है और वह 'क्लेशावरण' है।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों का समूह ही बौद्ध मत के अनुसार 'व्यक्ति' है । इनसे अतिरिक्त उसमें किसी नित्य आत्मा की कल्पना करना 'पुद्गलात्मदृष्टि' हैं । यह आत्मदृष्टि ही अविद्या हैं। यह नितान्त मिथ्या है, क्योंकि इसका विषय पुद्गल या आत्मा सर्वथा नहीं हैं। यही अविद्या मोक्ष (निर्वाण) प्राप्ति में बाधक हैं। अत: निर्वाण प्राप्ति के लिए इसका प्रहाण आवश्यक होता हैं ।

(ख) महायान :—यह आत्मदृष्टि (अविद्या) भी दो प्रकार की है—पुद्गलात्म-दृष्टि और धर्मात्मदृष्टि । पुद्गलात्मदृष्टि का स्वरूप ऊपर कहा गया है। बाह्य और

आन्तरिक पदार्थों की सत्ता मानना या बाह्य पदार्थों की सत्ता के प्रति अभिनिवेश (आग्रह) रखना 'धर्मात्मदृष्टि' हैं। यह क्लिष्ट अविद्या है। यद्यपि यह मोक्ष की प्राप्ति में बाधक नहीं है, फिर भी जब तक यह रहती है, तब तक ज्ञान सभी विषयों में अनासक्त और अप्रतिहत रूप से प्रवृत्त नहीं हो पाता। अर्थात् ज्ञान अखण्ड और व्यापक नहीं हो पाता। व्यक्ति सर्वज्ञ या बुद्ध नहीं हो पाता। अत: बुद्धत्व प्राप्ति के अभिलाषियों के लिए इसका प्रहाण भी आवश्यक होता है। योगाचार और माध्यमिक दर्शन में इसके स्वरूप के बारे में फर्क है। अत: उसे दिखाया जा रहा है।

(अ) योगाचार मत :—इनके मत के अनुसार क्लेशावरण का स्वरूप प्राय: वैसा ही है, जैसा ऊपर कहा गया है। अर्थात् अविद्या आदि क्लेश ही क्लेशावरण है, उन में सत्कायदृष्टि (पुद्गलात्मदृष्टि) प्रमुख है। सत्कायदृष्टि ही संसार का मूल है और उसी से अन्य सारे क्लेश उत्पन्न होते हैं। बीज सहित क्लेशों के प्रहाण से मोक्ष प्राप्त होता है और मोक्ष प्राप्त व्यक्ति 'अर्हत्' कहलाता है। पाँच स्कंधों से अतिरिक्त नित्य एवं स्वतन्त्र आत्मा की अवधारणा पुद्गलात्मदृष्टि है। यद्यपि अविद्या के स्वरूप के बारे में योगाचार विद्वानों में कुछ आपसी मतभेद हैं, किन्तु सूक्ष्म चर्चा का यहाँ अवसर नहीं है।

ज्ञान से भिन्न पदार्थों की सत्ता मानना अथवा ग्राह्य और ग्राहक (ज्ञान और ज्ञेय) दोनों की पृथक्-पृथक् द्रव्यसत्ता मानना योगाचार मतानुसार धर्मात्मदृष्टि है। यह धर्मात्मदृष्टि और उसके बीज 'ज्ञेयावरण' हैं। यह धर्मात्मदृष्टि सर्वज्ञता की प्राप्ति में प्रमुख बाधक है। मोक्ष प्राप्ति में यह बाधक नहीं है। इसके रहते भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

पुद्गल (आत्मा) वस्तुत: नही है, यह ज्ञान पुद्गलनैरात्म्यज्ञान कहलाता है। इससे पुद्लात्मदृष्टि का प्रहाण होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञान से भिन्न पदार्थों की अथवा ग्राह्य और ग्राहक की पृथक् सत्ता नहीं है, ऐसा ज्ञान धर्मनैराम्यज्ञान कहलाता है और इस ज्ञान से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। बुद्धत्व प्राप्ति के अभिलाषी साधक को भी पुद्गलात्मदृष्टि का पहले प्रहाण करना आवश्यक होता है।

(आ) माध्यमिक मत :—माध्यमिक भी दो प्रकार के हैं—स्वातन्त्रिक माध्यमिक और प्रासंगिक माध्यमिक। अब इनके मतानुसार आवरणों के स्वरूप का विचार किया जा रहा है।

(i) स्वातंत्रिक माध्यमिक :—क्लेशावरण पुद्गलात्मदृष्टि और पुद्गलनैरात्म्यज्ञान का स्वरूप इनके मत में भी वैसा ही है, जैसा श्रावकमत और योगाचार मत के अवसर पर ऊपर कहा गया है। ज्ञेयावरण के स्वरूप में फर्क है। जिसे कहा जा रहा है।

समस्त बाह्य और यही आन्तरिक पदार्थों की परमार्थतः सत्ता मानना इनके मत में धर्मात्मदृष्टि है और यही ज्ञेयावरण है। यही सर्वज्ञत्व की प्राप्ति में प्रमुख बाधक है। वस्तुतः पदार्थों की परमार्थतः सत्ता नहीं हुआ करती। इस प्रकार का ज्ञान इनके अनुसार 'धर्मनैरात्म्यज्ञान' है और इसमे धर्मात्मदृष्टि या ज्ञेयावरण का प्रहाण होता है और व्यक्ति बुद्धत्व की प्राप्ति में समर्थ होता है।

(ii) प्रासङ्गिक माध्यमिक :—दोनों आवरणों का स्वरूप जैसा ऊपर कहा गया है, उससे सर्वथा भिन्न स्वरूप इस मत में माना जाता है। ऊपर दो प्रकार की आत्मदृष्टि (पुद्गलात्मदृष्टि और धर्मात्मदृष्टि) मानकर उनके आधार पर क्लेशावरण और ज्ञेयावरण की व्यवस्था की गई थी तथा पुद्गलनैरात्म्यज्ञान और धर्मनैरात्म्यज्ञान द्वारा उनके प्रहाण की बात कही गई थी। इस मत के अनुसार आत्मदृष्टि एक ही है और जब वह पुद्गल की स्वभावतः सत्ता का ग्रहण करती है तब पुद्गलात्मदृष्टि और जब वह वाह्य आन्तरिक पदार्थों की स्वभावतः सत्ता का ग्रहण करती है तो 'धर्मात्मदृष्टि' कहलाती है। अर्थात् ग्राह्य विषय की दृष्टि से इसके भेद की व्यवस्था की जाती है। स्वरूपतः वह एक ही है।

कहने का आशय यह है कि पुद्गल और धर्मों की स्वभावतः सत्ता का ग्रहण करने वाली दृष्टि ही आत्मदृष्टि है। यही सहज अविद्या है यह अविद्या और उसके बीज क्लेशावरण है।

प्रश्न है कि अविद्या और उसके बीज क्लेशावरण हैं तो इस मत में ज्ञेयावरण क्या है?

उपर्युक्त क्लेशावरण की वासना 'ज्ञेयावरण' है। यह ज्ञेयावरण बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व पूर्णतया विनष्ट हो जाता है। क्लेशों के समाप्त हो जाने पर भी उसकी वासना अवशिष्ट रह जाती है, जिसके प्रहाण के लिए अष्टम, नवम आदि महायान भूमियाँ प्रतिपक्ष के रूप में मानी जाती है। इसी वासना की वजह से समाहित अवस्था से व्युत्थित होने पर अर्थात् पृष्ठलब्ध अवस्था में आर्यों में भी द्वैताभास प्रवृत होता है, केवल समाहित अवस्था में द्वैताभास नहीं होता। बुद्धत्व अवस्था में तो किसी भी अवस्था में द्वैताभास नहीं होता। इससे पूर्व समाहित ज्ञान और पृष्ठलब्ध ज्ञान कमशः और पृथक्-पृथक् होते है। वासनाओं के पूर्णतया समाप्त हो जाने से बुद्धत्व की अवस्था में दोनों ज्ञान युगपद् (एक साथ) और अभिन्न रूप से प्रवृत्त होते हैं। यही बुद्धत्वावस्था की विशेषता है।

२. आवरणों के प्रहाण का क्रम

मार्ग पाँच होते हैं, यथा—सम्भार मार्ग, प्रयोग मार्ग, दर्शन मार्ग, भावना मार्ग और अक्षैक्ष मार्ग। इनमें प्रारम्भ के दो मार्ग पृथग्जन अवस्था के मार्ग हैं तथा

अन्तिम तीन आर्यमार्ग हैं। आवरणों के प्रहाण का क्रम दर्शन मार्ग से प्रारम्भ होता है और भावनामार्ग की अन्तिम अवस्था तक यह क्रम चलता रहता है।

बोधिसत्त्वों का आर्य मार्ग दर्शनमार्ग से प्रारम्भ होता है। महायान में १० आर्य भूमियाँ मानी जाती हैं, जो दर्शनमार्ग और भावना मार्ग में विभक्त होती हैं। प्रथम भूमि दर्शनमार्ग है तथा शेष ९ भूमियाँ भावना मार्ग हैं।

प्रथम भूमि से लेकर सातवीं भूमि तक क्लेशावरण का ग्रहाण होता है। आठवीं भूमि से ज्ञेयावरण का प्रहाण प्रारम्भ होता है। १०वीं भूमि का अन्तिम भाग 'वज्रोपमसमाधि' है। इसके द्वारा ज्ञेयावरण का अशेष प्रहाण हो जाता है। इस वज्रोपमसमाधि के दूसरे क्षण में बुद्धत्व या सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। योगाचार और स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत में यह व्यवस्था मान्य नहीं है। उनके मतानुसार दोनों आवरण दर्शन और भावना दोनों मार्गों द्वारा प्रहीण होते हैं।

३. सम्यग् ज्ञान का विकास

महायान मतानुसार संसार से विमुक्ति के लिए अथवा बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सभी पदार्थों की निःस्वभावता (शून्यता) का ज्ञान अपेक्षित होता है। इसे नैरात्म्यज्ञान भी कहते हैं। इस ज्ञान के अनेक स्तर होते हैं।

अज्ञान यद्यपि अनादि है, फिर भी वह शान्त होता है। अर्थात् उसका नाश होता है। सम्यग् अनुमान और प्रसंग-वाक्यों द्वारा सबसे पहले पदार्थों की स्वभाव सत्ता का निषेध किया जाता है। और निःस्वभावता का निश्चय किया जाता है, किन्तु यह ज्ञान सविकल्पक ही होता है। सविकल्पक होने पर भी मिथ्या नही होता, क्योंकि यह अपने विषय के प्रति अविसंवादक होता है। अर्थात् प्रवृत्त होने पर अपने विषय को प्राप्त कराने में समर्थ होता है।

तदन्तर उस ज्ञान की शमथ के साथ भावना करने पर क्रमशः ज्ञानगत कल्पनांश का प्रहाण होता है और अन्त में वह सविकल्प ज्ञान धारा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। उससे शून्यता का साक्षात्कार होता है। जब तक यह अवस्था नही आती, तब तक व्यक्ति 'पृथग्जन' कहलाता है और शून्यता के साक्षात्कारी इस ज्ञान के उत्पाद के साथ ही व्यक्ति 'आर्य' कहलाने लगता है। आर्य अवस्था के भी अनेक स्तर होते है, जिनमें ज्ञान का सामर्थ्य भिन्न-भिन्न होता है।

बुद्धत्व प्राप्ति से पहले ज्ञान की अवस्था :—बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व दो अवस्थाएँ होती हैं—पृथग्जन अवस्था और आर्य अवस्था। बुद्ध भी आर्य हैं, किन्तु बुद्ध में आर्य की अपेक्षा गुणों की दृष्टि से अनेक विशेषताएँ होती हैं।

बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व जो ज्ञान निःस्वभावता को प्रत्यक्षतः जानता है, वह घट आदि जागतिक पदार्थों को प्रत्यक्षतया नहीं जानता और जो ज्ञान जागतिक पदार्थों को प्रत्यक्षतः जानता है, वह निःस्वभावता को प्रत्यक्षतया नही जानता। कहने का आशय यह है कि कोई भी एक ज्ञान दोनों में से एक को ही जानता है।

घट आदि जागतिक पदार्थों का साक्षात्कारी ज्ञान 'यावत् ज्ञान' तथा निःस्वभावता का साक्षात्कारी ज्ञान 'यथार्थ ज्ञान' कहलाता है। यथार्थ ज्ञान ही 'समाहित ज्ञान' और यावत् ज्ञान ही 'पृष्ठलब्ध ज्ञान' भी कहलाता है। बुद्ध के अलावा अन्य आर्यों में ये दोनों ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होते है, एकसाथ नहीं।

समाहित ज्ञान में शून्यता के अलावा किसी अन्य का आभास नहीं होता, यहाँ तक कि स्वयं अपना आभास भी नही होता। यद्यपि समाहित ज्ञान मे जागतिक पदार्थों का आभास नही होता, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है। कि वह उनका निषेध करता है।

४. सम्यक् सम्बोधि की सिद्धि

बुद्धत्व अवस्था के ज्ञानों की स्थिति ऊपर कहे गये आर्यों के ज्ञानों की स्थिति से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। इस अवस्था में समाहित ज्ञान और पृष्ठलब्ध ज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं अपितु एकसाथ प्रवृत्त होते हैं। एक ही ज्ञान दोनों रूपों में होते है। अर्थात् बुद्ध का एक ही ज्ञान शून्यता को और जागतिक पदार्थों को एकसाथ प्रत्यक्षतः जानता है।

जब बुद्ध का ज्ञान घट आदि पदार्थों की निःस्वभावता का साक्षात्कार करता है, उस समय बुद्ध के ज्ञान में उन (घट आदि) की सस्वभावता का प्रतिभास होना युक्तिसंगत नहीं है। किन्तु यदि सस्वभावता का प्रतिभास नहीं होता है जो बुद्ध के ज्ञान में घट आदि का भी प्रतिभास नही होता, यह निश्चित है। ऐसी स्थिति में कैसे वह ज्ञान घट आदि का साक्षात्कार करता है? यह एक प्रश्न है। इसलिए बुद्धज्ञान निःस्वभावता का और घट आदि पदार्थों का एकसाथ साक्षात्कार करता है, यह आपका उपर्युक्त सिद्धान्त निश्चित ही युक्तिसङ्गत नहीं है। यह एक स्वाभाविक प्रश्न है।

कुछ लोगों के मतानुसार बुद्धज्ञान घट आदि पदार्थों को नही ही जानता है, क्योंकि घट आदि पदार्थ मिथ्या है और बुद्धज्ञान मिथ्या पदार्थों को कैसे जान सकता है? बुद्ध तो हमेशा सत्य को ही जानता है। कुछ लोगों का कहना है कि बुद्ध की अवस्था में कोई ज्ञान ही नही होता। इन लोगों के मतानुसार बुद्ध की क्षयावस्था और विषय की क्षयावस्था ही बुद्धावस्था है ?

उपर्युक्त विप्रतिपत्तियों का समाधान :—घट की सत्ता और घट की स्वभावतः सत्ता—इन दोनों में भेद को नहीं जानने के कारण ही उपर्युक्त शङ्काएँ उत्पन्न होती हैं। हमने पहले कहा है कि घट आदि की निःस्वभावता का तात्पर्य यह नहीं है कि घट आदि ही नही हैं। क्योंकि घट आदि वस्तुतः निःस्वभाव हैं, अतः बुद्धज्ञान उनकी निःस्वभावता को जानता है। वह (बुद्धज्ञान) घट आदि को भी जानता है, क्योंकि उनका अस्तित्व होता है। घट आदि पदार्थ खपुष्प के समान सर्वथा अलिक नहीं है। जिनका स्वरूप जैसा है, बुद्धज्ञान उन्हें वैसा जानता है।

यह कथमपि तर्कयुक्त नहीं है कि जो मिथ्या है, उसे बुद्धज्ञान नहीं जानता। जो मिथ्या है, उसे बुद्धज्ञान मिथ्या के रूप में जानता ही है। बुद्धज्ञान यह भी जानता है कि घट आदि पदार्थ पृथग्जनों के ज्ञान में किस प्रकार प्रतिभासित हो रहे हैं। यद्यपि उनकी वैसी सत्ता नहीं है जैसे वे उन्हें प्रतिभाषित हो रहे है, क्योंकि वे सर्वथा निःस्वभाव ही हैं। फिर भी बुद्ध के ज्ञान में मिथ्या का अवभास होना आवश्यक नहीं है। जैसे कोई चिकित्सक किसी रोगी को देखकर यह जानता है कि उस (रोगी) को कैसे पीड़ा हो रही है तथा उसमें कैसी विकृतियाँ उत्पन्न हो रही हैं, फिर भी उस चिकित्सक में वैसी पीड़ा या वैसी विकृतियों का होना आवश्यक नहीं है। इसी तरह बुद्धज्ञान यद्यपि पृथग्जनों के ज्ञान में प्रतिभासित होने वाली घट आदि की सस्वभावता को जानता है, फिर भी उस बुद्धज्ञान में घट आदि की सस्वभावता का प्रतिभास नहीं होता, अपितु निःस्वभावता का ही प्रतिभास होता है। यही बुद्ध अवस्था की विशेषता है।

बुद्ध अवस्था में कोई ज्ञान ही नहीं होता, इसलिए बुद्धि की क्षयावस्था ही बुद्धत्व की अवस्था है—ऐसा जो कुछ लोगों का कहना है, उसके बारे में हमारा कहना है कि यदि उनका अभिप्राय यह है कि बुद्धत्व की अवस्था में कोई विकल्पात्मक ज्ञान या सास्रव ज्ञान नहीं होता, तो इससे हमारा कोई विरोध नहीं है। हम इसे स्वीकार करते हैं, किन्तु यदि उसका तात्पर्य यह हो कि बुद्धत्व की अवस्था में किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होता तो यह हमें स्वीकार नहीं है, क्योंकि बुद्धत्व की अवस्था में अनास्रव, निर्विकल्पक एवं लोकोत्तर ज्ञान अवश्य ही होता है—ऐसी हमारी मान्यता है। यही ज्ञान बुद्ध का ज्ञानधर्मकाय है। यदि बुद्ध की अवस्था में कोई ज्ञान नहीं होगा तो सर्वज्ञ ज्ञान का भी अभाव हो जाएगा। फलतः महाबोधि की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले सभी प्रयास निरर्थक हो जाएंगे। इसलिए बुद्धिक्षय का सिद्धान्त सर्वथा अयुक्त है। इसी तरह उपर्युक्त विषयक्षय का सिद्धान्त भी नितान्त असंगत है। इससे सर्वज्ञ ज्ञान का अपवाद होता है। इसलिए इन कुदृष्टियों पर ध्यान देना आवश्यक है।

बुद्धत्व अवस्था का समाहित ज्ञान और पृष्ठलब्ध ज्ञान दोनों अभिन्न होते हैं। एक ही ज्ञान निःस्वभावता का साक्षात्कारी होने से समाहित ज्ञान तथा जागतिक पदार्थों का साक्षात्कारी होने से पृष्ठलब्ध ज्ञान होता है। यही बुद्ध के ज्ञान की विशेषता होती है, जो अन्य में नहीं होती। जो ज्ञान परमार्थ सत्य अर्थात् शून्यता तथा संवृति सत्य अर्थात् घट आदि जागतिक पदार्थों को एकसाथ प्रत्यक्ष रूप से जानता है, वही 'सर्वज्ञ ज्ञान' कहलाता है। यही ज्ञान महाबोधि या सम्यक् संबोधि है और यही बुद्ध का ज्ञानधर्मकाय है। विनेय जनों को उपदेश देते समय भी बुद्ध समाहित ही होते हैं। उनकी समाहित अवस्था हमेशा अक्षुण्ण ही रहती है। इसीलिए उनकी स्तुति में कहा गया है—

य आस्ते सदा योगिनां चक्रवर्ती ।
स बुद्धः प्रबुद्धोऽस्तु मे चित्तवर्ती ॥

✱

बौद्ध धर्म की आचार्य परम्परा और डॉ० भीमराव रामजी अम्बेडकर

प्रो० संघसेन सिंह
अभ्यागत आचार्य, बौद्ध विद्या केन्द्र, गुरुगोविन्द सिंह भवन,
पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला (पंजाब) - १४७००२

आज के व्याख्यान का विषय है बौद्ध धर्म की आचार्य परम्परा और भीमराव राजजी अम्बेडकर। इसी को विस्तार से कहें तो इसका अर्थ होगा—बौद्धों की आचार्य परम्परा प्रारम्भ कैसे आजतक, इसमें किसे-किसे 'बौद्ध धर्म के आचार्य' कहा जा सकता है और क्यों? आचार्य की परिभाषा और प्रयोग आचार्यत्व क्या है? क्या भीमराव रामजी अम्बेडकर को 'बौद्ध धर्म का आचार्य' कहा जा सकता है, क्या उस आचार्यत्व का काल-प्रमाण निर्धारित किया जा सकता है? आदि-आदि।

आचार्य पद की परिभाषा

सबसे पहले 'आचार्य' पद की परिभाषा करने की आवश्यकता है। आचार्य किसे कहते हैं? आधुनिक भारतीय भाषाओं (उत्तरी भारत की) और खासकर हिन्दी में आचार्य शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। उनमें से चार की ओर स्पष्ट संकेत किया जा सकता है।

बौद्ध विनय में संघ के सन्दर्भ में दो पद बनाये जाते थे—आचरिय और उपज्झाय। ये दोनों पद संघ में प्रवेश पाने के इच्छुक नवागन्तुकों और सामणेरों (सं० श्रावणेर की शिक्षा और ट्रेनिंग के लिए बनाये जाते थे। संघ का सदस्य ही 'आचरिय' और 'उपज्झाय' बनने की अर्हता रखता है । उपासक उपासिका, सामणेर और सामणेरी आचरिय और उपज्झाय के पदों पर नही नियुक्त किये जा सकते। साथ ही परम्परागत विनयनियमों के अनुसार कोई भिक्खुणी भी 'आचरिया' या 'उपज्झाया' नहीं बन सकती। आचरिय और उपज्झाय पद सिर्फ पुरुषों के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। बुद्ध शासन के प्रारंभिक दौर में नवागन्तुकों को भी संघ में प्रवेश मिल जाता था। कालान्तर में 'परिवास' की व्यवस्था की गई। इसके माध्यम से अवांछित तत्त्वों को प्रवेश से रोका जाता था और जो कालान्तर में प्रवेश के लायक बनाये जा सकते थे उनकी शिक्षा और ट्रेनिंग की जिम्मेदारी संघ की होती थी। यह शिक्षा और ट्रेनिंग

आचरिय और उपज्झाय[१] दिया करते थे। योग्य भिक्षुओं के अभाव में एक ही भिक्षु को आचरिय और उपज्झाय दोनों पदों की जिम्मेदारी का वहन करना पड़ता है। किसी भी नवागन्तुक या सामणेर को शिक्षित और ट्रेनिंग याफ्ता (ट्रेन्ड) हो जाने पर बीस वर्ष की आयु पूरी करने पर, भिक्खु बनने लायक पाये जाने पर उपसम्पन्न किया जाता है, अर्थात् उसे भिक्खु बनाया जाता है, अन्य शब्दों में उसे संघ का सदस्य बनाया जाता है। यह 'आचरिय' का विनय सम्बन्धी अर्थ है।

प्राचीन धर्मों के सन्दर्भ में अलग-अलग धर्मों, मतों, सम्प्रदायों के नायक, नेता को आचरिय भी कहा जाता था । बुद्ध के समकालीन धार्मिक नेताओं के लिए—संघी, गणीं, गणचरियो, तित्थंकरो आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है । कहीं-कहीं उनके लिए 'आचरिय-पाचरिय' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं । इस प्रकार बुद्ध के समकालिकों में पूरण कस्सप, अजित केसकम्बल, मक्खलि गोसाल, पकुधकच्चायन, संजयवेलट्ठिपुत्त और विगट्ठनातपुत्त का नाम पालि त्रिपिटक में बार-बार आया है । उस विशिष्ट अर्थ में वे आचरिय थे ।

तीसरा प्रयोग आज भारतीय भाषाओं में बड़ी प्रचुरता के साथ देखा जाता है । विश्वविद्यालयों और विशिष्ट महाविद्यालयों में अनेक विषयों में 'आचार्य' और 'उपाचार्य' के पद सृजित हैं । जो भी व्यक्ति पुरुष या स्त्री इन पदों पर नियुक्त होता है और कार्य करता है, 'आचरिय' कहा जाता है । ये शब्द अंग्रेजी के 'प्रोफेसर' शब्द का समानान्तर अर्थ देते हैं । अंग्रेजी में प्रोफेसर (Profecer) वह है जो 'प्रोफेस' करें अर्थात् किसी मत या वाद को प्रस्तुत करें ।

चौथा प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता था और आज भी किया जाता है। बौद्ध धर्म-दर्शन के सन्दर्भ में इस विशिष्ट अर्थ में आचरिय / आचार्य वह है, जिसने बुद्ध युग के बाद बौद्ध धर्म-दर्शन के बचाव में और अथवा प्रचार-प्रसार में उसके मूल या अवान्तर सिद्धान्तों की ऐसी तात्कालिक व्याख्या की हो, जो सद्धम / सद्धर्म को चिरस्थायी बनाने में मददगार हुआ हो और बौद्ध धर्म की झोली में विधर्मियों या तैर्थिकों को लाने में सफल हुआ हो । जब जब बौद्ध धर्म पर संकट आया उस पर तैर्थिकों के प्रहार हुए, उस उस समय संघ से ऐसे भिक्खु / भिक्षु आगे बढ़कर धर्म और समाज के सामने आये और अपनी नई व्याख्या और संगठनात्मक गतिविधयों से ऐसा कार्य किया जिससे धर्म की परिहानि रुकी, संघ में विघटन थमा और फलत: बौद्धों (उपासकों व प्रव्रजितों) में नया जोश जागा और उसने सद्धम्म

१. प्रारम्भ में दोनों की ड्यूटी अलग-अलग होती थी । आचरिय प्राय: शिक्षा देता था और उपज्झाय अच्छे भिक्क्षु बनने की ट्रेनिंग । किन्तु बाद में अच्छे शिक्षित और ट्रेन्ड भिक्खुओं के अभाव में एक ही भिक्खु को दोनो पद पर नियुक्त कर किया जाता था ।

की कायापलट कर दी। यह 'आचरिय' शब्द का चौथा अर्थ है । भीमराव रामजी अम्बेडकर इसी अर्थ में आचरिय / आचार्य थे । इस अर्थ में आचार्य उन्हीं को माना और कहा गया है, जिन्होंने बौद्ध धर्म जिया हो और उसे जीवन में उतारते हुए बौद्ध धर्म-दर्शन की कालानुगत व्याख्या प्रस्तुत की हो और उसे प्रयोग में उतारा हो।

कथित आचार्य-परंपरा में आचार्यत्व

इस व्याख्यान के शीर्षक में और पूरे व्याख्यान के पाठ में (Script) में आचार्य पद की इसी परिभाषा को ध्यान में रखा गया है। आचार्यत्व के इसी अर्थ को मद्देनजर रखते हुये बौद्ध धर्म-दर्शन का अनुशीलन करने वाला कोई भी व्यक्ति, जब बौद्ध धर्म के लम्बे इतिहास पर ध्यान देता है, तो उसे आचार्यों की एक लम्बी कतार या पंक्ति मिलती है । इस पंक्ति में केवल उन्हीं आचार्यों को रखा गया है, जो बुद्ध के परिनिब्बान के बाद प्रकाश में आये। इस सम्बन्ध में कोई भी व्यक्ति प्रश्न उठा सकता है कि बुद्ध के परिनिष्बान के पहले वाले महान साधकों और पंडितों को आचार्यों की श्रेणी में क्यों नहीं रखा गया, यद्यपि उनमें से कुछ बड़े प्रतिभावान् थे और बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में उनका महान् योगदान रहा है। इस प्रश्न के उत्तर में आज के व्याख्याता की दृष्टि में वे उस अर्थ में आचार्य नहीं थे जिसकी चर्चा पहले की गई है । वे प्रतिभावान् विचारक, प्रचारक और संघ के सक्रिय कार्यकर्ता थे, किन्तु बौद्ध धर्म-दर्शन की व्याख्या में उनका योगदान अलग से नुमायाँ होकर सामने नहीं आया है। उन्होंने जो सोचा व समझा और बौद्ध धर्म-दर्शन के बुनियादी दौर में उसे एक रूप देने में जो योगदान किया, वह गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रकाश में विलीन होता गया, सम्मिलित होता गया और बौद्ध धर्म-दर्शन के योग में (जोड़ में) इजाफा करता गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म-दर्शन के निखरने में उसका योगदान बेशक है; किन्तु उसमें हम एक-एक करके परत दर परत उघारते हुये यह नहीं कह सकते कि इनका धम्मसेनापति सारिपुत्र ने जोड़ा है, इतना ऋद्धि-विशेषज्ञ महामोग्गलान ने जोड़ा है, इतना महान् पंडित महाकच्चान ने जोड़ा है आदि आदि और अन्त में यह नहीं कह सकते कि इतना ही जो बच रहा है वह बुद्ध का अपना निजी योगदान है। बुद्ध तो सूर्य के समान प्रकाश फैलाते रहे और बाकी उपग्रह उस सूर्य के प्रकाश से आलोकित होते रहे। इस प्रकार उनके सहचिन्तकों का, उनके सहकर्मियों का, सुई-धागे से उनके चीवरों को सीने वाले, फटे चीवरों पर पेबन्द लगाने वाले भिक्खुओं का एक गाँव से दूसरे गाँव को जाते समय रास्ता बताने वाले राहगीरों का और इसी प्रकार अन्य सभी का थोड़ा बहुत आनुपातिक योगदान है, उस समूचे सद्धम्म की मीनार खड़ा करने में, पर वह सब उस एक महान् व्यक्तित्व की

देख-रेख में उसके निर्देशन में हुआ, अत: उस सब पर बुद्ध की छाप है, उनकी मुहर है। हाथी घूमे सारा गाँव, जिसका हाथी उसका गाँव (नाम) वाली कहावत् को चरितार्थ करते हुए बुद्ध के जीवन-काल में जो भी संघ में हो रहा था, वह सब बुद्ध के नाम पर था। बुद्ध के बड़े से बड़े प्रतिभावान् शिष्यों में से किसी का भी कोई अलग से खाता नहीं खुला था। भगवान् बुद्ध के परिनिब्बान के बाद की स्थिति उनके जीवन-काल की स्थिति से भिन्न थी। उस समय जब-जब बौद्ध धर्म पर संकट आया, वह चाहे विधर्मियों के प्रहार के कारण रहा हो, या उसकी अपनी अन्दरूनी कमजोरियों के कारण प्रतिभावान् बौद्ध भिक्खु सामने आये और उन्होंने अपना पूरा योगदान किया। उस सम्बन्ध में उन्होंने जो जो कदम उठाये, जो जो कार्य किये और उसके साथ सद्धम्म को लोगों तक पहुँचाने के लिए जो जो उसकी व्याख्यायें की, वह सब उनका अपना योगदान था और वह उनके खाते में अंकित हुआ। उसी का लेखा-जोखा लेने के लिए यह आज का व्याख्यान है। इस अवसर पर उन तमाम आचार्यों में से कुछ प्रमुख के नामों का उल्लेख मात्र करते हुये और कुछ कें योगदान को सांकेतिक भाषा में व्यक्त करते हुये भारत के क्षितिज पर उदित उन महान् आचार्य की चर्चा की जायेगी, जिन्होंने बीसवीं सदी ईसवी के उत्तरार्ध को अपने प्रकाश से आभासित किया और १९९३ ईसवी में हुये अपने परिनिब्बान[१] के बाद आज इक्कीसवीं सदी के पूर्वार्ध को भी आभासित कर रहें है और आज के व्याख्याता के अनुसार उनके प्रकाश से सदियाँ पर सदियाँ तब तक प्रकाशित होती रहेंगी, जब तक कि उनके समान प्रतिभावान् दूसरा आचार्य प्रकट नहीं हो जाता।

भगवान् बुद्ध के परिनिब्बान के समय और उसके तुरन्त बाद के परिदृश्य पर दृष्टिपात करने पर 'आचार्यत्व' की परिभाषा और भी निखर कर सामने आती है।

---

१. निब्बान और परिनिब्बान की परंपरावादी परिभाषा से भिन्न परिभाषा के अनुसार। यह भिन्न परिभाषा भारतीय दलित बौद्धों में प्रचलित है। किसी भी दलित बौद्ध नेता के निधन पर उसे निस्बुल कहा जाता है और भीमराव अम्बेडकर और कांशीराम के निधन को परिनिब्बान महापरिनिब्बान कहा जाता है। परंपरागत बौद्ध धर्म की परिभाषाओं के अनुसार डॉ० अम्बेडकर के देहान्त को परिनिब्बान या महापरिनिब्बान नहीं कहा जा सकता। वे एक गृहस्थ उपासक के रूप में गुजरे, अत: उनके निब्बान या परिविब्बान का प्रश्न ही नहीं उठता। आधुनिक भारत में अम्बेडकरवादी बौद्धों और भारत सरकार के हैंडबिलों, निमंत्रनणपत्रों तथा अन्य दस्ता = वेजों में उस घटना को महापरिनिब्बान बताया जाता है। इसे जन सामान्य का उद्रेक ही कहा जा सकता है, जो संभवत: समय के साथ धार्मिक मान्यता भी बन जाये। किन्तु इतना अवश्य कहना पड़ता है कि इससे गौतम बुद्ध का कद घटा है और डॉ० भीमराव अम्बेडकर का कद बड़ा है। क्योंकि आज-तक के बौद्ध धर्म के इतिहास में 'महापरिनिब्बान' शब्द केवल भगवान् बुद्ध ने शरीरान्त के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इस परिभाषा के तहत बृद्ध प्रव्रजित भिक्खु सुभद्द[१], जिसके वचनों ने बौद्ध धर्म का इतिहास बदल दिया और भदन्त पुराण[२] जिसके वचनों से हमें बुद्ध-वचन के एक से अधिक पाठों या संस्करणों का संकेत मिलता है, को आचार्य नहीं मान सकते। यह सही है कि वे बहुत बड़ी घटनाओं के कारक बने, पर बौद्ध धर्म के स्थायित्व में, उसके प्रचार-प्रसार में, उसकी कालोचित व्यारव्या करने में उनका योगदान प्राय: शून्य रहा है । यहाँ पर टिप्पणी के तौर पर यह भी जोड़ देना उचित होगा कि ये दो नाम बानगी । (Semple) के तौर पर उल्लिखित हुए हैं, वस्तुत: उस प्रकार के अनेक भिक्खु रहे होंगे जिनके कमोवेश योगदान के विषय में बहुत कुछ कहा और लिखा जा सकता है, किन्तु साक्ष्यों के अभाव में ज्यादा कहना या लिखना अटकलबाजी ही मानी जायेगी । इन दोनों में से भदन्त पुराण[३] के बारे में इतना और जोड़ा जाना चाहिए कि वे बड़े प्रतिभावान् व प्रतिपन्न भिक्खु रहे होंगे । उनसे जुड़ी हुई एक शिष्य परंपराप रही होगी । प्रथम संगीति के समय राजगृह में अपने शिष्यों के साथ उनकी उपस्थिति से प्रश्न खड़ा होता है कि क्या उस संगीति में प्रवेश पाने के लिए या फिर अध्यक्ष पद या अन्य विशिष्ट पदों के लिए लाबीङ्ग हो रही थी । भदन्त पुराण के वचनों से यह भी ध्वनि निकलती है कि उन्होंने संगीति में प्रवेश पाये हुये भिक्खुओं (अरहन्तों) की योग्यता के विषय में आश्वस्त न होने के कारण उस प्रकार की बात कहीं होगी ।

प्रथम संगीति की सदस्यता और अध्यक्षता के विषय में आचार्य नरेन्द्र देव ने अपने प्रसिद्ध और टकसाली ग्रन्थ 'बौद्ध धर्म दर्शन' में विशेष टिप्पणी की है। उस टिप्पणी को इस व्याख्यानमाला से नजरन्दाज करते हुये इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि भदन्त महाकस्सप प्रतिभावान् और प्रतिपन्न भिक्खु थे। भिक्खु सुभद्द के कटु वचनों को सुनकर वे कार्यशील और गतिशील हुये होंगे और फलत: राजगृह में पहली संगीति बुलाई जा सकी। एक सूचना के अनुसार प्रथम संगीति भगवान् के परिनिब्बान के आठ महीने बाद बुलाई गई। आठ महीनों में संघ में और संघ के बाहर जो गतिविधियाँ हुई इसका अन्दाजा लगाया जा सकता है। किन्तु यहाँ उस बात को बताने का अवसर नहीं है। इतना सब इसलिये कहा या लिखा जा रहा है कि आचार्यों की वह सूची या लिस्ट कहाँ से शुरू की जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह लिस्ट भदन्त महाकस्सप से ही शुरू की जानी चाहिये। आचार्य नरेन्द्र देव[१] के अनुसार वरीयता में वे आठवें स्थान पर थे, पर आचार्यत्व के हमारे मापदंड में वे पहले स्थान पर आ जाते हैं। अत: उनका नाम पहले । जहाँ तक उनके योगदान का प्रश्न है भगवान् बुद्ध के परिनिब्बुत होने के बाद के बौद्ध संघ को प्रथम संगीति के लिये

१.　महापरिनिबान सूत्त में उनके वचनों को उद्धृत किया गया है । वे वचन हैं—

प्रेरित करना, उसके लिये स्थान और राजकीय संरक्षकत्व प्राप्त करना और इधर-उधर विखरे बुद्धवचनों का संगायन करा देना आसान काम नहीं था। वह वास्तव में बड़ा कठिन महान् और महयनीय कार्य था। उसे भदन्त महाकस्सप जैसा व्यक्तित्व ही करा सकता था।

आचार्यों की लिस्ट में दूसरे स्थान पर विदेहमुनि भदन्त आनन्द आते हैं। आनन्द जैसा प्रखर बुद्धि, मानवीय गुण सम्पन्न सद्धम के लिये समर्पित व्यक्तित्व पूरे संघ में विरल थे। उनकी स्मरण-शक्ति अप्रतिम थी। इसीलिये प्रथम संगीति की सदस्यता से उन्हें खारिज नहीं किया जा सका। तत्कालीन घटनाओं पर विचार करने से पता चलता है कि संघ का एक प्रबल वर्ग उनसे रुष्ट था और तरह-तरह के बहाने बनाकर उन्हें संगीति से बाहर रखना चाहता था। किन्तु आनन्द की सद्धम्म की पकड़ इतनी मजबूत थी कि उन्हें संगीति से दर-किनार नहीं किया जा सकता था। अत: बड़े नाटकीय ढंग से उन्हें संगीति के मंडप में बिठाया गया। उनका योगदान इस बात में था कि उन्होंने सद्धम्म के संगायन में सबसे बड़ी भूमिका अदा की और उसे सही ढंग से प्रस्तुत कराया। प्रत्येक सुत्त या सूत्र में एवं मे सुतं अथवा एवं मयाश्रुतम्' में मे और मया का प्रयोग भदन्त आनन्द के लिये है।

आचार्यों की लिस्ट में तीसरे स्थान पर आते हैं भदन्त उपालि। शूद्रकुल में उत्पन्न होने पर भी भिक्खु उपालि की प्रतिभा अपने चरम बिन्दु पर पहुँच चुकी थी। इसका श्रेय वास्तव में बौद्ध संघ को जाता है। त्रिपिटक में वर्णित अनेक घटनाओं को जोड़कर देखने से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने उमड़कर आता है। शाक्यों में कुलाभिमान कूट-कूट कर भरा था, फिर भी उपालि के साथ प्रव्रज्यापेक्ष शाक्य युवकों में भगवान् बुद्ध ने सार्वभौम समता का भाव इस कदर भर दिया था कि उन्होंने स्वयं प्रस्ताव किया कि उपालि को पहले प्रव्रज्या-उपसंपदा दी जाय ताकि वह उन सबके लिये प्रणम्य बन जाय। शाक्य युवकों का यह त्याग अपूर्व था एक शूद्रकुलोत्पन्न भिक्खु का अपने को उस पद और सम्मान के योग्य बनाये रखना। विनय के संगायन में भदन्त उपालि की वैसी ही भूमिका थी जैसी भदन्त आनन्द की धम्म के विषय में विनय की अनेक गुत्थियों को उन्होंने खोल-खोल कर रख दिया था। इस बात का सबूत भिक्खु विभंग और भिक्खुनिविभंग के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। भदन्त उपालि के योगदान के विषय में आज के व्याख्याता के एक श्लोक के प्रथम दो चरणों का प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा—

यः[१] शाक्यसिंहैः कृपया प्रवर्तिनो
ह्युपालिथेरैर्विनयोऽभिवर्धितः ।

१. यहाँ पर यः का प्रयोग विनय के लिये हुआ है।

दूसरी और तीसरी संगीतियों का आयोजन करने वाले और उनकी अध्यक्षता करने वाले सुयोग्य भिक्खु भदन्त और भदन्त मोग्गलिपुत्ततिस्स आचार्यों की लिस्ट में चौथे और पाँचवे स्थान पर आते हैं। उनका योगदान इस बात में है कि विनय और धम्म के विषय में उठे विवादों को उन्होंने सुलझाया। उनके इन कार्यों से सद्धम्म बहुत आगे बढ़ सका।

छठे स्थान पर भदन्त नागसेन आते हैं। राजा मिनांडर (मिलिन्) के काल में जब बौद्ध धर्म में अनेक विसंगतियाँ उभड़ कर सामने आने लगीं थीं उस समय भदन्त नागसेन ने अपनी प्रखर बुद्धि से उन विसंगतियों का परिहार किया और विधर्मियों के बढ़ते प्रभाव से सद्धम्म को बचाया। उनकी अमरकृति मिलिन्दपञ्हो से उनके योगदान का समुचित अनुमान लगाया जा सकता है।

बौद्ध धर्म के लम्बे इतिहास में अनेक आचार्य हुये भदन्त नागसेन के पहले भी और बाद में भी। उन सबको सूचीबद्ध कर पाना कठिन ही नहीं संभवत: असंभव भी है। भारत में बौद्ध धर्म से जुड़े कुछ प्रमुख आचार्यों के नामों का उल्लेख करते हुये अन्तिम आचार्य बाबा साहेब डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर पर समाप्त करने की योजना है इस व्याख्यान माला में। भदन्त नागसेन् के बाद के आचार्यों में जो प्रमुख हैं, उनके नाम हैं—आचार्य नागार्जुन, आर्यदेव, अश्वघोष, आर्य कात्यायनीपुत्र, घोषक, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, पद्मसंभव, दीपकर श्रीज्ञान...........अ नागारिक धम्मपाल, धम्मानन्द, कोसम्बी, भिक्खु जगदीस कस्सप, बाबासाहेब भीमराव रामजी अम्बेडकर, चौदहवें दलाईलामा भदन्त ग्यत्सो तेन्ज़िग और अग्रउपासक जगन्नाथ उपाध्याय।

आज के व्याख्यान के शीर्षक के अनुसार भीमराव रामजी अम्बेडकर के आचार्यत्व पर विचार करना अभी शेष है। बौद्ध धर्म में आचार्यत्व की जो परिभाषा हमने निर्धारित की है थोड़े से पुनरुक्ति दोष को नजरन्दाज करते हुये उसे संक्षेप में अधोलिखित शब्दों में रखा जा सकता है—

१. आचार्य वह है जो स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी हो, विचार और आचरण दोनों में बौद्ध हो। इस शर्त के अनुसार महापंडित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य नरेन्द्र देव आदि का नाम बौद्ध आचार्यों की लिस्ट में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि जीवन के अधिकांश भाग में बौद्ध व बौद्ध समर्थक होते हुये भी वे मार्क्सवादी हो गये थे।

२. जो बौद्ध धर्म के बचाव, संरक्षण, प्रचार-प्रसार आदि में लगा रहा हो या लगा हो और इन कार्यों के संपादन में नई और कालोचित व्याख्या/व्याख्यायें प्रस्तुत की हो।

३. वह बचाव, संरक्षण, प्रचार-प्रसार और कालसंगत व्याख्या/व्याख्यायें इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण हों कि उनका प्रभाव उस युग विशेष में और बाद के युगों में पड़ता हुआ नजर आता हो।

ऊपर दी हुई तीनों शर्तें भीमराव रामजी डॉ. अम्बेडकर पर शत प्रतिशत घटित होती हैं। अत: प्रस्तुत व्याख्याता की दृष्टि में भीमराव अम्बेडकर बौद्ध धर्म के उसी कोटि के आचार्य थे, जिस कोटि के नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, पद्मसंभव आदि हुये हैं।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के जीवन वृत्त पर दृष्टिपात करते समय कुछ घटनाओं को मील का पत्थर मानना पड़ता है। उन घटनाओं में येवला कांफ्रेन्स, नासिक की वह घटना भी है, जिसमें अछूतों की एक बड़ी सभा में उन्होंने घोषणा की थी—'मैं हिन्दू परिवार में पैदा हुआ यह मेरे वश के बाहर था, मैं हिन्दू के रूप में नहीं मरूँगा, यह मेरे वश में है।'[१] अपने इस संकल्प पर उन्होंने वर्षों मनन-चिन्तन किया, अपने विश्वसनीय अनुयायियों से सलाहमशविरा किया, अनेक धर्मों के प्रतिनिधियों के प्रस्तावों पर विचार-विमर्श किया, किन्तु सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक कार्यों में व्यस्तता के कारण काफी समय तक कोई निर्णय नहीं ले पाये। या फिर दूसरे शब्दों में यों कहें कि मानसिक रूप में बौद्ध धर्म के प्रति उन्मुख होते हुये भी किन्हीं कारणों से उस तथ्य को व्यक्त नहीं कर पाये। इस बीच उन्होंने बौद्ध धर्म-दर्शन का गहन अध्ययन भी किया, समय-समय पर बौद्ध धर्म के प्रति अपनी रुझान को परोक्ष रूप में व्यक्त भी किया। ऐसा प्रतीत होता है कि १९४८-४९ ईसवीं में उनका निश्चय पूरा हो गया था और उन्होंने बौद्धों के लिये एक बाइबिल जैसा ग्रन्थ (बौद्ध बाइबिल) लिखने की योजना बनाई और उस कार्य में लग गये। १४ अक्टूबर १९५६ ईसवी को नागपुर की विशाल-सभा में अपने पाँच लाख अनुयायियों के साथ वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हुये। उसके बाद ६ दिसंबर १९५६ ईसवी तक उन्होंने सद्धम्म का प्रचार-प्रसार किया और उसी दिन उनका शरीरान्त हो गया, अम्बेडकर वादियों के अनुसार उनका परिनिब्बान हो गया।

डॉ. अम्बेडकर के आचार्यत्व की खूबियाँ

डॉ. अम्बेडकर अपने जीवनकाल में मौजूद बौद्ध धर्म और उसकी गतिविधियों से सन्तुष्ट नहीं थे। फिर भी उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना और अपने अनुयायियों का 'धम्म' बनाया, यह उनकी विशेषता थी। इससे उनके विवेक और आत्मविश्वास

१. डी. एल. रामटेके, रिवाइवल आफ बुद्धिज्य इन माडर्न इण्डिया, नई दिल्ली, १९८३ पेज ३२

(Confidence) पर भी प्रकाश पड़ता है, जिसके वे धनी थे। उन्हें विश्वास था कि एक बार अपने अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर वे उसमें ऐसा यथोचित परिवर्तन ला सकेंगे कि अर्धमृत अवस्था में पड़ा हुआ वह भारत का एक सबल धर्म बन जायेगा।

इस दिशा में डॉ. अम्बेडकर ने सक्रिय कदम उठा रखा था। बौद्ध धर्म के नये स्वरूप को प्रस्तुत करके डॉ. अम्बेडकर भारतीय समाज में सामाजिक बदलाव चाहते थे। इस सम्बन्ध में वे तीन कार्य परमावश्यक समझते थे—

१. बौद्ध बाइबिल या बाइबिल जैसे बौद्ध ग्रन्थ की रचना।
२. भिक्खु संघ के उद्देश्यों और स्वरूप में परिवर्तन और
३. एक विश्व बौद्ध मिशन कायम करना।

बौद्धों की बाइबिल के रूप में प्रसिद्ध डॉ. अम्बेडकर के अन्तिम ग्रन्थ 'गौतम बुद्ध और उनका धम्म' (The Buddhe and HG Dhamma) के तैयार करने में वे जीवन की अन्तिम साँस तक लगे रहे। इसीलिये उस ग्रन्थ का प्रकाशन उनके निधन के बाद हुआ। किन्तु इस बात की प्रसन्नता है कि वह ग्रन्थ ऐसा दस्तावेज है,जो पेज दर पेज उनके आचार्यत्व को प्रमाणित करता है, उजागर करता है।

उस महान् ग्रन्थ में बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर ने मुख्यतः चार सवाल उठाये हैं—१. बोधिसत्त्व सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण का मूल कारण, २. चार आर्यसत्यों का बुद्ध-वचनत्व, ३. अनात्म, कर्म और पुनर्जन्म (पुनर्भव) के सिद्धान्तों की बुद्धिवादी समीक्षा और ४. भिक्खु-जीवन का वास्तविक उद्देश्य और लक्ष्य।

डॉ. अम्बेडकर ने सबसे पहले बुद्ध के प्रारम्भिक जीवन की जब वे राजकुमार थे मुख्य घटना को लिया है। उनकी दृष्टि में सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण के वे कारण जो पारम्परिक बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं, असत्य और अविश्वनीय हैं। चार निमित्तों वृद्ध, रोगी, शव और परिव्राजक के दर्शन से उनमें विराम जागा और उन्तीस वर्ष की आयु में उन्होंने गृह (महल, प्रासाद) त्याग किया यह बात बुद्धि-संगत और तर्कपूर्ण नहीं लगती। इसके पहले भी उन्होंने ऐसे सैकड़ों दृश्य देखे होंगे। यह बात बेतुकी लगती है कि सिद्धार्थ ने ऐसे दृश्य जीवन में पहली बार देखा था जैसा कि परंपरागत वर्णनों से मालूम होता है।

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार शाक्यों और कोलियों (सिद्धार्थ पिता की ओर से शाक्यों से जुड़े थे और माता की ओर से कोलियों से) में रोहिणी नदी के पानी के

बँटवारे को लेकर विवाद चलता रहता था। सैन्य संघ के मुखिया ने कोलियों पर ऐसे भीषण युद्ध का प्रस्ताव रखा कि जिससे साल दर साल उठने वाले विवाद को जडमूल से उखाड़ फेंका जा सके। सैन्यसंघ के सदस्य होने के नाते सिद्धार्थ ने उसका ऐसा कड़ा विरोध किया कि युद्ध के टल जाने पर भी सिद्धार्थ को राज्य छोड़कर बाहर जाना पड़ा।

पूरे घटना-क्रम पर दृष्टिपात करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धार्थ के मस्तिष्क पर उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे युद्ध की समस्या को टकराव की समस्या मानने लगे। इस प्रकार युद्ध की समस्या का दायरा बढ़ता गया, जिससे अत्यन्त उद्वेलित होकर सिद्धार्थ ने टकराव और तद् जन्य दु:ख से मुक्ति का रास्ता ढूढ़ने लगे। फलत: उसके चिरस्थायी उपाय ढूढ़ने के प्रयोजन से उन्होंने गृहत्याग का रास्ता चुना और वे प्रवजित हो गये। तदनन्तर सिद्धार्थ मानवसमाज को सामाजिक टकराव से निजात दिखाने का रास्ता खोजने लगे।

डॉ० अम्बेडकर का दूसरा प्रश्न चार आर्य सत्यों के विषय में है। उन्होंने इनके बुद्ध वचनत्व पर सन्देह व्यक्त किया है। चार आर्य सत्यों को प्रसिद्ध इतिहासकार ए० एल० बासम भी बुद्ध-वचन नहीं मानते। उनके अनुसार तथा कथित प्रथम उपदेश, जिसे धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' कहा जाता है, बाद में जोड़ा गया था।

वास्तव में डॉ० अम्बेडकर को बुद्ध के प्रथम उपदेश के मूलपाठ पर ही सन्देह हो गया था, जिसकी देशना भगवान् ने आपकी नगरी के पूर्वी छोर पर किया था। उनका कहना है कि दु:ख की बात से अपने उपदेश का प्रारंभ करना ही सिद्ध करता है कि चार आर्यसत्यों की बात को बाद के आयार्यों ने बाहरी प्रभाव में आकर गढ़ी थी। गौतम बुद्ध जैसा आशावादी व्यक्ति अपनी शिक्षाओं की शुरुआत नैराश्यपूर्ण ढंग से नही कर सकता। उन चार सत्यों का नामकरण भी बाद के आचार्यों ने किया होगा। जिस अर्थ में उन सत्यों को 'आर्य' कहा गया, वह अर्थ भी आर्य शब्द में बाद में आरोपित किया गया। मज्झिम निकाय के अस्सलाखन सुत्त में 'अरिय' शब्द (मालिक) के अर्थ में प्रयुक्त है। वही उसका प्रारंभिक अर्थ रहा होगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि परंपरावादियों द्वारा प्रस्तुत चार आर्य सत्यों का सिद्धान्त भगवान् बुद्ध की मूल शिक्षा नहीं रही होगी। उनके अनुसार जन्म दुख है, जीवन दुक्ख है, मौत दुक्ख है, पुनर्जन्म या पुनर्भव दुक्ख है, तो कोई प्रश्न उठा सकता है कि फिर बचा क्या? सब कुछ तो दुक्ख हो गया। भगवान् बुद्ध का ऐसा मन्तव्य नहीं रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में दुक्ख का तत्त्वमीमांसीय अर्थ रहा होगा, किन्तु बाद में वह विशुद्ध लौकिक दुक्ख, तकलीफ, कष्ट आदि का

वाचक बन गया। .... सुत्त में भगवान् बुद्ध ने दरिद्रता । गरीबी[१] को दुक्ख का कारण बताया है।

डॉ० अम्बेडकर की तीसरी व्याख्या अनात्मवाद, कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म सिद्धान्त के विषय में है। इस बात पर प्राय: सभी विद्वान् एकमत है कि शाश्वत बाद और उच्छेदबाद के सन्दर्भ में बुद्ध ने न तो अपने को और नही अपने अनुयायियों को शाश्वतवाद की श्रेणी में रखा और न उच्छेवाद की श्रेणी में। इस सम्बन्ध में बुद्ध का मानना है कि लोक और आत्मा की शाश्वत सत्ता स्वीकारने में मनुष्य के लिये अपने आध्यात्मिक सुधार की गुंजाइश ही नहीं रह जाती, क्योंकि आत्मा तो अजर, अमर, कूटस्थ है और उसी प्रकार उच्छेदबाद के अपनाने में आध्यात्मिक सुधार निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मौत के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। इस प्रकार दोनों स्थितियों में श्रामण्य निष्प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। बुद्ध ने देखा कि कुलपुत्र घर बार छोड़ कर संन्यास क्यों ग्रहण करेगा। 'रजोपथो घरावासो अल्मोकासो पब्वज्जा'' का उनका नारा किस लिये। अत: दोनों दृष्टियाँ उनके लिये त्याज्य थीं। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि बुद्ध ने दोनों दृष्टियों का परिहार करके अपने को धार्मिक मतवाद के सिलसिले में भी मध्यममार्गी बनाया। अनात्मवाद की बात करने से नास्तिकों की ओर झुकाव बना तो पुनर्भव की बात स्वीकार करने से आस्तिकों की ओर अनात्मवाद की बात करने से वे उपनिषदिक् आदि अस्तिकों से दूर हट गये और दूसरी तरफ पुनर्भव की बात करके लोकावतिक आदि नास्तिकों से अलग हो गये। इस प्रकार उन्होंने दोनों से अलग अपनी बीच की स्थिति बनाई। संभवत: ऐसा करना उनके लिये सामाजिक आवश्यकता और मजबूरी थी।

बुद्ध की इस मध्यमार्गी स्थिति की आलोचना उनके युग में और बाद के युगों में भी हुई और आज भी हो रही है। उनके आलोचक उस दृष्टि में एक विकट विसंगति देखते हैं। वह यह है कि यदि आत्मा की सत्ता नहीं है तो पुनर्जन्म किसका होता है। बौद्ध आचार्यो ने इसका जबाव समय समय पर दिया है। भदन्त नागसेन जैसे थेरवादी आचार्यों से लेकर बाद के महायानी आचार्यों ने अनात्मवाद और पुनर्जन्म की स्थिति की पुष्टि की है।

आधुनिक युग में डॉ० अम्बेडकर के सामने भी यह प्रश्न आया। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दि बुद्ध एण्ड हिज धम्म' में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की है। बुद्ध के अनात्मवाद, पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त की नई व्याख्या प्रस्तुत करके उन्होंने महान् कार्य किया है। अनात्मवाद की स्थिति में डॉ० अम्बेडकर प्रश्न करते हैं कि पुनर्जन्म

---

१. देखिये बुद्ध और उनका धम्म। बुद्ध और भिक्खुओं के बीच इस विषय पर चली बातचीत।

किस तत्त्व या किन तत्त्वों का और पुनर्जन्म व्यक्ति का या फिर व्यक्तित्व का? स्वयं भगवान् बुद्ध ने शरीर के निर्माण में चार तत्त्वों की बात की है। वे हैं—पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायु। अब प्रश्न उठता है कि जब मनुष्य मरता है तो इन तत्त्वों का क्या होता है? डॉ० अम्बेडकर कहते हैं कि वे तत्त्व आकाश में वर्तमान पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायु तत्त्वों की राशि से मिल जाते हैं और जब वे तत्त्व दुबारा जुड़ते हैं, तो एक नया जन्म अस्तित्व में आता है। इसी को पुनर्जन्म कहा जाता है। इसमें आवश्यक नहीं कि उस मृत व्यक्ति के शरीर से निकले तत्त्व पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायु से ही नया जन्म अस्त्वि में आये। वे तत्त्व कहीं के और किसी के भी हो सकते हैं। वे तो आकाश में वर्तमान उन तत्त्वों की राशियों से आये हैं।

किसी व्यक्ति के मृत हो जाने पर वे कौन से तत्त्व हैं जो शरीर से अलग हो जाते हैं। भदन्त महाकोट्ठिन और धम्मसेनापति सारिपुत्त के संवाद से उद्धृत करते हुये डॉ० अम्बेडकर कहते हैं कि वे हैं (Vitalinr, Heat) और Concionrem मौत हो जाने पर शरीर शक्ति (energy) उत्पन्न करना बन्द कर देता है। यहाँ (Heat और (energy) समानार्थक हैं। वस्तुत: इतना ही नहीं होता कि मृत शरीर Energy पैदा करना बन्द कर देता है। बल्कि उससे जो energy निकलती है वह पूरे विश्व में पूरे कायनात में energy की राशि में मिल जाती है। वस्तुत: इस व्याख्या में तत्त्व (Matter) का Aegemeration होता है, किसी आत्मा का पुनर्जन्म नहीं।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त की पारंपरिक व्याख्या का भी परिहार हो जाता है। कर्म या कम्म जो मनुष्य के जीवन में किये जाते हैं, उनका फल या विपाक संभव है। मनुष्य जैसा बोता है, वैसी ही फसल वह काटता है, यह कहावत अक्षरश: सत्य है; किन्तु मनुष्य के जीवन के दायरे में ही उसके बाहर नहीं। डॉ० अम्बेडकर के अनुसार पूर्व जन्मों के कर्मों/कम्मों को वर्तमान जन्म में भुगतने और पूर्व जन्मों और वर्तमान जन्म के कर्मों को भावी जन्म। जन्मों में भोग की बात समाज में विषमता और शोषण को कायम रखने की नीति के तहत हुआ था बौद्ध आचार्यों की व्याख्याओं से भी जहाँ कहीं इस प्रकार की ध्वनि आती है, वह पूरी तरह से विधर्मियों के प्रभाव के कारण हुआ है, जब बौद्ध संघ में ऐसे लोगों का प्रवेश हो गया था, जो सच्चे अर्थों में बौद्ध नहीं थे।

बौद्ध धर्म-दर्शन की आम्बेडकरी व्याख्या का चौथा बिन्दु है भिक्खु की परिभाषा। 'भिक्खुत्व' क्या है? भिक्खु कौन है? भिक्खु होने का प्रयोजन क्या है? आदि आदि।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि बुद्ध ने 'भिक्खु' नामक संस्था (Institntin) बनाई ही क्यों? इसमें बुद्ध का उद्देश्य क्या एक Perter man[1] बनाना था? या फिर एक समाज सेवी व्यक्ति बनाना था, जो लोगो का मित्र हो, सहायक हो, सलाहकार हो, नायक (Guide) हो, दार्शनिक नेता हो (Friend guide and plilerophеr)?

डॉ० अम्बेडकर का मानना था कि यदि भिक्खु (Perfeh Man) बन कर रह जाता है, तो वह बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के काम के लिये किसी काम का नहीं रहता। वस्तुत: वह स्वार्थी बन जाता है, आत्मनिष्ठ बन जाता है। इसके विपरीत यदि वह (soial serwnt) (समाज सेवी) है, तो वह बौद्ध धर्म के लिये आशा का पुंज बन सकता है। डॉ० अम्बेडकर ने अनुभव किया कि भिक्खु का समाज सेवी बनना बौद्ध धर्म-दर्शन के सिद्धान्तिक पक्ष के लिये चाहे उतना उपयोगी न हो, बौद्ध धर्म के भविष्य के लिये परम आवश्यक है।

डॉ० अम्बेडकर ने बौद्ध संघ को बहुत करीब से देखा था। वे भिक्खुओं के स्वभाव और कार्यकलाप से पूरी तरह अवगत थे। उनकी धारणा थी कि यदि बौद्ध भिक्खु भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के अनुरूप कार्य करते तो भारत में उसकी वह दुर्दशा न होती जो हो गई थी या हो रही है। धम्मपद की एक गाथा है, जो डॉ० अम्बेडकर की मान्यता की पुष्टि करती है। गाथा अधोलिखित है—

बहुं पि चे संहितं भासमानो न तक्करो होतिनरो सपञ्ञो ।
गोपो व गावं गणयं परेसं न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥

यद्यपि यह गाथा पटिपत्ति को बढ़ावा देने और परियत्ति पर अंकुश लगाने के उद्देश्य से कही गई प्रतीत होती है, फिर भी यह एक विशिष्ट अर्थ में डॉ० अम्बेडकर की बात को वजन देती है। सूत्रों का पाठ करने वाले, उन पर व्याख्यान देने वाले यदि उन सूत्रों में कही हुई बातों को अपने आचरण में नहीं लाते हैं, तो उनका हाल वही होता है जो मालिक की गायें चराने वाले गोप का होता है। वे सिर्फ गायों की गिनती मात्र करते हैं, गायों से प्राप्त दूध, दही घी आदि का लाभ उन्हें नहीं मिलता। उसी प्रकार सूत्रपाठ करने वाले भिक्खु को श्रामण्य (श्रमणभाव) का कोई लाभ नहीं मिलता। भगवान् ने भिक्खुओं को 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' विचरण करने के लिये कहा था न कि विहारों में बैठ कर आराम फरमाने के लिये। इसके अलावा यह गाथा एक सन्देश भी देती है जो जन हित में कार्य करने वाले प्रत्येक संगठन पर लागू होता है। संगठन के सिद्धान्तों पर अमल से उसके उद्देश्य पूरे होते हैं। न कि उन पर पण्डितवाद (Sehotersticsn) चलाने से।

बौद्ध धर्म के इतिहास से भी उदाहरण पेश किये जा सकते हैं, जहाँ संकट में पड़े संघ या सद्धम्म की परवाह न करके साधना में लगे भिक्खुओं पर डाट पड़ी

---

१. Peryer Man का क्या अर्थ किया जाय? A Spinitnal Person a पूर्ण पुरुष सिद्ध व्यक्ति a Liberated Person, on Aralhanta and no on.

है और सजा दी गई है। मिलिन्द पञ्हों में भिक्खु रोहण को इसी बात पर सजा मिली थी।

भारत में बौद्ध संघ की दुर्दशा, भिक्खुओं की निष्क्रियता और अकर्मण्यता को देखकर डॉ० अम्बेडकर इतना दुखी थे कि १४ अक्टूबर १९५६ ईसवी को नागपुर की दीक्षा भूमि में दो शरणों (बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि) के ग्रहण के बाद वे रुक गये और तीसरा सरण (संघं सरणं गच्छामि) लेने से मना कर दिया। पाँच लाख अनुयायियों की भरी सभा में बड़े से बड़े देशी और विदेशी प्रतिनिधियों के बीच पूरी सभा में हड़कम्प मच गया। बौद्ध प्रतिनिधियों और दीक्षागुरु भदन्त चन्दमणि बाबा के समझाने बुझाने और 'संघ' शब्द की साधनापरक व्याख्या[१] किये जाने पर डॉ० अम्बेडकर राजी हुये और दीक्षा का कार्य संपन्न हुआ।

डॉ० अम्बेडकर ने अपने ग्रन्थ 'दि बुद्ध एंड हिज धम्म' में भिक्खु की परिभाषा विस्तार से की है। उसकी विशेषताओं को उन्होंने उजागर किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डॉ० अम्बेडकर सद्धम्म के प्रचार प्रसार के लिये समाज में दुखी और त्रस्त जनता की सेवा के लिये और भिक्खु को समाज का भावी जन नायक बनाने के लिये बहुत ही आतुर थे। उन्होंने दीक्षा के बाद का अपना सारा जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के लिये समर्पित कर दिया था। लेकिन काल ने उन्हें थोड़े काल में ही अपने गाल में डाल लिया।

अन्त में इन सारे विवरणों के आधार पर यह कहना सर्वश: समीचीन होगा कि बाबा साहेब डॉ० भीमराव राम जी आम्बेडकर बौद्धों की आचार्य परंपरा की अन्तिम कड़ी थे। उनके आचार्यत्व पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। उनका आचार्यत्व उतना ही खरा है, जितना महाराजा अशोक के युग में भदन्त मोग्गलिपुत्त तिस्स का था महाराजा मिनाण्डर (मिलिन्द) के युग में भदन्त नागसेन का या महाराजा कनिष्क के युग में आचार्य नागार्जुन का या फिर महाराजा हर्षवर्धन के युग में आचार्य युवान् च्वांग का। यों तो जिस युग में बाबा साहेब डॉ० अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान का महान् कार्य किया, उस युग में बौद्ध धर्म को आधुनिक भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू जैसा संरक्षक मिला था।

---

१. संघ के दो अर्थ हैं—१. भिक्खुओं की जमात, २. अट्ठ पुरिस पुग्गला संघो।
इसका अर्थ यह है कि संघ आठ पुरिस पुग्गलों से बना है। अहरत्त-प्राप्ति के मार्ग में साधक को आठ पड़ावों को प्राप्त करना होता है, अर्थात् उन तक पहुँचना होता है। आठवाँ पड़ाव का अन्तिम लक्ष्य अहरत है। बीच के सात पड़ाव हैं—सोतापत्तिमग्ग, सोतापत्तिफल, सकदागामिमग्ग, सकिदागामि फल, अनागामि मग्ग और अनागामिफल और अहरत्त मग्ग।

संशय-शाश्वत-उच्छेदवादि दर्शनों के सन्दर्भ में गौतम बुद्ध की मूल-देशना

प्रो० संघसेन सिंह

अभ्यागत आचार्य, बौद्ध विद्या केन्द्र, गुरुगोविन्द सिंह भवन,
पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला (पंजाब) - १४७००२

गौतम बुद्ध के अनेक अवदान बताये जाते हैं। साधारणत: उन्हें गिना पाना कठिन है। किन्तु उनमें से तीन अवदान विशिष्ट हैं। वे हैं—तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक अन्धविश्वासों को ध्वस्त करना, सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने के लिये एक विचार-धारा प्रस्तुत करना और अनेक प्रकार के प्रचलित दार्शनिक मतवादों व विश्वासों से त्रस्त मानव समाज को दुक्खों से मुक्ति दिलाने का मार्ग बताना। बुद्ध की विशेषता इस बात में थी कि उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन बुद्धिसंगत और युक्तिसंगत रूप में किया। उनके युग के दार्शनिकों और तार्किकों ने उनसे अनेक प्रश्न पूछे। उन्होंने उन्हीं प्रश्नों के उत्तर दिये जो त्रस्त मानवता को दुक्खों से निजात (मुक्ति) दिलाने में सहायक थे या उसके अनुकूल थे। तत्त्वमीमांसा परक प्रश्नों के पूछे जाने पर वे मौन धारण कर लेते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरों की उक्तियों का खंडन करने के लिये उन्होंने युक्तियाँ प्रस्तुत नहीं की। उन्होंने अपने विरोधियों की उक्तियों के खंडन में जिन युक्तियों का प्रयोग किया, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि वे युक्तियाँ तर्कशास्त्र की दृष्टि से कम महत्त्व की नहीं थीं। उन्होंने चार प्रकार से तर्कों पर आधारित ज्ञान की आलोचना की है। इनकी आलोचना के आधार पर उनकी तर्क शास्त्रीय सोच का पता चलता है, क्योंकि सभी तर्कणायें भली नहीं होती हैं।

भगवान् बुद्ध के युग में गहन चिन्तन जिस पड़ाव पर पहुँचा था, उस पड़ाव तक पहुँचने में मानव समाज को सदियाँ लगी होगी। इसके पहले सदियों तक संशयवाद का दौर था। यह बात ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अध्ययन से स्पष्ट है। वहाँ कुछ सूक्तों में चिन्तन की रुचि नजर आती है, जो ब्राह्मण काल में भी बरकरार रही और जिसकी परिणति हुई औपनिषदिक सिद्धान्तों और संस्थानों के रूप में।

तत्कालीन साहित्य के अवलोकन से यह बात स्पष्ट है कि श्रमण और ब्राह्मण विचारधारायें साथ-साथ पल्लवित और पुष्पित होती रहीं। यहाँ यह कहना कठिन है कि उनमें से कौन पहले की है और कौन बाद की। इस बात का निर्णय करना प्रस्तुत प्रबन्ध (व्याख्यान) के दायरे से बाहर है। इन दोनों संस्कृतियों के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। आचार्य नरेन्द्रदेव, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पांडे आदि विद्वानों ने इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विचारकों के अनेक संप्रदाय रहे होंगे। उनमें से कुछ वैदिक परंपरा से जुड़े थे, तो दूसरे उनसे अलग स्वतंत्र रूप में समाज में अपने विचारों को प्रचारित करते थे। संभवत: उसी काल में बुद्ध और महावीर से पूर्व ही ज्ञान का प्रयोजन इसकी प्रकृति और उसकी वैधता संबन्धी प्रश्न उठने लगे थे, जिसके परिणाम के रूप में संशयवाद अथवा अमराविक्खेपवाद का उदय हुआ होगा। इसी संशयवादी अथवा अमराविक्खेपवादी दौर में लोकायतिक, आजीवकीय, जैन बौद्ध आदि ज्ञान-मीमांसीय और तर्कशास्त्रीय सिद्धान्तों का उदय हुआ।

काल-क्रम से चलने पर शोधकर्ता की दृष्टि सबसे पहले ऋग्वेद के सृष्टिं सूक्त पर पड़ता है। इसे नासदीय सूक्त भी कहा गया है, क्योंकि इसका प्रारंभ नासद् । (न+असद्) शब्दों से हुआ है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने इसका शीर्षक 'अज्ञात ईश्वर के प्रति' दिया है। इसमें गंभीर प्रश्न उठाये गये हैं। इस सूक्त के अन्तिम दो मन्त्र हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किये जाते हैं—को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि:। अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।(६)

कौन जानता है वास्तविक रूप में? कौन बता सकता है इस संसार में? (यह) कहाँ से उत्पन्न हुई? विविध प्रकार की यह सृष्टि कैसे (किन पदार्थों से निर्मित) हुई? यह देव भी नहीं बता सकते, क्योंकि वे इसकी उत्पत्ति के बाद के हैं (अर्वाचीन हैं)। (अत:) कौन जानता है कि यह कहाँ से (आविर्भूत) हुई।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।। (७)

यह सृष्टि (आविर्भूति) जहाँ से जिस उपादान कारण से हुई क्या वह (उपादान-कारण) इसको धारण किये हुये है, अथवा नहीं किये हुये है। सर्वोच्च आकश में जो इसका अध्यक्ष (पूर्ण निरीक्षक) है, बस केवल वही इस तथ्य को जानता है, या शायद वह भी नहीं जानता। (७)१

इस प्रकार इस सूक्त के अध्ययन से स्पष्ट है कि इसमें संशयवाद स्पष्ट रूप में ज्ञात होता है। यहाँ पर इस बात की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि इसमें सत् और असत् की अवधारणा को संश्लेषित करने का प्रयास करते हुये एक स्वतंत्र सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। सृष्टि के प्रारंभ सम्बन्धी ज्ञान की समस्या के विषय में सभी संभव उत्तरों पर विचार करने के बाद कोई भी चिन्तक संशयवाद के समीप पहुँचता है। इस संशयवाद का आधार यह कथन है कि चूँकि पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद देवता हुये, अत: कौन कह सकता है कि इसकी उत्पत्ति या सृष्टि कब हुई? किसी ने उस भव्य दृश्य को नही देखा।(२) यहाँ पर इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि संभवत: ब्राह्मणी परंपरा में इसे भुला दिया गया। सौभाग्य से बौद्ध परंपरा में उसका निशान या संकेत मिलता है। इसमें ब्रह्मा सजिता (सृष्टिकर्ता) है। वह अपने उद्भव के विषय में अनजान है।(३) इसमें यह भी स्पष्ट रूप में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारंभ के विषय में जानना संभव नहीं। आदि कारण को नहीं जाना जा सकता।४

ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषत् कालीन विचारकों की दो कोटियाँ थीं[१]— पहले वर्ग में उस प्रकार के विचारक आते थे जो अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन आध्यात्मिक चिन्तन और तर्कपरक युक्तियों के आधार पर करते थे। उनमें स्वानुभूति का अभाव था।[२] दूसरे वर्ग के विचारक वे थे, जिन्होंने योग का अभ्यास करके स्वत: अनुभूत विचारों को अभिव्यक्त किया था।

उद्दालक द्वारा व्यक्त दर्शन पर विचार करने से पता चलता है कि सत् की प्रकृति को जानने के लिये प्रमाण आवश्यक है। कोई कह सकता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है। लेकिन यह कैसे संभव है? सत् कैसे असत् से उत्पन्न हो सकता है?

यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है उद्दालक के विचारों पर पूर्व-मिथक और तत्कालीन ब्राह्मणेतर विचारकों के तर्क का प्रभाव पड़ा था। इस सन्दर्भ में देखना यह है कि जब बुद्ध कहते हैं कि ब्राह्मणों का एक वर्ग था, जो सिद्धान्तों का प्रतिपादन तर्क और अटकलबाजी के आधार पर करता था[५] तो क्या वे उद्दालक के जैसे विचारकों के प्रति संकेत कर रहे थे? यह प्रश्न स्वत: उठ खड़ा होता है।

छान्दोग्य उपनिषद्[६] से ज्ञात होता है कि प्रजापति ने एक आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, जो बुद्धिवाद और अनुभववाद पर आधारित था। उसमें इस प्रकार के तर्क का सहारा लिया गया है, जिसका प्रयोग बुद्ध ने भी किया है, लेकिन निष्कर्ष में बहुत अन्तर है। आत्मा हैं और उसके लक्षण हैं—विमृत्यु, विशोक और

सत्य-संकल्प[७]। यहाँ समस्या इस बात की है कि आत्मा शरीर के किस भाग में अवस्थित है? इस संबन्ध में कई संकेत दिये गये हैं, जो इस प्रकार (अधोलिखित) हैं—

१. भौतिक शरीर ही आत्मा है, जो जल के कड़ाहे में प्रतिबिम्बित होता है।। भौतिक अनुभव से जाना जाता है कि भौतिक शरीर नश्वर है। शरीर के विनष्ट होते ही इसका भी नाश हो जाता है[८]। इसलिये इससे काम नहीं चलने वाला है।

२. दूसरा संकेत है कि आत्मा की पहचान स्वप्नावस्था की आत्मा से[९] की जा सकती है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि स्वप्नावस्था की आत्मा का नाश शरीर के नष्ट होने पर नहीं होता है।

३. तीसरा संकेत है कि आत्मा की पहचान गहरी निद्रा से की जा सकती है। पिछले दोनों संकेतों के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों से यह बच जाता है।

इस बिन्दु तक तर्क यह है कि आत्मा की पहचान व्यक्तित्व के किसी भी पहलू से नहीं की जा सकती, चाहे वह भौतिक पहलू हो या मनोवैज्ञानिक। अनुभववादी दृष्टिकोण से निषेधात्मक निष्कर्ष पर पहुँच कर प्रजापति सन्तुष्ट नहीं हुये। तब उन्होंने अध्यात्मिक पूर्वानुमान किया कि आत्मा अवश्य ही सभी पहलुओं से युक्त अदृष्टि-गोचर सत्त्व है, जो शरीर के भीतर अवस्थित है। शरीर नश्वर है, किन्तु वह अनश्वर है, अशरीरी आत्मा का आश्रय है। तार्किक युक्तियों के स्थान पर मताग्रह हावी हो जाता है और अपना प्रभाव व्यापक बना देता है। प्रजापति चिरपरिचित ब्राह्मणिक तर्क का सहारा लेते हैं। वे एक ओर हवा, बादल व मेघ-गर्जन और दूसरी ओर आत्मा में सादृश्य देखते हैं; क्योंकि दोनों शरीर रहित हैं। उनका तर्क है कि चूँकि हवा, बादल आदि परम प्रकाश तक पहुँचते हैं और उनमें से प्रत्येक अपने स्वरूप में प्रकट होता है,[१०] अत: आत्मा भी इस शरीर से ऊपर उठता है और परम प्रकाश तक पहुँचता है और अपने स्वरूप में प्रकट होता है[११]।

यहाँ पर इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि अन्यत्र उपनिषदों में आत्मा की पहचान स्वप्नावस्था[१२] और गहरी निद्रा[१३] से की गई है। इसलिये ऐसा मालूम पड़ता है कि उपर्युक्त सिद्धान्त पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की आलोचना है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनात्म सिद्धान्त की स्थापना करने वाले बुद्ध और प्रजापति के तर्कों के नमूनों में पर्याप्त साम्य है। प्रजापति की भाँति बुद्ध ने भी व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं को लिया और दिखलाया कि उनमें से किसी की भी पहचान आत्मा से नहीं की जा सकती; क्योंकि इन सबों में आत्मा के अभिलक्षण नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में बुद्ध के तर्क की बानगी प्रस्तुत की जा रही है[१४]—

बुद्ध—तं कि मञ्ञसि? ...... रूपं निच्चं वा अनिच्चं वा ति?

सच्चक—अनिच्चं ....

बुद्ध—यं पनानिच्चं दुक्खं वा तं सुखं वा?

सच्चक—दुक्खं......

बुद्ध—यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं, कल्लं नु तं समनुपस्सितुं; एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ता ति।

सच्चक—नोहीदं।

इसी प्रकार की तर्कणा व्यक्तित्व के अन्य पहलुओं—वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के सम्बन्ध में भी किया गया है। ऊपर (पहले) दिये गये पालि उद्धरण में प्रयुक्त की गई उक्ति 'एसोहमस्मि' की तुलना छान्दोग्य उपनिषद् में आई उक्ति 'अयम् अहम् अस्मि' से की जा सकती है, क्योंकि दोनों स्थानों पर इन प्रयोगों का प्रयोजन एक ही है। प्रजापति और बुद्ध के दृष्टिकोण में प्रमुख अन्तर यह है कि प्रथम ने व्यक्तित्व के किसी अंश के साथ आत्मा की पहचान न होने पर इसके अस्तित्व का पूर्वानुमान कर लिया है और इसे व्यक्तित्व के भीतर स्थित समझ लिया है और वे अनुभव के परिणामों से असंतुष्ट हैं। लेकिन इसके विपरीत दूसरे ने अनुभववादी दृष्टिकोण अपनाते हुये और इसकी परिभाषा का इस्तेमाल करते हुये अनुभव-जन्य परीक्षण में संतुष्टि प्राप्त की क्योंकि इस परीक्षण से यह पता चलता है कि इस प्रकार के आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि निद्देस में लक्षणवादियों[१५] का उल्लेख आया है।

मौत के बाद 'आत्मा) की स्थिति के बारे में भी प्रजापति का सिद्धान्त उद्दालक के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में इस बात का उल्लेख आया है कि ब्राह्मणों का एक संप्रदाय था जिसकी मान्यता थी कि मौत के बाद आत्मा रूपी, अरोग और संज्ञा[१६] होता है। प्रजापति ने मृत्यु के बाद आत्मा के इन सभी अभिलक्षणों की चर्चा की हैं।[१७] उद्दालक के सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु के बाद आत्मा अरूपी, अरोग और असंज्ञी होता है, क्योंकि वह परमात्मा से मिल जाता है।

याज्ञवल्क्य ने भी तर्क का सहारा लिया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा अज्ञेय है, क्योंकि वह सर्वबोध एकता है, जबकि ज्ञान कर्ता और कर्म के द्वैत की अपेक्षा रखता है। व्यक्तिगत आत्मा भी अज्ञेय है, क्योंकि सभी ज्ञान में वह जानने वाला कर्ता है, फलत: वह भी कर्म नहीं हो सकता।[१८]

यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य की मौत के बाद के जीवन की धारणा' भी तर्क की उपज है। उन्होंने मनुष्य की तुलना वृक्ष से की है। वृक्ष के काट देने पर वह फिर उग आता है, लेकिन मनुष्य की मौत हो जाने पर वह किस मूल से जन्म लेगा[१९], यह कहना कठिन है।

इस सम्बन्ध में यह कोई नहीं कह सकता कि वह वीर्य से उत्पन्न होगा, क्योंकि यह तभी सम्भव है जब मनुष्य जीवित हो। इस प्रश्न का रहस्यमय उत्तर दियागयाहै। ऐसा कहा गया है कि जब कोई जन्म लेता है तो वह पुनः जन्म नहीं लेता, क्योंकि कौन उसे पुनः उत्पन्न करेगा।[२०] यहाँ पर पुनर्जन्म की संभावना का सीधा अस्वीकार है। उसके अनुसार मरने के बाद संज्ञा नहीं होती।[२१] इसके द्वारा यह कहने की इच्छा व्यक्त की गई है कि इन्द्रिय संवेदन का अभाव है, क्योंकि यह इन्द्रियों की उपस्थिति में ही संभव है।[२२] साथ ही वह भी संज्ञा को अस्वीकार नहीं करता है, क्योंकि संज्ञा का कर्ता बना रहता है। यह कर्ता अनुभव की शुद्ध राशि है।[२३] इसलिये पुनर्जन्म वह स्थिति है जिसमें न तो संज्ञा है और न ही इसका अभाव यानी असंज्ञा।

यहाँ इस सन्दर्भ में मज्झिम निकाय में आये एक प्रसंग के प्रति ध्यान चला जाता है। इसमें कहा गया है कि कुछ श्रमण ब्राह्मण यह तर्क देते हैं कि 'नेव सञ्ञा नासञ्ञा' की स्थिति सान्त और पणीत है, क्योंकि एक ओर प्रकृत संज्ञा रोग, गंड और दंश से युक्त है जबकि असंज्ञा सम्मोह है। याज्ञवल्क्य का निष्कर्ष कम से कम वही है, सिर्फ तर्क में कुछ भिन्नता है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि भारत में वाद का उत्स वैदिक संस्था 'ब्रह्मोद्य' में ढूढ़ा जा सकता है। ब्रह्मोद्य (ब्रह्मवद्य) का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ उसका रूप पहेली भी देखा जा सकता है। ब्राह्मणों में भी ये ब्रह्मोद्य प्रायः देखे जाते हैं। इसका स्वरूप प्रायः प्रश्नोत्तर का है। ए० बेरिडेल कीथ की मान्यता है कि वैदिक यज्ञ की यह विशेषता है कि किसी भी बिन्दु पर ब्रह्मोद्य पाया जाता है जो ब्रह्म के विषय में विवाद था। अश्वमेध यज्ञ में ब्रह्मोद्य प्रायः प्रचलित था।

ये ब्रह्मोद्य वार्तालाप के रूप में उच्चरित होते थे, जिन्हें पारिभाषिक पदावली में 'वाक्योवाक्य' कहा जाता था।[२५] ये वार्तालाप औपचारिक और घिसे-पिटे होते थे और शायद रट लिये जाते थे। प्रारंभ में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के कुछ उद्धरण होते थे।[२६] आगे चलकर अध्ययन का विस्तार हुआ और इतिहास, पुराण आदि अन्य विधायें भी सम्मिलित कर ली गई।[२७]

कालान्तर में वाक्योवाक्य केवल औपचारिक अभिव्यक्तिमात्र न रहा, बल्कि आशु प्रदर्शन हो गया। विकास के इस क्रम में वाक्योवाक्य का अध्ययन वाद-विवाद

की प्रकृति का अध्ययन बन गया, जिसके द्वारा एक व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्दी को पराजित कर सकता था। वाक्योवाक्य में ऐसे वाक्यों का प्रयोग भी हुआ करता था जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि एक प्रतिद्वन्दी दूसरे प्रतिद्वन्दी को परास्त करना चाहिता है। उदाहरण के लिये एक प्रतिद्वन्दी दूसरे से कहता है—'तुम विवेक में (मुझसे) श्रेष्ठतर नहीं हो।[२८]

इस प्रकार का उन्मुक्त वाक्योवाक्य, जिसकी ओर सायण ने ध्यान दिलाया है, शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है।[२९] यह किसी यज्ञ के समय का 'वाद' नहीं है, बल्कि उद्दालक आरुणि और स्वैदायन गौतम के बीच खुला वाद है।

प्रारम्भिक उपनिषत् काल में सादृश्यमूलक तर्कणा का जादूई अभिलक्षण समाप्तप्राय हो गया और वह अधिकाधिक अनुभववादी बन गया, यद्यपि यहाँ अवलोकन के आधार पर पूरी तरह से निष्कर्ष नहीं निकाले जाते थे। अवलोकन का सीधा और सपाट रूप तो यह है कि जब हमें गर्मी लगती है, तब पसीना आता है। इस सन्दर्भ में निष्कर्ष निकाला गया कि उष्मा के कारण जल होता है।[३०] इस अवस्था में प्रागनुभव तर्कणा भी देखी जाती है, यथा—तद्येक आहुः....... असतः सज्जायत कुतः नु खलु, सौम्य एवं स्यात् .... कथमसतः सज्जायेत।[३१]

ऐसी स्थिति में वाद को यज्ञ से आगे बढ़ाकर परिषद् में ले जाया गया और यह अपने में महत्त्वपूर्ण संस्था बन गया। श्वेतकेतु आरुणेय वाद के लिये पंचालों की परिषद्[३२] और पंचालों की समिति[३३] में गये थे। कभी-कभी ब्राह्मण भी राजाओं को इस प्रकार के वादों का आयोजन करने के लिये प्रेरित करते थे। याज्ञवल्क्य विदेह के राजा जनक से वाद करने गये थे।[३४] इसी प्रकार बालार्क अजातशत्रु के दरबार में वाद के प्रयोजन से जाते हैं।[३५] पालित्रिपिटक में इस प्रकार की ब्राह्मण-परिषदों और क्षत्रिय परिषदों का उल्लेख आया है।[३६]

यज्ञ-स्थल पर भी वाद बेरोकटोक चलता था, यद्यपि कालान्तर में ब्रह्मोद्य की जगह गरमागरम वाद-विवाद ने ले लिया। इस प्रकार के वाद विवाद का उल्लेख एक यज्ञ में आया है, जिसमें राजा जनक ने भाग लिया था और उन्होंने विजयी को पुरस्कार देने की बात कहीं है।[३७]

महाभारत में भी यज्ञ का वर्णन करते हुये कहा गया है कि जब यज्ञ चल रहा था, उस समय हेतुवादियों ने एक दूसरे को पराजित करने के उद्देश्य से तर्क पर आधारित कई सिद्धान्त रखे थे।[३८] सुत्तनिपात में शायद ऐसे ही ब्राह्मणों को 'वादसीला ब्राह्मणा' कहा गया है।[३९] निद्देस में आये उल्लेख में इन ब्राह्मणों को ही शायद 'हेतुवादी' कहा गया था।[४०]

उस युग में ब्राह्मण वर्ग एक विशेष प्रकार के तर्कशास्त्र का भी अध्ययन कर रहा था, जिसकी पुष्टि पालि निकायों से भी होती है।[४१] ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में लोकायत को रूढिवादी ब्राह्मणों के अध्ययन की शाखाओं में से एक बताया जाने लगा और उसे वितण्डावादशास्त्र[४२] अथवा वितण्डा शास्त्र[४३] भी कहा गया। उस युग में ब्राह्मण लोकायत के विशेषज्ञ थे, इस बात की पुष्टि बाद के युग में संकलित महाभारत से भी हो जाती है। पालि निकायों से इस बात की जानकारी मिलती है कि तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग वाक्छल या पितण्डा या तर्क के प्रारंभिक ज्ञान या कथावस्तु के अध्ययन में भी रत था।

विकास के क्रम में एक ऐसा समय आया जब लोकायत को अध्ययन की शाखा से पदच्युत होना पड़ा, क्योंकि हेतुशास्त्र की सहायता से कुछ ब्राह्मण वैदिक परम्परा की आलोचना करने लगे।[४४] उस समय लोकायत ऐसे सिद्धान्तों को द्योतित करने लगा, जो वैदिक शिक्षाओं के विरोधी थे।

जयतिलक के अनुसार अपनी प्रारम्भिक अवस्था में लोकायत उन आध्यात्मिक विषयों और अन्तर्ग्रस्त तर्कों के अध्ययन को द्योतित करता था, जिसके द्वारा बाद में विजय की प्राप्ति की जा सके। सद्धर्मलंकावतार सूत्र में दी हुई एकतिस लोकायत स्थापनाओं[४५] (थिसिस) को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में लोकायत के अध्ययन का विशेष महत्त्व था।

उपनिषदिक स्थापनाओं और लोकायतिक स्थापनाओं पर चर्चा अपने सबसे महत्त्वपूर्ण पड़ाव पर तब तक नहीं पहुँच सकती, जब तक कि बुद्ध-पूर्व और बुद्ध-युग में व्यापक शाश्वतवाद और उच्छेदवाद की चर्चा न हो। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त[४६] की सूचना के अनुसार उस युग में प्रचलित बासठ दृष्टियों से पता चलता है कि उस समय विचारों का टकराव काफी ऊँचे बिन्दु पर पहुँच चुका था। किस प्रकार के विचार समाज में किस सीमा तक व्याप्त थे, इस बात का संकेत भी उस सुत्त (उपदेश, प्रवचन, देशना) से मिलता है। बुद्ध उन दृष्टियों से असहमत थे। वे दृष्टियाँ उन्हें मान्य नहीं थीं और वे उन्हें खारिज कर चुके थे। उन दृष्टियों में दो प्रमुख धारायें थीं—शाश्वतवाद (पालि-सस्सतवाद) और उच्छेदवाद। उस युग में बुद्ध के समकालीन अनेक धर्म-शास्ता रहे होंगे। उनमें से छ: का उल्लेख बुद्ध की देशनाओं में आया है। उनका नाम था—पूरण कस्सप, अजितकेसकंबल, पकुध कच्चायन, मक्खलि गोसाल, संजय वेलट्ठिपुत्त और निगंठ नातपुत्त।[४७] वे संघी थे, गणी थे, गणाचरिय थे, तीर्थंकर थे। उन धार्मिक मतों के मानने वालों की संख्या काफी बड़ी रही होगी। वे मूल रूप में तापस थे। उनमें से कुछ खासतौर से आजीवक शरीर को तरह-तरह

से कष्ट पहुँचाते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार के कष्ट सहने से ही सुख की प्राप्ति होती है। ये तापस किन-किन उद्देश्यों से तपस्या करते थे, यह तो पूरी तरह ज्ञात नहीं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में आदर-सत्कार प्राप्त करना भी एक उद्देश्य रहा होगा। इस बात की पुष्टि बुद्ध के प्रसिद्ध उपदेश, सामञ्ञफल सुत्त (संस्कृत-श्रामण्यफल सूत्र) से होती है। राजा अजातसत्तु (अजातशत्रु) भगवान् बुद्ध के सामने वही सवाल रखते हैं, जो वे अन्य छ: धर्मगुरुओं के सामने रख चुके थे और उनके उत्तरों से सर्वथा असंतुष्ट थे। प्रश्न था कि समाज में तरह-तहर के पेशे व धन्धे करने वाले उन पेशों व धन्धों से अपना गुजारा करते है और अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं, तो क्या श्रमणों के श्रामण्य (श्रमण-जीवन, संन्यास, परिव्राजकत्व) का भी इसी जीवन में कोई लाभ है? बुद्ध ने इस प्रश्न का एक बड़ा ही माकूल और सटीक उत्तर दिया। उन्होंने राजा अजातसत्तु से प्रतिप्रश्न करते हुये पूछा—'राजन् आपका कोई सेवक जो दिन रात आपकी सेवा में लगा रहता है, यदि आपकी सेवा छोड़कर भिक्खु (बौद्ध संन्यासी या परिव्राजक) बन जाय और कालान्तर में आपके दरबार में आकर आपके सामने उपस्थिति हो; ऐसी स्थिति में आप क्या करेंगे? राजा ने उत्तर दिया—मैं उसे आदर से आसन पर बैठाऊँगा और उसका समुचित आदर-सत्कार करूँगा।' बुद्ध बोले—'राजन् तो क्या सेवक के जीवन में यह अप्रत्याशित परिवर्तन श्रामण्य का इहलौकिक लाभनहीं है?' इस कथानक से स्पष्ट है कि उस युग में श्रामण्य भौतिक लाभ के लिये भी आचरित किया जाता रहा होगा। यह भी संभव है कि अधिकांश मामलों में मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य यही रहा होगा, धार्मिक, दार्शनिक मतवाद तो दिखावा मात्र (Camouflafe) रहा होगा, क्योंकि समाज में हर क्रिया-कलाप या गतिविधि की बुनियाद में अर्थ-लाभ और शक्ति-लाभ (Paver and Pelf) का चक्र या फिर रोटी और मक्खन (Bread and Butter) का सवाल रहता है।

शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का आग्रह दो बिन्दुओं पर था—लोक के विषय में और अत्ता (आत्मा) के विषय में। उस युग के दार्शनिक प्राय: इन दो खेमों में विभक्त थे। औपनिषदिक ऋषि और उनके समर्थक, जैन मुनि और उनके समर्थक आदि इन दोनो बिन्दुओं पर शाश्वतवादी थे और दूसरी तरफ लोकायत मत या मतों के मानने वाले उच्छेदवादी थे। जहाँ शाश्वतवादियों का मानना था कि लोक और आत्मा नित्य हैं, कूटस्थ हैं, सनातन हैं, वहीं दूसरी तरफ उच्छेदवादी यह मानते थे कि शरीर से भिन्न किसी आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है, शरीर के नाश (मरने पर) के साथ ही सब कुछ नष्ट हो जाता है कुछ भी बचा नहीं रहता। अत: स्वर्ग-नरक जाने या फिर मुक्त हो जाने, मोक्ष या निर्वाण हासिल करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जो कोई भी मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है, वह इस जीवन के दायरे में ही है।

गौतम बुद्ध के सामने एक समस्या रही होगी, एक उलझी हुई गुत्थी रही होगी। गुत्थी इस रूप में कि वे किस ओर जायँ। लोक और अत्ता को शाश्वत मानने वाले शाश्वतवादियों के साथ या फिर इस अनित्य लोक में, शरीर और जीव में अभेद मानने वाले उच्छेदवादियों के साथ। उस युग में शाश्वतवादियों की पताका उठाने वालों में अगुआ संभवत: उपनिषदिक ऋषि रहे होंगे और उच्छेदवादियों की अगली पंक्ति में शायद लोकायतिक थे। बुद्ध को इन दोनों का साथ स्वीकार नहीं था। इसलिये उन्होंने इन दोनों खेमों के बीच का रास्ता ढूढ़ निकाला, जो उस युग का मध्यममार्ग था।

वास्तव में यह मध्यममार्ग गौतक बुद्ध की मूलदेशना से उभड़ कर आता है, वह चाहे दृष्टियों या मत-मतान्तर के क्षेत्र में हो या फिर धार्मिक मान्यताओं और उनके अनुष्ठानों में। जहाँ तक धार्मिक अनुष्ठानों का प्रश्न है, यह गौतम बुद्ध के तथा कथित पहले सुत्त या उपदेश (जिसका नाम दिया गया धम्मचक्क पवत्तन सुत्त[४८]) से ही व्यक्त है। इस उपदेश में जिन दो कोटियों का उल्लेख हुआ है और जिन्हें छोड़ने की शिक्षा भगवान् ने अपने शिष्यों को दी वे थीं—अत्तकिलमथानुयोग (अपनी मुक्ति के लिये अपने शरीर और मन को अत्यधिक कष्ट पहुँचाना) और कामेसुकामसुखल्लिकानुयोग (उसी उद्देश्य से सुख-सुविधाओं का उपभोग करना)।

इस पहले सुत्त या उपदेश में ही भगवान् बुद्ध की मूलदेशना का प्रकाशन (वाचसिक रूप में उजागर होना) हो गया था—कुछ तो स्पष्ट शब्दों में और बहुत कुछ संकेतों के रूप में।

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा वाराणसियं विहरति इसिपतने मिगदाये। तत्र खो भगवा पंचवग्गिये भिक्खू आमन्तेसि—द्वे' मे, भिक्खवो, अत्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा—यो—चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो गम्मो, पोथुज्जनिको, अनरियो, अनत्थसंहितो; यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो, अनरियो, अनत्थसंहितो एते भिक्खे, उभो अन्ते अनुपगम्य मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा, चक्खुकरणी, ञाणकरणी, उपसमाय, अभिञाय, सम्बोधाय, निब्बानाय सवंत्तति आदि आदि।

ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान् वाराणसी के इतिपतन मिगदाय में विहार कर रहे थे (थोड़े समय के लिये ठहरे थे।) वहाँ भगवान् ने पंचवर्गीय भिक्खुओं को संबोधित करते हुये कहा—'भिक्खुओं इन दो अन्तों (कोटियों) को प्रव्रजितों (घर-त्यागियों) को नहीं सेवन करना चाहिये (१) जो यह हीन, ग्राम्य (गँवारू), पुथुज्जन से संबन्धित, अनार्य (सेवित), अनर्थों से युक्त, कामवासनाओं में काम-सुख लिप्त होना है और (२) जो यह दुक्खमय, अनार्य (सेवित), अनर्थों से युक्त, आत्म-पीड़न

(काय-क्लेश में लगना है। भिक्खुओं इन दोनों अन्तों में न जाकर तथागत ने मध्यम मार्ग को जाना है (जो कि) आँख देने वाला, ज्ञान करने वाला, शान्ति के लिये, अभिज्ञा के लिये, सम्बोधि (परमज्ञान, बुद्धत्व) के लिये, निब्बान के लिये है।

भिक्खुओं, तथागत ने कौन सा मध्यम मार्ग जाना है (जो कि) आँख देने वाला, ज्ञान करने वाला, शान्ति के लिये, अभिज्ञा के लिये, सम्बोधि के लिये, निब्बान के लिये है। यही अरिय अट्ठंगिक मग्ग जैसे कि (१) सम्मा दिट्ठि (२) सम्मा संकप्पं (३) सम्मा वचन (४) सम्मा कम्मन्त (५) सम्मा आजीविका (६) सम्मा वायाम, (७) सम्मा सति और (८) सम्मा समाधि। भिक्खुओं इस मध्यम मार्ग को तथागत ने जाना है (जो कि) आँख देने वाला, ज्ञान करने वाला, शान्ति के लिये, अभिज्ञा के लिये, सम्बोधि के लिये, निब्बान के लिये है।

भिक्खुओं यह दुक्ख आर्य सत्य है—जन्म भी दुख है, जरा (बुढ़ापा) भी दुक्ख है, रोग भी दुक्ख है, मृत्यु भी दुक्ख है, अप्रियों से संयोग (= मिलन) दुक्ख है, प्रियों से वियोग दुक्ख है, इच्छा होने पर किसी (वस्तु) का नहीं मिलना भी दुक्ख है। संक्षेप में पाँच उदापान स्कन्ध (रूप, वेदना, सञ्ञा, संखार और विञ्ञाण) दुक्ख हैं।

भिक्खुओं, यह दुक्ख समुदय अरिय सच्च है—यह जो फिर-फिर जन्म कराने वाली, प्रीति और राग से युक्त उत्पन्न हुये स्थानों में अभिनन्दन कराने वाली तृष्णा है, जैसे कि १. काम तृष्णा २. भव-तृष्णा (जन्म सम्बन्धी तृष्णा), ३. विभव तृष्णा (= उच्छेद की तृष्णा)।

भिक्खुओं, यह दुक्ख निरोध आर्य सत्य है—जो उसी तृष्णा का सर्वथा विराग है, निरोध (= रुक जाना), त्याग, प्रतिनिस्सर्ग (= निकास), मुक्ति (= छुटकारा), लीन न होना (बिना आलय का होना?)।

भिक्खुओं यह दुक्खनिरोध गामिनी प्रतिपदा आर्य सत्य है—यही आर्य अट्ठांगिक मग्ग है जैसे कि १. सम्मा दिट्ठि २. सम्मा संकल्प ३. सम्मा वचन ४. सम्मा कम्मन्त ५. सम्मा आजीविका ६. सम्मा व्यायाम, ७. सम्मा सति ८. सम्मा समाधि।

दूसरे आर्य सत्य को विस्तार से समझाते हुये भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट किया है कि दुक्ख का समुदय अथवा कारण अथवा हेतु है, क्योंकि इसका यथाभूत ज्ञान होने पर ही दुक्खनिरोध सम्भव है। वस्तुत: दुक्ख उत्पत्ति के क्रम को ही प्रतीत्यसमुत्पाद (हेतु फल-परंपरा) कहा जाता है। यह बुद्ध की शिक्षाओं का हृदय बताया जाता है। इसके बारह अंग हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण।

सारे धर्मों की उत्पतित हेतु-प्रत्यय के अधीन है। अविद्या प्रत्यय के कारण संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कार प्रत्यय के कारण विज्ञान होता है, आदि आदि। अत: धर्मों को प्रत्यय-धर्म और उत्पन्न धर्म कहा जा सकता है। प्रतीत्य समुत्पाद के बारह अंगों को तीन हिस्सों में बाँटा गया है—अविद्या और संस्कार अतीत में, पूर्व भव में, जाति और जरामरण अगले भव में और शेष आठ अंग वर्तमान भव में। यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि मध्य के आठ अंग सब जीवों के वर्तमान भव में हमेशा पाये जाते हों, ऐसा नहीं है। यहाँ तो पूरी संतति पर विचार करते हुये सारे अंगों की बात की गई है।

अन्त में एक विशिष्ट बात की ओर संकेत करते हुये प्रस्तुत व्याख्याता अपनी बात समाप्त करना चाहता है। यह बात सच है कि बौद्ध धर्म के इतिहास में आज तक के सभी प्रतिष्ठित आचार्यों ने और समय-समय पर उद्भूत बौद्ध मतों में भगवान् बुद्ध की प्रथम देशना को उनकी शिक्षाओं का मूल माना है। कहीं भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं उठाई गई। किन्तु आधुनिक युग के एक प्रतिष्ठित आचार्य ने तथा कथित प्रथम उपदेश को प्रक्षिप्त माना है। वे उसे भगवान् की मूल देशना मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार यह भगवान् की देशना है ही नहीं। उस आचार्य का नाम है डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर।

डॉ० अम्बेडकर ने अपने अन्तिम और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गौतम बुद्ध और उनका धम्म' में चार आर्य सत्यों की देशना को बुद्ध की देशनाओं से बाहर की बताया है। उनके अनुसार अपनी देशनाओं में सबसे पहले दुक्ख की बात करना नैराश्यपूर्ण उपदेश है। अत: यह देशना बुद्ध जैसे अप्रतिम आशावादी व्यक्ति की नही हो सकती। उनका मानना है कि यह बौद्ध धर्म में बाद के ब्राह्मण घुसपैठियों की करतूत का परिणाम है। चार सत्यों के नामकरण से उनके सन्देह की पुष्टि होती है।

प्रतीत्य समुत्पाद में तीन भवों की बात पर भी डॉ० अम्बेडकर को आपत्ति, इतराज है। उनके अनुसार अनात्मवाद के साथ पुनर्भव की बात बेतुकी है। यहाँ पर टिप्पणी के तौर पर इतना जोड़ देना आवश्यक है कि बौद्धों में पुनर्जन्म की अवधारण नहीं है। जो अवधारण है वह पुनर्भव की है। यह पुर्नभव का पूरा सिद्धान्त चित्त सन्ततिके सिद्धान्त पर आधारित है। यह सन्तति उस चित्त की संतति है जो अतीत भव में प्रत्युत्पन्न भव में और अनागत भव में सतत प्रवहमान है। वह कभी न एक चित्त के रूप में नहीं रहता बल्कि चित्त की श्रृंखला को बौद्ध आचार्य इसकी तुलना बहती नदी की धाराओं और दीपक की लौ से करते हैं।

डॉ० अम्बेडकर का मानना है कि जीवों के शरीर की बनावट के मूल में वैज्ञानिक भौतिक तत्त्व है। शरीरान्त होने पर वे भौतिक तत्त्व आकाश में व्याप्त भौतिक तत्त्वों की राशियों में विलीन हो जाते हैं। पुन: उन्हीं भौतिक तत्त्वों की राशियों से नये जीवों की उत्पत्ति होती है। अत: वह पुनर्जन्म या पुनर्भव तो है किन्तु उसी आत्मा या चित्त का नहीं।

यहाँ आचार्य अम्बेडकर से जो प्रश्न पूछा जाना चाहिये वह यह है कि आपकी व्याख्या और प्राचीन लोकायतिकों और चार्वाकों की व्याख्या में कहाँ अन्तर है। प्रस्तुत व्याख्याता के अनुसार दोनों एक ही हैं। कार्ल मार्क्स भी तो वही कहते हैं कि इस जगत् में सिर्फ भौतिक तत्त्व ही सत् या (Real) है। बाकी तत्त्व यहाँ तक कि मन, चित्त, विज्ञान या (Conscionness) भौतिक तत्त्वों की उपज हैं। इसी आधार पर मार्क्सवादी पुनर्जन्म को खारिज करता है। चूँकि वह आत्माकी अलग सत्ता को स्वीकार नहीं करता। अत: वह इस बात को मानने से इन्कार करता है कि एक जीव की आत्मा उस जीव के शरीर त्यागने पर उछल कर दूसरे जीव के शरीर में घुस जाता है। वह 'उछल कर घुस' की बात को बकवास कहता है। डॉ० अम्बेडकर भी उसी परिणाम पर पहुँच गये हैं। प्रस्तुत व्याख्याता भी इसी नतीजे पर पहुँचा है।

दुक्ख की बात और चार आर्यसत्यों की बात को नकारने के पीछे डॉ० अम्बेडकर एक दलील देते हैं और उस दलील के आधार पर सिद्धार्थ के पारम्परिक अभिनिष्क्रमण की बात को बाद के आचार्यों का मनगढ़न्त बताते हैं। उनके अनुसार किसी भी उन्तीस वर्ष के नौजवान ने रोगी, वृद्ध, शव और परिव्राजक को उसके पहले न देखा हो ऐसा नहीं हो सकता। वे अभिनिष्क्रमण का कारण रोहिणी नदी के पानी पर उठे विवाद को बताते हैं।

यहाँ पर टिप्पणी के तौर पर यह भी कहना आवश्यक है कि सिद्धार्थ ने रात के अंधेरे में महल से अभिनिष्क्रमण नहीं किया था, बल्कि उन्होंने दिन में अपनी माता व पिता के सामने सिर के केश दाढ़ी के बाल उतरवा कर प्रव्रज्या ली थी। मज्झिमनिकाय में बोधि-परियेषण कथा में वे स्पष्ट कहते हैं—'मातापितूनं रुदन्तानं केसमस्तुं ओहारित्वा अगारका अनगारियं पब्बजि।' इस प्रकार यह बात सिद्ध है कि उनके अभिनिष्क्रमण के विषय में पारम्परिक बातें बेबुनियाद हैं।

अन्त में प्रस्तुत व्याख्याता प्रथम उपदेश के विषय में बीसवीं सदी के आचार्य डॉ० अम्बेडकर की स्थापना पर सिर्फ इतना ही कहना चाहता है कि चार आर्य सत्यों की बात मूल देशना हो या न हो, यह तो समय से तय होगा, लेकिन भगवान् बुद्ध ने शायद दुक्ख की बात को पूरी तरह खारिज नहीं की होगी। जो उन्होंने खारिज की

वह यह कि सब कुछ दुक्ख है—सब्बं दुक्खं, सब्बे संखारा दुक्खा। भगवान् बुद्ध की तथा कथित प्रथम देशना को ध्यान से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। वहाँ भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि 'संखित्तेन पंचुपादानखन्धा दुक्खा'। अर्थात् जो उपादा-नक्खन्ध हैं वे ही दुक्ख है, न कि सभी खन्ध। उस उपदेशमें गिनाई गई आठ बातें ही दुक्ख हैं, वे हैं—१. जाति दुक्खा, २. जरापि दुक्खा, ३. व्याधिपि दुक्खो, ४. मरणपि दुक्खं ५. अधियेहि सम्पयोगो दुक्खो, ६. पियेहि विप्पयोगो दुक्खो ७. यं पि इच्छं न लभति तं पि दुक्खं और ८. संखत्तेन पञ्चुपादान खन्धा दुक्खा। इसका अर्थ यह हुआ कि उपादान-युक्त, तृष्णायुक्त, रागयुक्त धर्मों से, वस्तुओं से ही दुक्ख हैं न कि जगत् की सारी वस्तुओं से। इस प्रसंग में अपने उपदेश में भगवान् बुद्ध ने 'इदं दुक्खं अरियसच्चं' कहा है और सन्दर्भ में एक-एक को गिनाया है—जातिपि, जरापि, व्याधिपि आदि। इसमें इदं (Demostrative Adjective) है। वह एक-एक की ओर इशारा करके उन्हें गिनाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संकेत स्पष्ट हैं अस्पष्ट नहीं, व्यक्त है अव्यक्त नहीं उद्दिष्ट हैं अनुद्दिष्ट नहीं, निर्दिष्ट है अनिर्दिष्ट नहीं। अत: इनका ही ग्रहण अपेक्षित है न कि जगत् की सारी वस्तुओं का प्रस्तुत व्याख्याता का अनुमान है कि प्रस्तुत व्याख्या को ग्रहण करने में आचार्य अम्बेडकर को भी कोई आपत्ति नहीं होती यदि उस समय यह व्याख्या प्रस्तुत की गई होती।

✱

टिप्पणियाँ और सन्दर्भ

१. चौधरी, सत्यदेव, ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्त, अलंकार प्रकाशन, नई दिल्ली, २००५ पेज—२४८,२४९ ।

२. ऋग्वेद १.१६४.४
को ददर्श प्रथमं जायमानम्
स्थन्वन्तं यद् अनत्या विभर्ति
भूम्या असुर मृगात्मा क्व स्विक्त को

३. कथं नु खो भन्ते, इमे चत्तारो महाभूता अपरिसेसा निरुज्झन्ति? दीघनिकाय, भाग (प्रथम), पेज २२३ ।

४. अनमतग्गोऽयं .... संसारो, पुब्बा कोटि न पञ्ञायति । संयुक्त निकाय, २, पेज १७८ ।

५. दीघनिकाय, भाग १, पेज १६ (तक्की वीमंसी.........)

६. छान्दोग्य उपनिषद्, ८.७.१२

७. वही, ८.७.१

८. अस्यैव शरीरस्य नाशम् अन्वेष नश्यति।
वही, ८.९.१

९. वही, ८.१०.१

१०. परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन स्वेन रूपेण
अभिनिष्पद्यते............। वही, ८.११.२

११. अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते .... वही, ८.११.३

१२. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.३.१०, छान्दोग्य उपनिषद् ८.३.२

१३. बृहदारण्यक उपनिषद् २.१.१६-२०

१४. मज्झिम निकाय, भाग १, पेज २३२

१५. वही, भाग १, पेज २९४ हेतुवादा, लक्खणवादा, कारणवादा, दानवादा सकायद्धिया।

१६. दीघनिकाय, भाग १, पेज ३०-३१

१७. स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते; .... छान्दोग्य उपनिषद्, ८.१२.३ एवं सेतं तीर्त्वानधः सन्न अनन्धो भवति, विद्वो सन्न अविद्धो भवति, ... वही, ८.४.२; और ८.१२.३ में कहा गया है कि आत्मा संज्ञी होता है, क्योंकि यदि चाहे तो स्त्री रथ और संबन्धियों के साथ आनन्द प्राप्त कर सकती है।

१८. बृहदारण्यक, २.४.१२-१४ और ४.५१३-१५

१९. मर्त्यः स्विन मृत्युना वृक्षः कस्मात् मूलात् प्ररोहति, वही, ३.९.२८.४

२०. जात एव न जायते को नन्वेनं जनयेत् पुनः..........वही ३.९.२८.७

२१. न प्रेत्य संज्ञास्ति, ... वही, ४.५.१३

२२. वही, ३.५.१२

२३. अयं आत्मा अनन्तरोऽबाह्यः कृत्सनः प्रज्ञाधन एव, ...वही, ४.५.१३

२४. मज्झिमनिकाय, भाग २, पेज २३१

२५. वाक्योवाक्ये ब्रह्मोद्यं वदन्ति, ...शतपथ ब्राह्मण, ४.८.९.२०

२६. वही, ११.५.७.५

२७. वही, ११.५.६.८

२८. अर्ली बुद्धिस्ट थियरी आफ नालेज (के. एन. जयतिलक), पेज ४२

२९. शतपथ ब्राह्मण (द्वितीय) ४.१.१२-१५

३०. यूनान के मिलेटस नामक स्थान के दार्शनिक भी विचारधारा के इसी चरण में थे।

३१. छान्दोग्य उपनिषद् ५.२.१,२

३२. छान्दोग्य उपनिषद् ६.२.१

३३. छान्दोग्य उपनिषद् ५.३.१

३४. बृहदारण्यक उपनिषद् ४.१.१

३५. कौशितकी, ४.१

३६. दीकनिकाय, तीसरा भाग, पेज २६० अट्ठ परिसा-खत्तिय परिसा, ब्राह्मण परिसा, गहपति परिसा, समण परिसा, चातुमहाराजिक परिसा, तावतिंस परिसा, मारपरिसा, ब्रह्म परिसा।

मज्झिमनिकाय प्रथम, पेज ७२, अंगुत्तर निकाय, चतुर्थ पेज ३०७

३७. बृहदारण्यक उपनिषद् ३.१.९

३८. तस्मिन् यज्ञे प्रवत्तेऽपि वाग्मिनो हेतुवादिन:।
हेतुवादान् बाहुन् आहु: परस्परं जिगीषव:॥........
महाभारत, अश्वमेध पर्व, ८६.२७, भाग चौदह

३९. 'ब्राह्मणा वादसीला' .... सुत्तनिपात, ३८२

४०. निद्देसो, प्रथम भाग, पेज २९४

४१. दीघनिकाय, पहला भाग, पेज ११.९८ (लोकायतं)

४२. सुमगंलविलासिनी, प्रथम भाग, पेज ४१, सुत्तनिपात अट्टकथा पेज ४४७ (लोकायतं वुच्यति वितण्डावादसत्थं)

४३. वितण्डासत्थं विञ्चेय्यं यं तं लोकायतं .... अभिधानप्पदीपिका, ५.१२

४४. मनुस्मृति, २.११

४५. देखिये सद्धर्मलंकावतार सूत्र।

४६. दीघनिकाय, भाग प्रथम, प्रथमसुत्त

४७. वही, द्वितीय सुत्त

४८. महावग्ग (विनयपिटक) और संयुत्तनिकाय।

✻

बौद्ध धर्म-दर्शन पर भीमराव अम्बेडकर की टिप्पणियाँ

डॉ० अम्बेडकर के परिनिवार्ण दिवस पर संगोष्ठी में दिये गये व्याख्यान का सारांश

प्रो० संघसेन सिंह

अभ्यागत आचार्य, बौद्ध विद्या केन्द्र, गुरुगोविन्द सिंह भवन,
पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला (पंजाब) - १४७००२

आज की संगोष्ठी के अध्यक्ष माननीय प्रो० डॉ० अशोक कुमार कालिया महोदय, कुलपति सं० संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, भदन्त के० सिरी सुमेधथेरो, प्रो० परमानन्द सिंह, प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी, डॉ० हरप्रसाद दीक्षित, उपस्थित विद्वज्जन, बन्धुओं और भगिनियों,

आज के इस विशिष्ट अवसर पर परिनिब्बुत (परिनिर्वृत) डॉ० भीमराव आम्बेडकर के प्रति अपना आदर व्यक्त करते हुये मैं आप सबका सादर अभिनन्दन करता हूँ। डॉ० आम्बेडकर को गुजरे हुये आज इक्यावन वर्ष बीत गये। किन्तु अभी भी वे हमारी स्मृति-पटल पर संभवत: उसी प्रकार अंकित हैं जैसे पहले अपने जीवन-काल में थे। इस सम्बन्ध में बल्कि यों कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अब हम लोग उन्हें पहले से ज्यादा सिद्दत (आशक्तिभाव) से याद करते हैं, क्योंकि अब वे हमारे बीच नहीं हैं। डॉ० आम्बेडकर के असंख्य प्रशंसक आज के दिन को उनके परिनिर्वाण (पालि-परिनिब्बान) के रूप में जानते है और मनाते हैं— उनकी याद में आज की संगोष्ठी में सबसे पहला प्रश्न तो यही उठता है कि क्या उनके निधन-दिवस को परिनिर्वाण दिवस के रूप में मनाया जा सकता है। इस विषय में उनके प्रशंसक इसे पूरी तरह उचित, जायज माकूल और समयोचित मानते हैं, किन्तु परंपरावादी बौद्ध इसे विनय-विरुद्ध, धम्म विरुद्ध, आगम विरुद्ध, शास्त्र विरुद्ध, परंपराविरुद्ध, अनुशासन विरुद्ध आदि आदि मानते हैं और प्रयास करते हैं कि आम्बेडकर प्रशंसक परंपरा पालक बन जायँ और इस प्रकार की अनुशासन-तोड़क कार्रवाई न करें। परंपरावादियों का मानना है कि डॉ० आम्बेडकर ने एक गृहस्थ की हैसियत से शरीर त्याग किया, अत: वे निर्वाण-प्राप्त नहीं थे। जो निर्वाण-प्राप्त नहीं, उसका परिनिर्वाण कैसे हो सकता है। अत: उनके अनुसार डॉ० आम्बेडकर के मृत्युदिवस को परिनिर्वाण-दिवस के रूप में मनाना धम्मविरुद्ध है।

इस विषय में डॉ० आम्बेडकर के प्रशंसक अपने परमप्रिय नेता के नक्शे कदम पर चलते हुये कहते है कि आज पालि भाषा, संस्कृत भाषा, चीनी भाषा और तिब्बती भाषा में उपलब्ध आगम वाङ्मय और उत्तरकालीन शास्त्र वाङ्मय भिक्खुभाव से अत्यन्त गौरवान्वित है। उसमें भिक्खु ही विनय का धम्म का और शासन का नियामक है, व्यवस्थापक है, मुखिया, अगुआ है। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद भिक्खु ही बौद्ध समाज (भिक्खु परिषद्, भिक्खुणी परिषद्, उपासक परिषद् और उपासिका-परिषद्) के नेता बन बैठे और फलत: उन्होंने अपने अनुकूल सारी व्यवस्थायें कर डाली। नतीजा यह हुआ कि किसी बौद्ध उपासक या उपासिका को निर्वाण द्वार[१] तक भी नहीं पहुँचने दिया। यही कारण है कि डॉ० आम्बेडकर के विषय में परिनिर्वाण पद की प्राप्ति उनके लिये असंभव बात है, चौंकाने वाली तो है ही अनुचित तो है ही। यहाँ पर इस संगोष्ठी में[२] मुख्य वक्ता के रूप में मैं स्पष्ट कर दूँ कि मेरी दृष्टि में डॉ० भीमराव आम्बेडकर को परिनिब्बुत (परिनिर्वृत) कहना परम्परा-हनन नहीं, बुद्ध-शासन विरुद्ध नहीं, बल्कि बुद्ध-शासन का परिवर्धन और प्रकाशन (enrich and to shine) है।

प्राय: धार्मिक समाज में धर्म के दो रूप बन जाते हैं—एक तो उसका आगमिक और शास्त्रीय रूप, जो आगमों औ॰ शास्त्रों की मर्यादा से बँधा होता है और दूसरा सामान्य जन की मान्यताओं के अनुरूप। उदाहरण के लिये बुद्धत्व प्राप्त करना एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है, जो प्राय: एक जन्म में सम्भव नहीं। उसके लिये अनेक भवों में बोधिसत्त्व-चर्चायें पूरी करनी पड़ती हैं। तब प्रयुत्पन्न बुद्ध का व्याकरण होता है और फलत: अगले भव में उस बोधिसत्त्व महासत्त्व को बुद्धत्व लाभ होता है। किन्तु सद्धर्मपुण्डरीक में उल्लेख है कि यदि कोई व्यक्ति भगवान् बुद्ध की स्मृति में स्तूपों का निर्माण करता है या कराता है यहाँ तक कि बालू के स्तूप बनाता है, तो वह बुद्धत्व का लाभी हो जायेंगा। मेरी दृष्टि में यह बुद्धत्व लाभ सामान्यजनसुलभ बुद्धत्व है, जो असंख्य मनुष्यों के लिये तुष्टिप्रद है।

इसके पश्चात् बौद्ध दर्शन के आगमिक व शास्त्रीय बिन्दुओं पर डॉ० आम्बेडकर की टिप्पणियों पर चर्चा करने से पहले उनके व्यक्तित्व पर विचार कर लेना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में ही कोई व्यक्ति बौद्ध धर्म दर्शन के सन्दर्भ में डॉ०

---

१. भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में घटिकार जैसे उपासक निर्वाण-प्राप्त थे। देखिये सज्झिम निकाय।

२. दिसंबर ६, २००७ को श्रमणविद्या संकाय, सं० संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में आयोजित।

आम्बेडकर के विचार दर्शन (Ambedker thought) को पूरी तरह समझ पायेगा। डॉ० आम्बेडकर तर्कसंगत और न्याय-संगत विचार धारा के पक्षधर थे। वे शतप्रतिशत रेशनलिष्ट (Rationalist) मानवातावादी और मानवमूल्यों के पुजारी थे। वे किसी भी प्रकार के अन्ध विश्वासों (Blind faith) दैवी और शैतानी शक्तियों (Divine and vil Power) आदि की बातों को सिरे से खारिज कर देते थे। ऐसी स्थिति में डॉ० अम्बेडकर से यदि कोई यह आशा करे कि वे जातक-निदान में वर्णित बुद्ध-जन्म की घटनाओं को जैसी की तैसी मान लें, तो यह असंभव बात है। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ पैदा होते ही सात डग चलते हैं और उनके पैर कमल पर पड़ते हैं—धर्मान्धता का लक्षण है, अन्धविश्वास है। ऐसी बातें मध्यकालीन बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों में भरी पड़ी है। ऐसी स्थिति में डॉ० आम्बेडकर ने बुद्ध के जीवन-दर्शन के प्रत्येक बिन्दु की पड़ताल की, पहचान की, परीक्षा की और उन पर अपनी दो टूक राय दी। यही है डॉ० आम्बेडकर का अवदान और यही है उनका सफाई-अभियान। उन्होंने बौद्ध धर्म पर सदियों से चढ़े पुराणवादी मैल को धो डाला। यही है धर्म के क्षेत्र में आम्बेडकरवाद या अन्य शब्दों में धर्म के क्षेत्र में आम्बेडकरी विचार। (Ambedker Thought)

इस सम्बन्ध में यहाँ पर समयाभाव के कारण केवल कुछ ही बिन्दुओं पर बातें की जा सकती हैं। यह बात सर्वविदित है कि डॉ० आम्बेडकर अपने जीवन-काल में मौजूद बौद्ध धर्म और उसकी गतिविधियों से असन्तुष्ट थे। इस सब के बावजूद उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना और अपने अनुयायियों का 'धम्म' बनाया, यह उनकी विशेषता थी। इससे उनके विवेक और आत्मविश्वास (Dircection and confiedencs) पर प्रकाश पड़ता है, जिसके वे धनी थे। उन्हें विश्वास था कि एक बार अपने अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण करने पर वे उसमें ऐसा यथोचित परिवर्तन ला सकेंगे कि अर्धमृत अवस्था में पड़ा बौद्ध धर्म भारत का एक सबल धम्म (धर्म) बन जायेगा।

इस दिशा में डॉ० आम्बेडकर ने सक्रिय कदम उठा रखा था। बौद्ध धर्म के नये स्वरूप को प्रस्तुत करके डॉ० आम्बेडकर भारतीय समाज में सामाजिक बदलाव (समूचा, आमूलचूल चाहते थे। इस सम्बन्ध में वे तीन कार्य परमावश्यक मानते थे—

१. बौद्ध बाइबिल या बाइबिल जैसे (हाथ में रखकर यात्रा कर सकने लायक) बौद्ध ग्रन्थ की रचना।

२. भिक्खु संघ के उद्देश्यों और स्वरूप में परिवर्तन और

३. एक विश्व बौद्ध मिशन कायम करना।

इनमें से पहले कार्य के लिये डॉ० आम्बेडकर सन् १९४८-४९ (ईसवी) से ही लगे हुये थे। वस्तुत: उस समय वे बौद्ध के रूप में दीक्षित भी नहीं थे। बौद्ध तो वे उसके छ: सात साल बाद १९५६ में बने। वे बौद्धों की बाइबिल के रूप में अपने अन्तिम ग्रन्थ 'गौतम बुद्ध और उनका धम्म' (The Buddha and his Dhamma) के तैयार करने में जी-जान से लगे रहे, अपने जीवन की अन्तिम साँस तक। इसीलिये इस ग्रन्थ का प्रकाशन उनके निधन के बाद हुआ। किन्तु इस बात की प्रसन्नता है कि यह ग्रन्थ ऐसा दस्तावेज है, जो पेज दर पेज बौद्ध बाइबिलत्व[१] की निशानदेही करता है।

इस महान् ग्रन्थ में बाबा साहेब डॉ० भीमराव आम्बेडकर ने मुख्यत: चार सवाल उठाये हैं—

(१) बोधिसत्त्व सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमणत्व का मूल कारण,

(२) चार आर्च सत्यों के बुद्धवचनत्व का सवाल,

(३) अनात्म, कर्म और पुनर्जन्म (पुनर्भव) के सिद्धान्तों की बुद्धिवादी समीक्षा और

(४) भिक्खु-जीवन का वास्तविक उद्देश्य और लक्ष्य

इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न तो बोधिसत्त्व सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रिमण के विषय में उठाया गया है। डॉ० आम्बेडकर ने चार निमित्तों की बात को सिरे से खारिज़ कर दी है। उनका मानना था कि यह बात तर्कहीन और असंगत है कि उन्तीस वर्ष का राज कुमार बुढ़ापा (जरा), रोग (व्याधि), शव (लाश) और परिव्राजक से अनभिज्ञ और अपरिचित हो। उनके विवेचन के अनुसार (जिस ओर

---

१. **बौद्ध बाइबिलत्व—**
यह बात सच है कि बाबा साहेब डॉ० आम्बेडकर बौद्धों के लिये एक ऐसा ग्रन्थ चाहते थे, जो बाइबिल की तरह हैंडी (Handy) हाथ में रख कर यात्रा या भ्रमण करने लायक) हो। वे इसे इसलिये चाहते थे कि आवश्यकता पड़ने पर उदाहरण के लिये विधर्मियों से बहस-मुबाहिसों के अवसर पर उद्धृत किये जाने के लिये, किसी बात पर संशय पैदा होने पर उसे तुरन्त कंसल्ट या राय जानने के लिये आदि आदि) उसका सद्य: उपयोग (तुरन्त उपयोग) किया जा सके। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या डॉ० आम्बेडकर अपने ग्रन्थ 'दि बुद्ध एण्ड हिज धम्म' को वही दर्जा देना चाहते थे जो वाइबिल को सदियों से मिला है जेसा मैंने डॉ० अम्बेडकर को समझा है, वे ऐसा कभी नहीं चाहते थे। मुझे विश्वास है कि सौ-पचास वर्षों बाद जिस बात की ओर प्रस्तुत लेखक इशारा कर रहा है, वह स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, जब दुराग्रही बौद्ध बाबा साहेब की बातों की भावना (Spirit) को समझे बिना बाबासाहेब के विचारों को 'शब्द-प्रमाण' के रूप में इस्तेमाल करेंगे। अभी ही कई स्थलों पर ऐसी बातें सामने आई हैं। उदाहरण यथा समय दिये जायेंगे।

बुद्धचरित में भी संकेत है। रोहिणी नदी के पानी के बँटवारे पर उठे विवाद ने कालान्तर में ऐसा रूप लिया कि उन्हें (बोधिसत्त्व सिद्धार्थ को) घर-बार छोड़कर शान्ति की तलाश में संन्यास लेना पड़ा और अथक परिश्रम करके उस सिद्धान्त और मार्ग की गवेषणा करनी पड़ी, जिससे कोई भी व्यक्ति जन्म-मरण के बन्धन (= संसार) से मुक्त हो सकता है। फलत: राजकुमार का संन्यास और तदुपरान्त उनके जीवन की सारी घटनायें।

चार आर्यसत्य दुक्खवाद से प्रारंभ होते हैं। डॉ० आम्बेडकर का मानना था कि बुद्ध जैसा आशावादी और जीवन्त जीवट का व्यक्ति अपनी देशना दुक्ख के सर्व व्यापकत्व से नहीं कर सकता। दूसरे आर्य सत्य में प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियाँ या निदान बाबा साहेब के लिये एक पहेली थे। उनको पारंपरिक रूप में मानना पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर मुहर लगाना था, जो बाबा साहेब को कबूल नहीं था।

डॉ० आम्बेडकर ने अनन्त (अनात्म), कर्म और पुनर्जन्म (पुनर्भव) के सिद्धान्तों की बुद्धिवादी समीक्षा की। उनका मानना था कि अनात्मवाद और पुनर्जन्म का मेल नहीं बैठता। बाबासाहेब संभवत: उस विशाल साहित्य से परिचित थे जिसमें बौद्ध आचार्यों ने तरह-तरह के दृष्टान्त पेश करके अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्म का मेल बिठाया है। किन्तु डॉ० आम्बेडकर उनसे सहमत नहीं हो पाये।

डॉ० आम्बेडकर का मानना था कि पृथिवी, अप्, तेजस् और वायु से बना यह शरीर मरने के बाद नष्ट होकर पृथिवी, जल, तेज और वायु से बने वातावरण में मौजूद उनकी राशियों में विलीन हो जाते हैं। किसी मनुष्य या अन्य जीव के जन्म ग्रहण करने पर वातावरण में मौजूद उन उन राशियों से वे तत्त्व (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) निकल कर मानव या किसी अन्य जीव के शरीर का निर्माण कर देते हैं या उनका इस प्रक्रिया से निर्माण हो जाता है। अत: उसमें किसी आत्म तत्त्व का कोई भी हाथ नहीं। कोई भी आत्मतत्त्व एक शरीर से उछल कर या कूद कर किसी अन्य में प्रविष्ट हो जाता हो ऐसा कोई अनात्मवादी मानने के लिये तैयार नहीं, बाबा साहेब भी तैयार नहीं थे।

डॉ० आम्बेडकर ने कर्म-सिद्धान्त पर निर्मम प्रहार किया है। इसे वे दलित और पिछड़े लोगों के शोषण का मूल कारण मानते थे। यह कहना कि अपने पूर्व जन्मों के संचित प्रारब्ध के कारण कोई तथाकथित उच्च वर्ण में और कोई तथा कथित निम्न वर्ण में पैदा होता है, तर्कहीन और असंगत बात है। इस प्रकार डॉ० आम्बेडर ने अनात्मवाद, पारंपरिक कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया था।

बाबा साहेब डॉ० आम्बेडकर भिक्खु संघ के पुनर्गठन की बात करते थे। वे भिक्खुओं को पूरी तरह समाज-सेवी के रूप में देखना चाहते थे। उनके अनुसार आज का भिक्खु मन्त्र-जाप, पूजा-पाठ, विहारों में बैठकर तथाकथित साधना में अपना समय गँवाता है। उसे तो समाज में सक्रिय रह कर लोगों के दुक्ख-दर्द मिटाने, दूर करने में लगना चाहिये। लेकिन वे ऐसा प्राय: नहीं करते। डॉ० आम्बेडकर ने भिक्खुओं, भिक्खुनियों, सामणेरो, सामणेरियों, उपासकों, उपासिकाओं के लिये बने सिक्खापदों में से कुछ की नई व्याख्यायें प्रस्तुत की। उदाहरण के लिये प्रथम सिक्खापद—'पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि' (प्राणिवधविरति शिक्षापद) के विषय में उनका मानना था कि प्राणी-हिंसा के विषय में परिभाषा बदली जानी चाहिये। हिंसा को दो रूपों में देखने की आवश्यकता है—१. मारने की चाहत या नीयत (Will to kill) और २. मारने की आवश्यकता (Need to Kill) उनका मानना था कि मारने के लिये मारने की नीयत होना गलत है, विनय-विपरीत हैं, दोषयुक्त है जबकि आवश्यकता पड़ने पर मारना दोष-मुक्त है। ऐसा प्रावधान करके डॉ० आम्बेडकर ने दलितों, शोषितों, त्रस्तों आदि के लिये शोषकों और अत्याचारियों के खिलाफ बगावत करने और हथियार उठाने की छूट दे दी।

इस प्रकार हम पाते हैं कि बौद्ध धर्म दर्शन पर डॉ० आम्बेडकर के विचार उनकी टिप्पणियाँ, तर्कसंगत, बुद्धि परक और जनहित प्रवण थीं। उन्होंने बौद्ध धर्म की नई व्याख्या प्रस्तुत करके एक दूरगामी सन्देश दिया है, जो आज के लिये ही प्रासंगिक नहीं, बल्कि सदियों तक प्रासंगिक रहेगा।

*

अनात्मवाद निरास : जैन शास्त्रों के परिपेक्ष्य में

प्रो० फूलचन्द जैन प्रेमी
आचार्य जैनदर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

जैनदर्शन का आधार—

भारतीय दर्शन और धर्म के विचारक और चिन्तकों ने आत्मा, परमात्मा और विश्व के सम्बन्ध में बहुत ही गहन चिन्तन, मनन और अन्वेषण किया है। इस अनुसन्धान में उन्होंने जो कुछ पाया तथा आत्मविकास और आत्मविशुद्धि के लिए जो यथार्थ मार्ग देखा एवं समझा, उसे अपने अनुयायियों को सिखाकर, उस अनुभूति की ज्ञानधारा को सतत् प्रवहमान रखने का प्रयत्न किया। इस अध्यात्म-ज्ञान परम्परा को भारतीय साहित्य में श्रुत, श्रुति, सूत्र और आगम कहा गया। श्रुत का अर्थ है—सुना हुआ। श्रुति का अर्थ है—सुनी हुई। वैदिक परम्परा में वेदों को श्रुति कहा गया है। जैन परम्परा में वीतराग वाणी को श्रुत, सूत्र और आगम कहा गया है। बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में सूत्र शब्द मिलता है, जिसका अर्थ वही है, जो श्रुत और श्रुति का है।

जैन परम्परा के अनुसार गणधर तीर्थंकर की वाणी को ग्रहण करके सूत्र रूप में उसकी रचना करते हैं। गणधर-गुम्फित इस श्रुत साहित्य को सूत्र, शास्त्र और आगम कहा जाता है। जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर अपने शासन काल में द्वादशांग वाणी की देशना करते हैं। अनन्त अतीत के तीर्थंकरों ने जो कुछ कहा वही तत्त्वज्ञान वर्तमान काल के ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकरों ने भी कहा है और अनन्त अनागत के तीर्थंकर भी वही कहेंगे। अत: प्रवाह की दृष्टि से द्वादशांग आगमों की वाणी अनादि और अनन्त है। परन्तु किसी व्यक्ति विशेष की दृष्टि से वह सादि और सान्त भी है। प्रवाह रूप में वीतराग वाणी-द्वादशांग वाणी अनादि और अनन्त होने पर भी वह कृतक् ही है अकृतक नहीं। वह पौरुषेय ही है, अपौरूषेय नहीं। जबकि वैदिक परम्परा वेदों को अपौरूषेय मानती है। किन्तु वाणी तो भाषा का ही रूप है और भाषा है—शब्दों का समूह। शब्द हैं, अक्षरों का समुदाय। वाणी, भाषा, शब्द और अक्षरों का निर्माता सशरीर व्यक्ति ही हो सकता है, अशरीरी ईश्वर नहीं।

क्योंकि वाणी, भाषा और शब्द किसी शरीर के प्रयत्न से ही उत्पन्न हो सकते हैं। अत: कोई भी वाणी पौरुषेय ही होती है, अपौरूषेय नहीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शब्द की अपेक्षा से शास्त्र अनित्य हैं, किन्तु भाव की अपेक्षा से शास्त्र अनादि और अनन्त हैं। भाव का अर्थ है—विचार, विचार का अर्थ है—ज्ञान। भारतीय दर्शन में और विशेषत: वेदान्त एवं जैन दर्शनों ने ज्ञान को अनन्त माना है। न कभी वह उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट होता है। जैनदर्शन और जैनधर्म का आधार आचारांग, सूत्रकृताङ्ग आदि रूप यह द्वादशांग वाणी आगम, श्रुत, सूत्र और शास्त्र ही है।

सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों को समग्र रूप में जानने-समझने के लिए जैनदर्शन का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य है, अन्यथा वह अध्ययन अधूरा ही कहा जाएगा, क्योंकि जैन दर्शन के अनैकान्तिक दृष्टिकोण के कारण संसार की सम्पूर्ण दृष्टियाँ, जैनदर्शन में जिसे नयवाद कहा है, वे सापेक्षिक रूप में प्रस्तुत होती हैं और उनकी निरपेक्ष स्थिति को वह (जैनदर्शन) तर्क की कसौटी पर कसकर उनका सम्यक् मूल्यांकन करता है और उनकी ऐकान्तिक धारणा का निराकरण करता है। नयवाद जैनदर्शन का प्राण है।

यद्यपि जैनदर्शन की नय प्रक्रिया समझना सरल नहीं है। इसका अन्यथा प्रयोग वस्तुतत्त्व का विपर्यास करा सकता है। अत: जिस प्रकरण में जिस विवक्षा से, जिस नय का प्रयोग किया गया है उस प्रकरण में उसी विवक्षा से समस्त परिभाषाओं को देखना और लगाना आवश्यक है। किसी एक परिभाषा को शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से लगाकर तथा अन्य परिभाषाओं को व्यवहार दृष्टि से पकड़कर घोलघाल करने में जैन दर्शन का यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता किन्तु विपर्यास ही हाथ लगता है।

प्राचीन जैन दार्शनिक साहित्य में सभी भारतीय दर्शनों को पूर्वपक्ष के रूप में जिस मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है, वह पूर्वपक्षों की प्रस्तुति का यथार्थ परक आदर्श उदाहरण है।

वस्तुत: जैन-आचार्य अपने दार्शनिक मौलिक ग्रन्थ या टीकायें आदि लिखने के पूर्व तत्कालीन प्रचलित, प्रसिद्ध और उपलब्ध सभी दर्शनों के मूल ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन करते और तभी उन्हें पूर्वपक्ष के रूप में पूरी ईमानदारी से अपनी भाषा और भावों में और कहीं-कहीं तो उन मूल ग्रन्थों के अंशों को यथावत् प्रस्तुत करना अपना कर्तव्य समझते थे। इसीलिए उत्तरपक्ष के रूप में उनकी समीक्षा या खण्डन आदि अकाट्य होते थे। इसके विपरीत अन्य भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में जैनदर्शन के सिद्धान्तों की पूर्वपक्ष के रूप में मौलिक प्रस्तुति में आग्रह पूर्ण दृष्टि ही नजर आती है।

ईमानदारी पूर्वक अन्यान्य भारतीय दर्शनों को प्रस्तुत करने हेतु उन-उन दर्शनों के मूल ग्रन्थों के अध्ययन की जैनाचार्यों की प्रवृत्ति गहरी रही है, यही कारण है कि देश के हजारों जैन शास्त्र भण्डारों में प्रचलित और प्रसिद्ध हजारों जैनेतर दर्शनों के मूल ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी विद्यमान हैं, जबकि जैनेतर शास्त्र भण्डारों में जैन दार्शनिक प्राचीन ग्रन्थों की मूल हस्तलिखित प्रतियाँ शायद ही कहीं सुरक्षित हों। जैनशास्त्र भण्डारों में सुरक्षित पाण्डुलिपियों के आधार पर विभिन्न दर्शनों के अनेक ऐसे दुर्लभ एवं विलुप्त ग्रन्थों का प्रकाशन भी सम्भव हो सका जो उन-उन दर्शनों के नामशेष थे या उन्हें पूर्णतः विलुप्त मान लिया गया था।

अनेक भारतीय दर्शनों में अन्यान्य दर्शनों की अपेक्षा जैन दार्शनिक ग्रन्थों में बौद्धदर्शन एवं उसकी विभिन्न शाखाओं और उनके मतों का विशद विवेचन एवं उनकी मीमांसा तो देखते ही बनती है। यही कारण है कि जैन ग्रन्थों में बौद्ध दर्शन की पूर्वपक्ष के रूप में मौलिक प्रस्तुति के आधार पर कुछ विलुप्त और दुर्लभ महत्त्वूपर्ण बौद्ध ग्रन्थों का उद्धार एवं प्रकाशन सम्भव हो सका।

प्राय: सभी प्राचीन जैन दार्शनिक ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में श्रमण परम्परा के ही बौद्धदर्शन की उपस्थिति विशेष देखी जा सकती है। यद्यपि भगवान् बुद्ध जैनधर्म के अन्तिम एवं चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के समकालीन थे और इनके पूर्व जैनधर्म के तेईस तीर्थंकर हो चुके थे, अत: जैनधर्म दर्शन काफी प्राचीन है, और आचार-विचार में अनेक समानतायें रहने के बावजूद सैद्धान्तिक और वैचारिक आदि मत भिन्नताओं के कारण प्राय: सभी दार्शनिक जैनशास्त्रों में पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध मतों का सर्वाधिक उल्लेख ही नहीं, अपितु उनका सयुक्तिक खण्डन भी किया गया मिलता है। वह भी बौद्धदर्शन के आचार्यों, शास्त्रों और मतों के प्राय: तद्-तद् ग्रन्थों के मूल अंशों को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करके उनकी उत्तरपक्ष के रूप में विशद् मीमांसा पूर्वक खण्डन प्रस्तुत करके जैनाचार्यों ने सम्पूर्ण दार्शनिक जगत् में एक आदर्श एवं अपना वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया है।

वस्तुत: जैनाचार्य किसी भी दर्शन के मतों का खण्डन करते थे, तो उसके पूर्व तद्-तद् मूल ग्रन्थों का संग्रहकर उनका गहन अध्ययन और मनन करने के बाद उनकी मीमांसा करते थे। प्रमाण स्वरूप आज भी विभिन्न भारतीय दर्शनों के प्राचीन शास्त्र हस्तलिखित जैन शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध होते हैं, जबकि जैनेत्तर शास्त्र भण्डारों में प्राचीन हस्तलिखित जैन शास्त्र बहुत कम ही देखने में आते हैं।

भारतीय दर्शनों में बौद्ध और चार्वाक दर्शन अनात्मवादी दर्शन हैं। जैनदर्शन विशुद्ध आत्मवादी दर्शन है। आचारांग जैनधर्म दर्शन का प्रथम अंग आगम है। अत:

इस सहित बारहवों अंग आगमों तथा इसके बाद के सभी जैनशास्त्रों में आत्मा का प्रमुखता से प्रतिपादन मिलता है। अतः स्वाभाविक है कि अनात्मवाद का खण्डन और आत्मवाद की स्थापना करना जैन दार्शनिकों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत निबंध में आचार्य अकलंकदेव कृत सिद्धिविनिश्चय एवं इसकी आ० अनन्तवीर्य कृत टीका (संपादक—डॉ० महेन्द्र कुमार जैन, न्यायाचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) तथा आ० प्रभाचन्द्र कृत न्यायकुमुदचन्द्र (परिशीलन कर्ता प्रो० उदयचन्द्र जैन, प्रकाशक—प्राच्य श्रमण भारती मुजफ्फरनगर)—यहाँ मात्र इन दो ग्रन्थों के आधार पर यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में अनात्मवाद का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। तथा उत्तरपक्ष के रूप में जैनदर्शन सम्मत आत्मवाद की स्थापना करते हुए इसका मण्डन भी प्रस्तुत किया जा रहा है।

आत्मा (जीव) का स्वरूप—भारतीय दर्शन ही क्या विश्व के दर्शनों में 'आत्मा' एक समस्या एवं जिज्ञासा का विषय रही है। चार्वाक को छोड़कर शेष सभी दर्शनों ने जड़तत्व से पृथक् आत्मतत्त्व स्वीकार किया है जो परलोकगामी होता है तथा बन्धन मुक्त हो जाता है, भले ही उसे चित्तप्रवाह कहा हो या अन्य कोई संज्ञा दी हो। चार्वाक चैतन्य शक्ति तो मानता है पर उसका उद्‌गम पृथिवी, जल आदि भूतचतुष्टय के विशिष्ट रासायनिक मिश्रण से स्वीकार करता है। (पृथिव्यपस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रिय विषयसंज्ञा:') उसके मत से पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—ये चार ही मूल तत्त्व हैं। इनके समुदाय से शरीर इन्द्रियाँ आदि उत्पन्न होती हैं और उनसे ('तेभ्यश्चैतन्यम्' तत्त्वसं०प०पृ०५२० में उद्धृत) चैतन्य अभिव्यक्त या उत्पन्न होता है। शरीर के नष्ट होते ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसके मत से किसी परलोकगामी जीव की सत्ता नहीं है।

वैदिक परम्परा में अन्न (तैत्ति० २/१/२/), प्राण (छान्दोग्य० ४/३/३), इन्द्रिय (बृहदा० १/५/२१), मन (तैत्ति० २/३), प्रज्ञा (कौषीतकी ३/२), प्रज्ञान (ऐतरेय ३/२), विज्ञान (तैत्ति० २/४/) और आनन्द (तैत्ति० २/५) रूप में आत्मा का वर्णन मिलता है। फिर उसका चेतन (तैत्ति० २/६) ब्रह्म रूप में भी निरूपण है। वृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/२०) आदि में इसका अजर, अमृत, अव्यय, अज और शाश्वत के रूप में विस्तृत वर्णन आता है। इस तरह सामान्यतया उपनिषद् धारा में आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व मानने का विचार बहुत प्राचीन काल से रहा है। उपनिषद् वादी जैनदर्शन की तरह आत्मा को नित्य मानकर उसे रागादि द्वन्द्वों से रहित वीतराग बनाना चाहते थे, तो बुद्ध उसे क्षण परिवर्तित मानकर भी बनाना चाहते थे। दोनों का लक्ष्य एक था, पर विचार या दृष्टिकोण जुदे-जुदे थे।

जैनदर्शन में आत्मा (जीव) का स्वरूप— जैनदर्शन में जीव (आत्मा) के विषय में कहा है—

> **"जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।**
> **भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोद्‌ढगई।।"**
>
> (द्रव्यसंग्रह गाथा-२१)

जीव उपयोग रूप है, अमूर्त है, कर्त्ता और भोक्ता है, स्वदेहपरिमाण है, संसारी है और सिद्ध हो जाता है। वह स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील है। वस्तुतः जैनदर्शन में जीव और आत्मा पर्यायवाची शब्द हैं। अतः यहाँ चैतन्य ही जीव का स्वरूप है, वही चैतन्य ज्ञान और दर्शन अवस्थाओं में परिणत होता है। न्यायवैशेषिक आत्मा से ज्ञान को भिन्न मानकर उसे ज्ञानादि का समवाय मानते हैं, जबकि जैन दर्शन चैतन्य को स्वरूप-भूत गुण मानते हैं।

जीव (आत्मा) को अमूर्त सभी जीववादी मानते हैं किन्तु जैनदर्शन संसारी अवस्था में कर्म-पुद्‌गलों से बन्धन युक्त रहने के कारण व्यवहार नय से उस आत्मा को मूर्तिक भी मानता है। सांख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। बौद्धों के यहाँ परिणमन है, पर परिणमनों का आधार कोई नहीं है। जबकि जैनदर्शन परिणमन भी मानता है और उसका आधार भी। इसीलिए संसार अवस्था में जब कर्म पुद्‌गल रूप वैभाविक (विकारी) परिणमन होता है तब उसे कथञ्चित् मूर्त एवं स्वयं कर्ता और भोक्ता भी माना गया है। जबकि सांख्य के अनुसार कर्तृत्व प्रकृति में तथा भोक्तृत्व आत्मा में है। सांख्य में सब कुछ परिणमन प्रकृति में होता है। किन्तु पुरुष में भोक्तृत्व मान लिया जाता है। बौद्ध ने कर्तृत्व और भोक्तृत्व एक ही चित्तधारा में घटाया है।

जैनदर्शन का आत्मा तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमन करने के कारण कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर्याय से स्वयं परिणत होता है। अनादि काल से वह मूर्त कर्म पुद्‌गलों से बद्ध होता चला आ रहा है। इसी अनादि काल से ही वह कथंचित् मूर्त है और कर्मानुसार प्राप्त छोटे-बड़े शरीर के अनुसार वह आत्मा संकोच और विस्तार करके उस शरीर के प्रमाण आकार वाला होता है। चूंकि स्वभावतः वह अमूर्त-द्रव्य है, पुद्‌गल से जुदा है और कर्म वासनाओं के कारण संसार अवस्था में वह विकृत हो रहा है। अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप रत्नत्रय आदि प्रयत्नों से धीरे-धीरे शुद्ध होकर कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। कारण यह बताया गया है कि जीव के प्रदेशों में संकोच और विकास दोनों ही कर्म सम्बन्ध से होते हैं। जब कर्म-बन्धन छूट गया तब जीव के प्रदेशों के फैलने का भी कारण नहीं रह जाता, अतः वे अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकार वाले रह जाते हैं।

आत्मा के आकार सम्बन्धी अवधारणायें—आत्मा के आकार के सम्बन्ध में उपनिषदों के अपने-अपने मत हैं—उसे अणु-परिमाण (मैत्र्यु० ६/३८) चावल (बृहदा० ५/६/१) या जव के दानों के बराबर, अंगुष्ठप्रमाण (कठोप० २/२/१२) और बिलतप्रमाण (छान्दो० ५/१८/१) आदि रूप से माना है। आत्मा को देहपरिमाण मानने के विचार भी उपनिषदों में पाये जाते हैं। (तैत्ति० १/२ एवं कौषतकी ४/२०) किन्तु अन्ततः उपनिषदों का झुकाव उसे सर्वगत मानने की ओर है। चार्वाक का देह को आत्मा मानने और जैनदर्शन का आत्मा को देहपरिमाण मानने में मूलभूत भेद यही है कि जैन आत्मा को स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं, जबकि चार्वाक के यहाँ उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

आत्मा को मानने वाले दर्शनों व्यापक के मत से मुक्त अवस्था में भी आत्मा जहाँ का तहाँ बना रहता है। व्यापक होने के कारण उसका प्रकृति और मन से संयोग भी बना रहता है। अन्तर इतना ही हो जाता है कि जो प्रकृति संसार अवस्था में उसके प्रति प्रवृत्ताधिकार थी वह निवृत्ताधिकार हो जाती है। जो मन अपने संयोग से संसार दशा में पुरूष में बुद्धि, सुख-दुख आदि उत्पन्न करता था वह मोक्ष अवस्था में उसके प्रति नपुंसक हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि मुक्ति प्रकृति या मन की हुई। आत्मा ने तो अपने नित्य सर्वगत स्वभाव को न पहिले छोड़ा था न अब नया ही प्राप्त किया है, वह तो जैसा का तैसा है।

बौद्धदर्शन का अनात्मवाद और जैनदार्शनिकों द्वारा उसका खण्डन—जैनाचार्यों ने बौद्धदर्शन पर कलम चलाने से पूर्व बौद्धदर्शन एवं उनके मूलशास्त्रों का निष्ठा के साथ अध्ययन-मनन किया था। इस कार्य में उन्हें अनेक बाधाओं का भी सामना करना पड़ा। इसके उदाहरण हैं आ० अकलंकदेव जैसे प्रखर तार्किक, जिन्होंने अपने प्राण हथेली पर रखकर प्रच्छन्न रूप से बौद्धमठों में जाकर बौद्धदर्शन का गहन अध्ययन किया और प्रायः बौद्धों के प्रत्येक सिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर तौलकर अनेकान्त की दुन्दुभि बजाई। प्रमाणवार्तिक आदि धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के प्रकाशन के पूर्व आ० अकलंकदेव तथा आ० विद्यानन्द जैसे महान् आचार्यों के जैनदार्शनिक ग्रन्थों का आधार लेकर ही दिङ्नाग सम्प्रदाय के मन्तव्यों पर प्रकाश डाला जा सकता था। इन आचार्यों ने प्रमाणवार्तिक की अनेक कारिकाओं को अविकल रूप में उदाहृत किया है और उनके स्वरूप को विस्तृत और प्रभावक रूप में सबके सामने रखा है।

---

१. सिद्धिविनिश्चय प्रस्तावना पृष्ठ १३७

जैन आचार्य जब पूर्वपक्ष का प्रतिपादन करते हैं तो ऐसा लगता है कि पूर्वपक्ष के माध्यम से तत्तत् दर्शनों के आचार्यों की आत्मा बोल रही हो। पूर्वपक्ष को तोड़ मरोड़कर रखने का प्रयास जैनाचार्यों ने कभी और कहीं भी नहीं किया। अत: स्पष्ट है कि बौद्धदर्शन के अध्ययन की दृष्टि से जैनाचार्यों के कार्यों का मूल्यांकन अनूठा और महत्त्वपूर्ण है।

बौद्धदर्शन का अनात्मवाद—बुद्ध स्वयं अनात्मवादी थे किन्तु उन्होंने अपने अनात्मवाद में उपनिषद् के नित्यशाश्वत आत्मा का निषेध किया है, न कि आत्मा के अस्तित्व का ही। वे आत्मा को जिस प्रकार नित्य या शाश्वत नहीं मानना चाहते थे, उसी प्रकार चार्वाकों की तरह उच्छिन्न भी नहीं मानना चाहते थे। उन्हें जिस प्रकार शाश्वतवाद में खतरा दिखाई देता था उसी तरह उच्छेदवाद में भी। इसीलिए उन्होंने आत्मा के स्वरूप को पहिले तो 'अव्याकृत' ही रखा। यदि किसी ने कहलवाने का प्रयत्न भी किया तो उन्होंने इतना ही कहा कि न वह शाश्वत है और न उच्छिन्न। दो 'न' के सहारे उन्होंने आत्मा को 'अशाश्वत अनुच्छिन्न' रूप से व्यक्त किया है।

बुद्ध जन्म-मरण, परलोक, बन्धन और निर्वाण आदि सभी मानते थे, पर इनका आधार स्थायी तत्त्व नहीं मानना चाहते थे। उन्हें जिस प्रकार शाश्वत आत्मवाद में आत्मा के निर्विकारी या अपरिणामी रहने से ब्रह्मचर्य, दीक्षा आदि उपायों से आत्मसंशोधन या निर्वाण असम्भव दिखता था, उसी तरह चार्वाक के उच्छेदवाद में भी ब्रह्मचर्य आदि की निरर्थकता साफ-साफ दिखाई देती थी। इसी से अपने भिक्षुओं को वे इन दोनों अन्तों से बचने की सलाह देते थे। उनका कहना था कि चित्त प्रवाह प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ बहता चला आ रहा है, पूर्व से उत्तर उत्पन्न होता जाता है। पूर्व नष्ट होता है तो उसी उपादान से उत्तर उत्पन्न हो जाता है। जो भी संस्कार पूर्व में प्राप्त थे वे उत्तर में परिवर्तित होने पर भी आते हैं। अत: ब्रह्मचर्य आदि से यदि चित्त को अभिसंस्कृत किया जाता है तो उससे आगे उत्पन्न होने वाला चित्त क्रमश: निरास्रव बन सकता है। इसमें ब्रह्मचर्य दीक्षा आदि की निर्वेद, वैराग्य, निरोध और निर्वाण आदि के लिए सार्थकता है।

आत्मा और ज्ञान—बौद्ध विज्ञानधारा मानते हैं। उनका मत है कि अनादि काल से कारण-कार्यरूप विज्ञानधारा चली आती है। वही आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान के क्रम से ज्ञेयों का प्रतिभास करती है। कोई स्थिर द्रव्य इस धारा का आधार भूत नहीं है। जब चित्तसन्तति निरास्रव अर्थात् अविद्या और तृष्णा से शून्य होती है तब वह शुद्ध और निर्मल हो जाती है। यह एक दार्शनिक पक्ष चित्तनिर्वाण के विषय में पाया जाता है, पर चित्त निर्वाण को जब स्वयं बुद्ध ने अव्याकृत कोटि में रखा

था, तब बहुत काल तक निर्वाण के विषय में प्रदीप निर्वाण का पक्ष ही मुख्य रूप से प्रचलित रहा। उनका कहना है कि जिस प्रकार तेल के जल जाने पर प्रदीप बुझ जाता है। हम नहीं बता सकते है कि वह किस दिशा, विदिशा, आकाश या पाताल- कहाँ गया? उसी तरह निर्वृत चित्त न किसी दिशा में जाता है, न विदिशा में, न आकाश में, न भूमि में। वह तो क्लेश के क्षय से शान्त हो जाता है। इसी तरह चित्तसन्ततिका उच्छेद निर्वाण है। यह पक्ष प्रचलित है।

इससे स्पष्ट है कि बौद्ध परम्परा में ज्ञान जड़ पदार्थों का धर्म नहीं है किन्तु वह चित्त-प्रवाहरूप है। निर्वाण अवस्था में चित्त का क्या होता है इस विषय में तथागत बुद्ध ने मौन रखा या उसे अव्याकृत कहा है। किन्तु प्रदीप निर्वाण की तरह आत्मनिर्वाण की कल्पना यानी चित्त के सर्वथा उच्छिन्न होने की बात पदार्थ स्थिति के मूल दार्शनिक सिद्धान्त के विरूद्ध है। यह तो चार्वाक जैसा ही हुआ।

जिस प्रकार चार्वाक चित्त या जीव का उच्छेद शरीर के साथ ही स्वीकार करता है, उसी प्रकार बौद्धों ने भी उसका संसार के साथ उच्छेद मान लिया है। अन्तर यह अवश्य है कि चार्वाक उसका प्रारम्भ गर्भ से मानता है, तो ये उसका 'प्रारम्भ' न मानकर उसे अनादि मानते हैं। पर आत्मा या चित्त न चार्वाक के मत में मौलिक तत्त्व हुआ और न प्रदीपनिर्वाणवादी बौद्धों के यहाँ।

"आ० शान्तरक्षित का नव चिन्तन्"— बौद्धों में जब दार्शनिक वाद-विवाद का युग आया और चारों ओर से उनपर इस उच्छेदवाद के दूषणों की बौछार पड़ने लगी तो शान्तरक्षित और तत्पूर्ववर्ती कुछ बौद्ध आचार्यों ने मुक्ति में शुद्धचित्त की सत्ता स्वीकार करने के मत का प्रतिपादन किया। तत्त्वसंग्रह पंजिका (पृ० १०४) में आ० कमलशील यह प्राचीन श्लोक उद्धृत करते हैं—

"चित्तमेव हि संसारी रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ।।"

अर्थात् जो चित्त रागादिक्लेश से वासित होकर संसार कहलाता है वही जब रागादिक्लेशों से रहित हो जाता है। तो भवान्त कहा जाता है। इतना ही नहीं शान्तरक्षित तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों (तत्त्व सं० पृ० १८४) में लिखते है। कि— 'मुक्तिर्निर्मलता धियः'—अर्थात् बुद्धि की निर्मलता ही मुक्ति है। इस चित्तशुद्धि रूप मुक्ति का प्रतिपादन करने पर ही उनकी दार्शनिक वाद-विवाद में रक्षा हो सकी है।

जैन दृष्टि से आत्मसिद्धि—देह से भिन्न आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए अहम् प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दुःखी आदि के रूप में

प्रत्येक प्राणी के अनुभव में आता है। मनुष्यों के अपने-अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते है, जिनके अनुसार वह इस जन्म में अपना विकास करता है। जन्मान्तर के स्मरण की अनेकों घटनायें सुनी जाती हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीर को छोड़कर आत्मा नये शरीर को धारण करता है।

आ० कुन्दकुन्द नियमसार (गा० १६०) में "दिट्ठी अप्पयासया चेव" लिखकर दर्शन आत्मप्रकाशक होता है, यह पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि दर्शन आत्मप्रकाशक होता है, परद्रव्यप्रकाशक नहीं—यह मत बहुत पुराना है। यह मत जैन सिद्धान्तियों का ही है। कुन्दकुन्दाचार्य आगे की चर्चा में नय दृष्टि से इस मत का समर्थन करते हुए भी अन्त में आत्मा से अभिन्न होने के कारण दर्शन को भी स्वपरप्रकाशक कहते हैं—

जैन परम्परा में वस्तुमात्र को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक माना जाता है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ चाहे वह जड़ हो या चेतन, प्रतिक्षण अपनी पूर्वपर्याय को छोड़ता है, नूतन पर्याय को धारण करता है और उनके अनादि-अनन्त प्रवाहरूप ध्रौव्य को स्थिर रखता है। इस ध्रौव्य के कारण प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी, द्रव्य इतना नहीं बदलता कि वह अपना तद्द्रव्यत्व ही समाप्त कर दे और न उपनिषद् वादियों की तरह कूटस्थ नित्य ही रहता है कि उसमें कोई परिवर्तन या परिणमन ही न हो।

यही परिणामी आत्मा उपयोग स्वरूप है, चैतन्य स्वरूप है। यही उपयोग या चैतन्य जब ज्ञेय को जानता है, अर्थात् ज्ञेयाकार होता है तब साकार **ज्ञान** कहलाता है और जब स्वरूप का संचेतन करता है, तब दर्शन कहलाता है। उपयोग या चैतन्य क्रमशः ज्ञान और दर्शनरूप से परिणित करते हैं।

तात्पर्य यह कि ज्ञान आत्मा की पर्याय है और ऐसी पर्याय है, जिसमें ज्ञेय का प्रतिभास होता है, इसे गुण भी कहते हैं, क्योंकि यही सामान्य ज्ञान अपनी घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि अवान्तर पर्यायों के रूप में परिणत होता है। इस ज्ञान का आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। अन्तर इतना ही है कि **आत्मा** ज्ञान-दर्शन-सुख आदि का आधार है, जबकि **ज्ञान** उसका एक गुण या अवस्था विशेष है। एक चैतन्य की दृष्टि से ज्ञान एक पर्याय है, पर अपनी अवान्तर पर्यायों की दृष्टि से वही अन्वयी होने से गुण है।

इस प्रकार जैनदर्शन में आत्मवाद की मात्र सिद्धि ही नहीं की गई, अपितु आत्म सम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचन भी किया गया है। जैसा कि पहले ही कहा गया है

कि आत्मा व्यवहार दृष्टि से मूर्तिक है, क्योंकि अनादिकाल से यह शरीर सम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छूटने (मृत्यु) पर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा आत्मा के साथ रहता है और इसी सूक्ष्म कर्मशरीर (ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों) के पूरी तरह नष्ट हो जाने को मुक्ति कहते हैं। क्योंकि यह आत्मा अनादि से अशुद्ध है और प्रयत्नपूर्वक प्रयोग से वह शुद्ध हो जाता है। एक बार शुद्ध होने के बाद फिर अशुद्ध होने का कोई कारण नहीं रह जाने से वह शुद्ध-बुद्ध और सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार कर्म निमित्त के हट जाने पर वह विशुद्ध आत्मा अपने अन्तिम आकार में रह जाता है और ऊर्ध्व लोक वे अग्र भाग में स्थिर हो अपने चैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तरह बौद्धों के अनात्मवाद का कोई औचित्य ही सिद्ध नहीं होता।

चार्वाक दर्शन का आत्मवाद और उसका खण्डन

पूर्वपक्ष—चार्वाक दर्शन में पृथिवी, अप्, तेज और वायु—इन चार तत्त्वों को भूत कहा गया है। ये चारों तत्त्व शरीर, इन्द्रिय और विषयरूप अर्थ क्रिया करने में समर्थ हैं तथा इनका स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से अधिगत होता है। तत्त्व चार ही हैं, इनसे अधिक तत्त्वों से सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है।

चार्वाकदर्शन में कायाकारपरिणत भूतों से पृथक् कोई आत्मतत्त्व नहीं है। कायाकारपरिणत भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति होती है। कहा भी है—'पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाणि चत्वार्येवतत्त्वानि तेभ्यश्चैतन्यम्।' इस वाक्य में कुछ लोग 'अभिव्यज्यते' ऐसी क्रिया का अध्याहार करते हैं। अन्य लोग 'प्रादुर्भवति' ऐसी क्रिया का अध्याहार मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि चार भूतों से आत्मा की अभिव्यक्ति होती है अथवा उत्पत्ति होती है, परन्तु आत्मा का भूतों से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। चैतन्य आत्मा का धर्म या गुण न होकर शरीर का धर्म है। जिस प्रकार धातकी, गुड़, महुआ आदि मादक द्रव्यों के सम्मिश्रण से मदशक्ति की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार कायाकारपरिणत भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है। इसी का नाम **भूतचैतन्यवाद** है चार्वाक मत में आत्मा, परलोक, मोक्ष आदि कुछ भी नही है। मृत्युपर्यन्त वर्तमान जीवन ही सब कुछ है।

यहाँ कोई शंका करता है कि विभिन्न पृथिवी आदि के द्वारा अभिन्न चैतन्य का आविर्भाव कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि 'मदशक्तिवद् विज्ञानम् । अर्थात् विज्ञान (चैतन्य) मदशक्ति की तरह है। जिस प्रकार मद्य के कारण भूत द्रव्यों के सम्मिश्रण रूप शरीर से चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। फिर यहाँ कोई शंका करता है

कि प्रतिनियत सुखदु:खादि कार्य वैचित्र्य नियामक के बिना नहीं हो सकता है और उसका नियामक पूर्व भव में उपार्जित अदृष्ट (कर्म) होता है अत: अदृष्ट के कर्त्ता की सिद्धि पूर्व भव में भी होती है। इस प्रकार की शंका का उत्तर यह है—'जलबुद्बुदवत् जीवा:।

अर्थात् जिस प्रकार समुद्र में नियामक अदृष्ट के बिना ही पदार्थ की सामर्थ्य के कारण विचित्रता को लिए हुए बुलबुले उत्पन्न हो जाते हैं। उसी प्रकार अदृष्ट के बिना भी सुखदु:खादि के वैचित्र्य को लिये हुए जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि कायाकारपरिणत भूतों से पृथक् और नित्यादि स्वभाव धारण करने वाले जीवों का कोई अस्त्वित्व हो, क्योंकि ऐसे जीवों के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है। भूतों से व्यतिरिक्त आत्मा के सद्भाव की सिद्धि प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति तो इन्द्रिय सम्बन्ध प्रतिनियत रूपादि में ही होती है। रूपादिरहित आत्मा में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

ऐसा भी नहीं माना जा सकता है कि 'घटमहं वेद्मि' अर्थात् मैं घट को जानता हूँ—इस अहंप्रत्यय में ज्ञान के कर्त्ता आत्मा का प्रतिभास होता है, क्योंकि उक्त प्रत्यय 'स्थूलोऽहम् कृशोऽहम्'—मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ इत्यादि प्रत्यय की तरह शरीर विषयक ही होता है। अत: शरीर से अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा सिद्ध नहीं होता है। अपितु शरीर ही प्रमाण के द्वारा चैतन्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। शरीर का चैतन्य के साथ अन्वय व्यतिरिक्त भी पाया जाता है। शरीर के होने पर ही चैतन्य होता है, यह अन्वय है और शरीर के अभाव में चैतन्य नहीं होता है, यह व्यतिरेक है। सर्वत्र कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।

प्रत्यक्ष से आत्मा की सिद्धि का खण्डन करने के बाद चार्वाक (पूर्व पक्ष के रूप में) कहते हैं कि अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि हमारे (चार्वाक) मत में अनुमान तो प्रमाण ही नहीं है। यदि अनुमान को प्रमाण मान भी लिया जाय तो यहाँ ऐसा कोई लिङ्ग नहीं है, जिसका आत्मा के साथ सम्बन्ध हो। सुखादि की उपलब्धि को लिङ्ग नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भूतों का कार्य होने से सुखादि की उपलब्धि का अविनाभाव भूतों के साथ ही होगा। जब आत्मा के सद्भाव में कोई प्रमाण ही नहीं है, तब उसके नित्यत्व आदि स्वभाव का वर्णन करना तो खपुष्प (आकाशकुसुम) सौरभ के वर्णन के समान ही है। निष्कर्ष यह है कि गर्भादिमरण पर्यन्त चैतन्य भूतकार्य ही है।

जैनदर्शन द्वारा चार्वाक के आत्मवाद का खण्डन

जैनदर्शन का उत्तरपक्ष—चार्वाकों ने जो यह कहा है कि पृथिवी आदि चार ही तत्त्व हैं, वह सर्वथा गलत है। यह कथन तो तब ठीक होता, जब चार के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का अभाव सिद्ध होता, किन्तु अन्य तत्वों का अभाव किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। जीव या आत्मतत्त्व की सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से होती है, तथा गगन आदि की सिद्धि अनुमान और आगम से होती है। यह कहना ठीक नहीं है कि भूतों का कार्य होने के कारण चेतना लक्षण जीव तत्त्वान्तर नहीं है। भूत और चैतन्य में कभी भी कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता है। हम कह सकते हैं कि चैतन्य भूतों का कार्य नही है, क्योंकि भूतों के रहने पर भी चैतन्य का अभाव पाया जाता है। ऐसा नहीं है कि मृतकाय, घटादि अनेक अवस्था विशिष्ट भूतों के सदा रहने पर सर्वदा चैतन्य की उपलब्धि होती हो। भूतों और चैतन्य में पूर्वापरीभाव न होने से भी उनमें कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता है। ऐसा नहीं हैं कि भूतों का परिणाम काय पहले चैतन्य रहित हो और बाद में उसमें चैतन्य उत्पन्न होता हो, किन्तु दोनों का उपलम्भ एक साथ होने के कारण उनमें जल और अनल की तरह कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता है।

पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि विज्ञान मदशक्ति की तरह होता है, वह कथन युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि धतूरा, क्रोद्रव आदि मद्य के अङ्गों में मदशक्ति की प्रतीति होने से उनके सम्मिश्रणरूप परिणामविशेष में मदशक्ति के प्रादुर्भाव में कोई विरोध नहीं है, परन्तु भूतपरिणाम विशेष घटादि में चैतन्य रूप शक्ति की स्वप्न में भी प्रतीति नहीं होती है। अत: विज्ञान (चैतन्य) को मदशक्ति की तरह नहीं माना जा सकता है।

चार्वाक का यह कथन भी युक्ति संगत नहीं है कि जीव जल में उत्पन्न हुए बुलबुलों के समान है; क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में सर्वथा साम्य नहीं होता है। जल के बुलबुलों में जल से अत्यन्त वैलक्षण्य न होने के कारण उनके जल हेतुक होने में कोई विरोध नहीं है, परन्तु भूतों और चैतन्य में अत्यन्त वैलक्षण्य होने से उनमें कार्य-कारणभाव सम्भव नहीं है। चार्वाक का यह कथन भी सर्वथा गलत है कि आत्मा के सद्भाव में कोई प्रमाण नही हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष से आत्मा की सिद्धि होती है। 'सुखमहमनुभवामि' अर्थात् मैं सुख का अनुभव करता हूँ। इस प्रत्यय में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का उल्लेख करने वाले प्रत्येक प्राणी में जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है उसके द्वारा आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है। इस प्रत्यय का आलम्बनभूत अर्थ ज्ञानवान आत्मा है, शरीर नहीं। भूतों से निर्मित होने के कारण शरीर में घटादि की

तरह ज्ञातृत्व नहीं हो सकता है। ज्ञातृत्व तो आत्मा का ही धर्म है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अनुमान से भी आत्मा का सद्भाव सिद्ध होता है।

आत्मसाधक अनुमान इस प्रकार है—

'रूपादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात् रूपादिवत् ।
तथा सुखादि उपादानकारणपूर्वकं कार्यत्वात् घटादिवत् ।

अर्थात् रूपादिज्ञान कहीं आश्रित होता है, गुण होने से, रूपादि की तरह। यह एक अनुमान है तथा सुखादि उपादान कारणपूर्वक होते हैं, कार्य होने से। घटादि की तरह। यह दूसरा अनुमान है। हमको जो रूपादि का ज्ञान होता है उसका कोई न कोई आश्रय अवश्य है, क्योंकि ज्ञान एक गुण है और जो गुण होता है वह किसी के आश्रित अवश्य होता है। वह निराश्रित नहीं रह सकता है। वस्तुतः ज्ञान गुण का आश्रय शरीर नहीं हो सकता है। अत: ज्ञान गुण का जो आश्रय है, वही आत्मा है। इसी प्रकार सुखादि का जो उपादान कारण होता है वह भी आत्मा ही है, शरीर नहीं। सुखादि कार्य है और इस कार्य की उत्पत्ति में आत्मा उपादान कारण होता है। इस प्रकार पृथिवी आदि चार भूतों से सर्वथा भिन्न आत्मतत्त्व की सिद्धि हो जाने से चार्वाकों का भूतचैतन्यवाद का सिद्धान्त निरस्त हो जाता है।

इसी प्रकार चार्वाक का देहात्मवाद देह के साथ ही आत्मा की समाप्ति मानता है, जबकि जैनदर्शन के देह (शरीर) परिमाण आत्मवाद में आत्मा की स्वतंत्रत सत्ता होकर भी उसका विकास अशुद्ध दशा में देहाश्रित अर्थात् देहनिमित्तक माना गया है। अत: जैनदर्शन में बन्ध-मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वों के अतिरिक्त उस आत्मा का ज्ञान भी आवश्यक बताया है, जिसे शुद्ध होना है, जो कि वर्तमान में अशुद्ध हो रहा है। इस अशुद्ध दशा का अन्त भी स्वरूप के ज्ञान और इसी के स्वरूप में अवस्थान से ही हो सकता है। अत: इस जीव और जीवन की सार्थकता आत्मवाद की प्राप्ति में है, न कि आत्मा के अस्तित्व में ही प्रश्नचिह्न लगाने से।

✵

डॉ० भीमराव अम्बेडकर एवं बौद्धधर्म

प्रो० परमानन्द सिंह
आचार्य एवं अध्यक्ष—इतिहास विभाग
म. गॉ. काशीविद्यापीठ-वाराणसी

मैं अपने समूचे अस्तित्व के प्रति जिस व्यक्ति का ऋणी हूँ वह गौतम बुद्ध हैं। शोषण, भेद-भाव, अन्याय और असमानता की अवधारणा पर आधारित ऊँची जातियों के हितों और वर्ग संघर्ष के लिए डॉ० अम्बेडकर के दर्शन में कोई स्थान नहीं था। उनके दर्शन का आधार तो स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के न्यायपूर्ण और सशक्त स्तम्भ थे और इनके स्रोत थे शिक्षा, आन्दोलन, संगठन बौद्ध धम्म, संघ और लोकतंत्र में आस्था। स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व से प्रणीत मूल्य किसी विशिष्ट वर्ग के प्रति नहीं बल्कि समस्त मनुष्यों के प्रति इनके घनिष्ठ सम्बन्ध की बात करते हैं।

सकारात्मक स्तर पर मेरे सामाजिक दर्शन को स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के तीन शब्दों में निहित कहा जा सकता है। लेकिन कोई यह न कहे कि मैंने अपना दर्शन फ्रांसिसी क्रांति से उधार लिया है। मैंने ऐसा नहीं किया है। मेरे दर्शन की जड़े धर्म में हैं, राजनीति शास्त्र में नहीं। इन्हें मैंने अपने गुरू भगवान बुद्धकी शिक्षाओं से लिया है। उनके दर्शन में स्वतंत्रता और समानता की जगह थी। लेकिन उन्होंने यह भी कहा था कि असीमित स्वतंत्रता से समानता नष्ट हो जाती है और पूर्ण समानता से स्वतंत्रता के लिए कोई जगह नहीं रह जाती। उनके दर्शन में, विधान का स्थान मात्र स्वतंत्रता और समानता के हनन के विरूद्ध सुरक्षात्मक उपाय के रूप में था, लेकिन वह यह विश्वास नहीं करते थे कि विधान इस स्वतंत्रता या समानता अथवा बन्धुत्व के हनन की गारण्टी हो सकती है। बन्धुत्व को वह स्वतंत्रता अथवा समानता अथवा बन्धुत्व के हनन के विरूद्ध एक मात्र वास्तविक सुरक्षा उपाय के रूप में सर्वोच्च स्थान देते थे, जो बन्धुत्व या मानवता का दूसरा नाम है, और यह भी धर्म का दूसरा नाम है।

विधान तो धर्म निरपेक्ष होता है जिसे कोई भी व्यक्ति तोड़ सकता है, जबकि बन्धुत्व अथवा धर्म पवित्र होता है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान करना होता

है। मेरे दर्शन का एक विशिष्ट उद्देश्य है। मुझे धर्मान्तरण का काम करना है, क्योंकि मुझे त्रिगुण सिद्धांत के अनुयायियों से इसे छुड़वाकर उनसे मेरा सिद्धान्त स्वीकार करवाना है। आज भारतवासी दो भिन्न प्रकार की विचारधाराओं से नियंत्रित है। संविधान की उद्देशिका में वर्णित उनका राजनीतिक आदर्श स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के जीवन की पुष्टि करता है। उनके धर्म में निहित उनका सामाजिक आदर्श इनका विरोध करता है।

मैं बुद्ध के धर्म को सबसे श्रेष्ठ मानता हूँ। किसी भी धर्म की तुलना इससे नहीं की जा सकती। यदि विज्ञान जानने वाले किसी आधुनिक व्यक्ति का कोई धर्म होना ही चाहिए तो निश्चित रूप से वह धर्म **बुद्ध-धम्म** हीं हो सकता है। अम्बेडकर ने अपने बचपन और छात्र जीवन की बात की और बुद्ध धम्म में अपनी रूचि के विषय में आते हुए उन्होंने कहा कि उन्होंने महाभारत और भगवद्गीता जैसे धार्मिक ग्रंथ अपनी बाल्यावस्था में ही पढ़ लिये थे किन्तु जब उन्हें गौतमबुद्ध के विषय में पुस्तक पढ़ने को मिली तो इसका उन पर बहुत प्रभाव पड़ा और तभी से वह बुद्ध के अनुयायी हो गये। उन्होंने कहा कि हिन्दुओं को भी अपने भले के लिए बौद्ध धम्म को अपनाना होगा। उन्होंने आगे कहा कि वह गौतम बुद्ध, कबीर और ज्योतिबा फुले के भक्त और शिक्षा, शील और नैतिकता के पुजारी हैं बौद्ध धम्म ही एक मात्र ऐसा धम्म है जिसे विज्ञान से जागृत समाज स्वीकार कर सकता है और उसके बिना यह नष्ट हो जायेगा। उन्होंने यह भी इंगित किया कि आधुनिक विश्व के लिए बौद्ध धम्म ही एक मात्र ऐसा धर्म है, जिसे स्वयं को बचाने के लिए इसे अपनाना ही होगा। बौद्ध धम्म की प्रगति धीमी है। इसका कारण यह है कि इसका साहित्य इतना विशाल है कि कोई इसे पूरा नहीं पढ़ सकता। बौद्ध धम्म के तीन मुख्य सिद्धातों अर्थात् प्रज्ञा, करूणा, समता ने उन्हें आकर्षित किया जबकि इसके विपरीत अन्य धर्म ईश्वर और आत्मा और मृत्यु-उपरान्त जीवन को लेकर उलझ रहे थे। उनका दावा था कि बौद्ध धम्म तो कार्ल मार्क्स औरउनके साम्यवाद का सम्पूर्ण उत्तर था। रूस साम्यवाद को खूनी क्रांति के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है, बौद्ध धम्म साम्यवाद को रक्तहीन मानसिक क्रांति से प्राप्त कर सकता है, साम्यवादकी ओर जिन लोगों का झुकाव था, उनसे डॉ० अम्बेडकर ने आग्रह किया कि वे बुद्ध और उनके उपदेशों का अध्ययन करे। उनका विचार था कि बौद्ध धम्म के तीन सिद्धान्त समाज को बचाने की दिशा में विश्व को आकर्षित करने वाले होने चाहिए। मुझे बौद्ध धम्म इसलिए पसन्द है क्योंकि इसमें तीन सिद्धान्तों का समावेश है, जो किसी भी धर्म में नहीं मिलता और सारे धर्म तो ईश्वर और आत्मा और मृत्यु-उपरान्त जीवन

को लेकर उलझ रहे हैं। बौद्ध धम्म (अन्धविश्वास और अतिमानववाद के विरूद्ध) प्रज्ञा की शिक्षा देता है, यह करूणा सिखाता है। यह समता सिखाता है यह वहीं है जो मनुष्य धरती परएक अच्छे औरसुखी जीवन के लिए चाहता है। बौद्ध धम्म के ये तीन सिद्धान्त मुझे आकर्षित और प्रभावित करते हैं। इन तीनों सिद्धान्तों को विश्व को भी आकर्षित करना चाहिए। ईश्वर और आत्मा दोनों में से कोई भी समाज को नहीं बचा सकते।

मैं दक्षिण एशिया के बौद्ध देशों के मानसिक रूप से साम्यवाद की ओर मुड़ने की घटना पर चकित हूँ। इसका अर्थ निकलता है कि वे नहीं समझते कि बौद्ध धर्म क्या है? बौद्ध धर्म तो मार्क्स और उसके साम्राज्यवाद का सम्पूर्ण उत्तर है। रूस की तरह का साम्यवाद खूनी क्रांति के माध्यम से इसे प्राप्त करनाचाहता है, जबकि बौद्ध साम्यवाद को रक्तहीन मानसिक-क्रांति से प्राप्त कर सकता है। जो लोग साम्यवाद को अपनाने को उतावले हैं उन्हें यह ध्यान देना चाहिए कि संघ (भिक्खु संघ) एक साम्यवादी संगठन है। यहाँ किसी की कोई नीजी सम्पत्ति नहीं होती। यह सब हिंसा से नहीं हुआ है। यह मन-परिवर्तन का परिणाम है और फिर भी यह २५०० वर्षो से बना हुआ है। बुद्ध के उपदेशों की ठीक तरह से व्याख्या नहीं की गयी उन्हें ठीक ढंग से समझा भी नहीं गया। इस तथ्य को पूरी तौर पर समझा हीं नहीं गया कि भगवान के उपदेश तो सिद्धान्तों और सामाजिक सुधारों का एक संग्रह है। जब यह समझ लिया जायेगा कि बौद्ध धम्म एक सामाजिक शिक्षा है, तब तो यह एक चिरस्थायी घटना हो जायेगी, क्योंकि तब विश्व यह समझ लेगा कि बौद्ध धम्म प्रत्येक को इतना आकर्षिक अथवा प्रभावित क्यों करता है?

संसार भर में बुद्ध के संदेश का व्यापक प्रचार-प्रसार करने वालों और बौद्ध पुनर्जागरण के आन्दोलन के नायक सम्राट अशोक के बाद किसी ने बौद्ध दर्शन को आगे बढ़ाने की दिशा में इतना-सफल कार्य नहीं किया जितना परिनिर्वृत्त अम्बेडकर ने और यहीं बौद्ध धम्म के इतिहास का एक गौरवशाली अध्याय भी है।

*

अश्वघोष : बौद्ध धर्म के उन्नायक के रूप में

प्रो० प्रद्युम्न दूबे

आचार्य-पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग

कला संकाय, का. हि. वि. वि. वाराणसी

क़िसी भी धर्म का सुदृढ़ प्रचार-प्रसार उसमें निहित मूल्यों, सिद्धान्तों और दर्शन के आधार पर होता है। निःसन्देह बौद्ध धर्म समाज, जीव एवं जन-कल्याणकारी अपनी नीतियों, आदर्शों और सिद्धान्तों तथा दर्शन के कारण विश्व के विस्तृत भू-भाग पर फैला। इस धर्म ने विश्व के अनेक साहित्य को प्रभावित किया तथा उन्हें समृद्ध बनाया। भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश तत्कालीन बोल-चाल की भाषा मागधी में दिया था। बाद में इसी भाषा को 'पालि' नाम से जाना गया। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् छठीं शताब्दी के लगभग बौद्धाचार्यों ने समय की आवश्यकता को ध्यान में रखकर संस्कृत भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार पालि भाषा और गाथा संस्कृत अथवा बौद्ध संकर संस्कृत को छोड़कर संस्कृत ऐसी प्रथम भाषा थी, जिसमें बौद्ध साहित्य लिखा गया। संस्कृत के लेखकों में अश्वघोष प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने सामान्य जनता में काव्य एवं गीत के माध्यम से बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाया। अश्वघोष को वाल्मीकि का पश्चातवर्ती तथा संस्कृत का अत्यधिक प्रसिद्ध कवि स्वीकार किया गया है।

कवि का परिचय—इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है। प्राचीन भारतीय आचार्य अपने जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ-लिखते नहीं रहे हैं। आचार्य अश्वघोष भी इसी श्रेणी में आते हैं। हमें इनके जीवन के सम्बन्ध में जानकारी तिब्बती और चीनी स्रोतों के आधार पर होती है। इन्हें कनिष्क का समकालीन माना जाता है। इस प्रकार इनका समय प्रथम ईसवी शती (लगभग १०० ई०) माना जाता है। सौन्दरनन्द की पुष्पिका के अनुसार अश्वघोष का जन्म साकेत अर्थात् अयोध्या में हुआ था। इनके पिता का नाम सुवर्णाक्षीपुत्र था। इनकी शिक्षा-दीक्षा का स्थान अयोध्या था और इसी स्थान पर महाकवि ने अपने जीवन का आधा समय व्यतीत किया था। ये बड़े ही तार्किक (महान्यायवादी) थे।[१]

---

१. आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्। सौन्दरनन्द की पुष्पिका।

अश्वघोष के नाम के सम्बन्ध में एक रोकच वर्णन प्राप्त होता है। कहा जाता है कि इनके जन्म के दिन घोड़ो के हिनहिनाने का शब्द हुआ, अत: उनका अश्वघोष नाम पड़ा। एक दूसरी मान्यता है कि अश्वघोष अत्यन्त सुमधुर वाणी में बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे। जब एक दिन सस्वर गायन करते हुए उन्होंने धर्मोपदेश प्रारम्भ किया तो उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि मनुष्यों का क्या कहना घोड़े भी घास एवं दाने का परित्याग कर उनके सुमधुर उपदेशों का श्रवण करने लगे और अपने आनन्द को प्रकट करने के लिये हिनहिनाने लगे और तभी से कवि को लोग 'अश्वघोष' नाम से अभिहित करने लगे।[१] तिब्बती भाषा में लिखी गई अश्वघोष की जीवनी के अनुसार वे एक वीणा-वादक भिक्षु थे। वे पेशावर और कश्मीर के गायक अनुगामियों के साथ वैराग्य गीत गाया करते थे जिसमें सैकड़ों व्यक्ति मोहित हो जाते थे और बौद्ध धर्म को अङ्गीकार कर लिया करते थे।[२]

रचनायें—महाकवि अश्वघोष ने अपनी कविताओं के माध्यम से बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार किया। वे महा काव्य, नाटक और गीतिकाव्य के रचयिता हैं। बुद्धचरित और सौन्दरनन्द को महाकाव्य और शारिपुत्रप्रकरण को नाटक के रूप में स्वीकार किया जाता है। अश्वघोष ने अन्य ग्रंथों की भी रचना की थी, किन्तु विद्वान् उन्हें सर्वसम्मति से अश्वघोष की कृतियाँ स्वीकार नहीं करते हैं। उन्हें सूत्रालङ्कार और महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र का रचयिता माना जाता है। महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र की रचना के आधार पर महायान के संस्थापकों में इनकी गणना की जाती है।[३] बौद्ध भिक्षु होने के प्रारम्भिक काल में ये सम्भवत: सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे और बाद में इनमें भगवान् बुद्ध के प्रति अत्यधिक भक्ति दिखाई देती है। इस प्रकार ये महायान के अनुयायी जान पड़ते हैं। अश्वघोष के तिब्बती जीवन-वृत्त के अनुसार—'ऐसा कोई प्रश्न नहीं या जिसको वे हल नहीं कर सकते थे; कोई आरोपण (लांछन) ऐसा नहीं था, जिसका वे खण्डन नहीं कर सकते थे; उन्होंने वैसे ही अपने विरोधियों को परास्त किया, जैसे जोर से बहने वाली हवा (दुर्बल वृक्षों को तोड़ देती है।[४] उन्होंने बुद्ध के मत का उन्नयन (प्रचार-प्रसार) किया और तैर्थिकों (विधर्मियों, पालि-अञ्जतित्थिया) का विरोध किया। इत्सिंग के मतानुसार बौद्ध का धर्म का उन्नायक

१. डॉ. रामायण प्रसाद द्विवेदी : बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शोध प्रकाशन, वाराणसी, १९७६, पृष्ठ १३५
२. एम्० विन्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर (इसके पश्चात् हि०इ० लिट्), भा०२, दिल्ली, १९७२, पृष्ठ २५७
३. वही, पृष्ठ २५७
४. वही, पृष्ठ २५७

देवताओं की तुलना में भी अधिक सम्मान प्राप्त करता है। इत्सिंग का पुनः कहना है कि 'प्रत्येक पीढ़ी में ऐसे मनुष्यों में से मात्र एक या दो उत्पन्न होते हैं'। ऐसे लोग हैं—'नागार्जुन, देव (आर्यदेव) और अश्वघोष (प्रारम्भिक काल के)।[५] इनमें कुमारलब्ध को मिलाने पर इन्हें तत्कालीन चार प्रकाशमान सूर्य कहा जाता है जो अपनी ज्ञानरूपी आभा से चारों दिशाओं को प्रकाशित करते रहते थे।

अश्वघोष ने कब और कैसे प्रव्रज्या ग्रहण की यह ज्ञात नहीं है। तिब्बती और चीनी परम्परा के अनुसार पार्श्व अथवा पूर्णयशस् उनके गुरु थे। इन्हीं परम्पराओं के अनुसार अश्वघोष एक बहुत अच्छे संगीतज्ञ थे। उन्होंने गीतों की रचना स्वयं की और मनुष्यों तथा स्त्रियों की टोली के साथ गाते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा की। उनकी टोली के लोग अनित्यता सम्बन्धी गाने की धुन पर नाचा करते थे। वे चार आर्य सत्य, आर्याष्टांगिक मार्ग सम्बन्धी गानों को मधुर शब्दों में गाते थे। लोग आकर्षित होते थे और शान्त होकर खड़े होते थे एवं सुनते थे। इस प्रकार उन्होंने बहुत से लोगों को धर्म के माध्यम से जीता।[६] उन्होंने बुद्ध के दृष्टिकोण का प्रचार करने के लिये कुछ ग्रन्थों की रचना की। इत्सिंग का कहना है कि उसके समय में भारत में बौद्ध स्थलों पर गाये जाने वाले गीतों में अश्वघोष द्वारा रचित ग्रन्थ भी सम्मिलित थे।

अश्वघोष के काव्य ग्रन्थ

बुद्धचरित—इस महाकाव्य में जन्म से लेकर महापरिनिर्वाण तक भगवान् बुद्ध की जीवन-यात्रा का वर्णन है। इसमें भगवान् बुद्ध के प्रमुख सिद्धान्त और वचन समाहित हैं। इत्सिंग कहता है कि 'यह विस्तृत ग्रन्थ तथागत के जीवन उनके राजमहल के निवास से लेकर शाल वृक्षों के नीचे पड़े होने तक के बीच प्रतिपादित होने वाले सभी सिद्धान्तों, घटनाओं और रचनाओं को जोड़ता है।' वह पुनः लिखता है—'यह ग्रन्थ भारत के पाँचों मण्डलों और दक्षिणी समुद्र के देशों जावा, सुमात्रा आदि में पढ़ा और समझा जाता था।[७] इस ग्रन्थ में कुछ ही शब्दों में अनेक अर्थ और विचार आ जाते हैं अर्थात् यह अर्थगाम्भीर्य से युक्त है। किसी व्यक्ति के अध्ययन के लिये इसकी प्रशंसनीय पुस्तक के रूप में गणना की जानी चाहिये; क्योंकि इसमें श्रेष्ठ सिद्धान्त संक्षिप्त रूप में दिये गये हैं।[८]

---

५. वही, पृष्ठ २५७

६. वही, पृष्ठ २५७

७. वही, पाद-टिप्पणी ४, पृष्ठ २५८

८. वही, पृष्ठ २५८

मूल बुद्धचरित में मात्र सत्रह सर्ग ही पाये जाते हैं जिसमें अन्तिम चार उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अमृतानन्द के द्वारा जोड़े गये थे। इस तथ्य की स्वीकृति अमृतानन्द ने स्वयं की थी।[९] धर्मरक्ष, धर्मक्षेम अथवा धर्मक्षर नामक एक भारतीय विद्वान् ने इस महाकाव्य का अनुवाद चीनी भाषा में सन् ४१४ से ४२१ ई० में किया था।[१०] ग्रन्थ की रचना २८ सर्गों में की गई है और कहानी बुद्ध के परिनिर्वाण तक चलती है। सातवीं या आठवीं शताब्दी में किये गये तिब्बती अनुवाद में २८ सर्ग हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को बुद्धचरित की एक हस्तलिपि मिली थी जिसमें सोलहवें सर्ग के मध्य तक उपलब्ध है। इस प्रकार हमें पूर्ण मूल बुद्धचरित नहीं प्राप्त होता है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, लंदन के संस्कृत के प्रोफेसर जान्सटन ने बुद्धचरित का तिब्बती से अंग्रेजी में अनुवाद किया था।[११] सूर्य नारायण चौधरी ने जान्स्टन के अंग्रेजी अनुवाद से इसका हिन्दी अनुवाद किया है। उन्होंने चौदहवें सर्ग के इकतीसवें श्लोक तक का अनुवाद संस्कृत मूल के साथ दिया है। प्रथम सर्ग के प्रथम सात श्लोक अप्राप्त हैं। श्री सूर्य नारायण चौधरी ने इन श्लोकों के जिन अंशों को कोष्ठक के अन्तर्गत रखा है, वे जान्स्टन कृत मूलोद्धार है और शेष की रचना श्री चौधरी ने स्वयं की है।[१२] एस० जील ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद १८८३ ई० में किया था। सम्प्रति महन्त श्री रामचन्द्र दास शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद से सम्पूर्ण द्वितीय भाग और प्रथम भाग के अनुपलब्ध अंश को रूपान्तरण संस्कृत पद्यमय रूप (श्लोक) में किया है।[१३]

बुद्धचरित भगवान् बुद्ध पर प्रथम महाकाव्य है और इसकी रचना संस्कृत कवि अश्वघोष के द्वारा की गई थी। अश्वघोष बुद्ध के प्रति अत्यन्त प्रेम एवं श्रद्धा रखते थे। उन्होंने बुद्ध के जीवन और उपदेशों को प्रवाहमय और कलापूर्ण भाषा में प्रस्तुत रखा है। वाल्मीकि अश्वघोष के पूर्ववर्ती थे और अश्वघोष स्वयं कालिदास के पूर्ववर्ती। तीनों कवियों में एक बात समान रूप से पाई जाती है कि वे सभी अलङ्कारों के प्रयोग में नियमित हैं। अश्वघोष मात्र भाषा और शैली में ही संयमित नहीं हैं, अपितु वह बुद्ध की पौराणिक कथाओं को प्रस्तुत करने में भी संयमित हैं। कम से कम बुद्धचरित में

---

९. द्रष्टव्य—सूर्यनारायण चौधरी द्वारा सम्पादित एवं अनूदित बुद्धचरित, मोतीलाल बनारसीदास, १९८५, पृष्ठ १६

१०. वही, पृष्ठ १६

११. पंजाब विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९३६

१२. बु० च०, पृष्ठ १

१३. बु० च० भा० २ संपादक (= संपा०) एवं अनुवादक (= अनु०) महन्त श्री रामचन्द्र दास शास्त्री, द्वितीय संस्करण १९७७ तथा प्रथम भाग चतुर्थ संस्करण, चौखम्बा विद्या भवन, १९७९

अश्वघोष एक बौद्ध भिक्षु की तुलना में एक कवि के रूप में अधिक है। बुद्धचरित के प्रथम दो सर्गों में सिद्धार्थ के जीवन से लेकर उनके पालन तक का वर्णन है। तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम सर्ग में सिद्धार्थ में वैराग्य की उत्पत्ति, पत्नी और गृह-त्याग का वर्णन किया गया है। इन सर्गों में उच्च काव्यात्मक, वर्णन प्राप्त होता है। हमें कालिदासप्रणीत रघुवंश के सातवें सर्ग के श्लोक सं० ५-१२ और अश्वघोष के इस ग्रन्थ के श्लोक १३-२४ में एक समान वर्णन प्राप्त होते हैं। समानता दिखलाने के लिये दोनों से एक-एक श्लोक[१४] यहाँ उद्घृत किये जा रहे हैं—

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि ।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पंकजानि ।।

तासां मुखैरासवगन्धभैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ।।

तत्पश्चात् कवि ने बृद्ध व्यक्ति के सिद्धार्थ के सामने आने का बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। सारथि वृद्ध व्यक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार बताता है—

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनिर्निधनं रतीनाम् ।
नाशं स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियानामेषा जरा नाम ययैष भग्नः[१५] ।।

इस प्रकार तीन निष्क्रमण में राजकुमार वृद्धावस्था, व्याधि और मृत्यु से परिचित हो गये। उन्हें किसी वस्तु में आनन्द नहीं आया। यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ पर प्रथम आर्यसत्य (दु:ख आर्यसत्य) का चित्रण किया गया है। राजपरिवार के पुरोहित के आमन्त्राण पर सुन्दर स्त्रियाँ और कन्यायें अपनी आकर्षक देहयष्टि, कामुक हाव-भाव आदि के द्वारा भी सिद्धार्थ को अपनी ओर न तो आकृष्ट कर सकीं और न तो उनके विषादयुक्त विचार को दूर कर सकीं। वे सभी मधुर प्रलोभनों से अविचलित रहे। वे उन स्त्रियों के अश्लील हरकतों पर आश्चर्य एवं विस्मय व्यक्त करते हुए कहते हैं—

यस्तु दृष्ट्वा परं जीर्णं व्याधितं मृतमेव च ।
स्वस्थो भवति नोद्विग्नो यथाचेतस्तथैव सः[१६] ।।

राजकुमार सिद्धार्थ ने संसार के वास्तविक दु:ख को समझा। उन्होंने यह भी समझा कि दु:ख का कारण तृष्णा है और तत्पश्चात् उन्होंने महल का त्याग किया।

---

१४. बु०च० ३.१९ रघुवंश ७.११

१५. बु०च० ३.३०

१६. वही, ४.६०

कवि ने इस तथ्य का उच्च काव्यात्मक ढंग से वर्णन किया है। उन्होंने वन में कई ब्राह्मण आचार्यों से भेट की परन्तु उनके अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान से वे संतुष्ट न हो सके। उन्होंने बिम्बसारके आधा राज्य देने के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और ऐन्द्रिक सुख की बुरी तरह आलोचना की। वे सांख्य दर्शन के आचार्य अराड से मिले, किन्तु उनसे भी सन्तुष्ट नहीं हो सके। पुन: कठोर तपस्या के पश्चात् उन्होंने शरीर के उत्पीडन की निरर्थकता को समझा। उन्होंने मार को परास्त कर बोधि की प्राप्ति की। धर्मचक्र प्रवर्तन, भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्यों की प्रव्रज्या, उनके धार्मिक उपदेश और महापरिनिवार्ण तक की अन्य घटनाओं का कवि के द्वारा वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में बौद्ध सिद्धान्तों को काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के षष्ठ सर्ग में सिद्धार्थ छन्दक से उनके प्रति स्नेह को छोड़ने के लिये कहते हैं। यह स्नेह वियोग में सन्ताप (दु:ख) देता है। वे पुन: कहते हैं कि प्राणियों का संयोग और वियोग होता रहता है, अत: समागम में ममत्व अर्थात् आसक्ति उचित नहीं है।

समेत्य च यथा भूयो व्यपयान्ति बलाहका: ।
संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मत: ।।
यस्माद्याति च लोकोऽयं विप्रलभ्य परंपरम् ।
ममत्वं न क्षमं तस्मात्स्वप्नभूते समागमे[१७] ।।

यहाँ पर बोधिसत्त्व सिद्धार्थ ने दु:ख और उसके कारणस्वरूप (दु:खसमुदय) आसक्ति को बताया है। ग्रन्थ के अन्त में कवि ने इसकी रचना का प्रयोजन बताते हुए कहा है—'मुनि श्रेष्ठ के प्रति सम्मान भाव से, मुनि के शास्त्रानुसार, मनुष्यों के हित एवं सुख के लिये, न कि विद्वत्ता या काव्य कौशल दिखाने के लिये यह काव्य रचा गया।[१८]

सौन्दरनन्द काव्य—इस काव्य को हरप्रसाद शास्त्री ने खोजा था और उन्होंने स्वयं इसको १९१० में बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता में सम्पादित किया था। अश्वघोष द्वारा रचित यह महाकाव्य बुद्धरचित की श्रेणी का है और वैसी ही आलंकारिक कविताओं से पूर्ण काव्य है। इसमें २८ सर्ग हैं। यह काव्य भी (बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित है, परन्तु इसमें उन दृश्यों और घटनाओं को जोड़ा गया है जो या तो बुद्धचरित में छोड़ दिये गये हैं अथवा जिनकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया

१७. वही, ६.४७-४८

१८. वही २८-७४

गया है। इस पुस्तक में मुख्यत: कामोपेक्षित नन्द, जो भगवान् बुद्ध का छोटा भाई था, की कहानी चित्रित है। इच्छा के विरुद्ध नन्द को बुद्ध ने प्रव्रज्या दे दी थी।

नन्द की सुन्दर पत्नी सुन्दरी अपने बिछुड़े पति के लिये शोक और चिन्ता करती है। नन्द भी अपनी सुन्दर प्रियतमा के पास जाना चाहता है। बुद्ध उसकी सोच में परिवर्तन नहीं ला सके। तब वे नन्द को लेकर स्वर्ग की ओर बढ़ते हैं। रास्ते में उन्हें एक आँख वाली बन्दरी दिखाई देती है। बुद्ध नन्द से पूछते हैं कि क्या सुन्दरी उस एक आँख वाली बन्दरी से अधिक सुन्दर है? नन्द प्रत्युत्तर में कहता है कि उसकी पत्नी से बन्दरी की कोई तुलना ही नहीं हो सकती है अर्थात् उसकी पत्नी बहुत सुन्दर है। शीघ्र ही वे स्वर्ग में अप्सरा को देखते हैं और बुद्ध पूछते हैं कि 'तुम्हारी पत्नी और अप्सरा में कौन अधिक सुन्दर है'? नन्द का प्रत्युत्तर होता है कि जो मेरी पत्नी और एक आँख वाली बन्दरी में अन्तर है वही अन्तर अप्सरा और मेरी पत्नी में है। उसी क्षण से उसमें स्वर्ग की स्त्रियों को प्राप्त करने की इच्छा दृढ़ हो गई और वह पृथ्वी पर लौटकर स्वर्ग में पहुँचने के लिये तप करने लगा। तत्पश्चात् आनन्द उसे समझाते हैं कि स्वर्गीय आनन्द भी क्षणिक हैं, स्थाई नहीं हैं और नन्द आश्वस्त हो जाता है। तत्पश्चात् बुद्ध उसे अपने धर्म का उपदेश कई सर्गों में करते हैं।

अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में भी बौद्ध सिद्धान्तों की व्याख्या की है। मैं यहाँ पर कुछ सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या सौन्दरनन्द के प्रकाश में कर रहा हूँ।

आर्य सत्य—भगवान् बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश देते समय आयसत्यों का भी उपदेश दिया था। आर्य बुद्ध को कहते हैं, अत: उनके द्वारा साक्षात्कार किये गये सत्य को आर्यसत्य कहते हैं—अरियो इति बुद्धो, तेन सच्छिकतं सच्चं इति अरियसच्चं। अथवा यस्मा बुद्धादयो अरिया पटिविज्झन्ति, तस्मा अरियसच्चानीति बुच्चन्ति अर्थात् चूँकि बुद्ध आदि आर्य (इसे) साक्षात्कार कहते हैं या समझते हैं अत: इन्हें आर्यसत्य कहा जाता है। आर्यसत्य चार हैं—दु:ख, दु:खसमुदय, दु:खनिरोध और दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपदा।

'दु:ख' बौद्ध दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। जन्म और मृत्यु आदि संसार की सभी वस्तुयें दु:ख हैं। अश्वघोष ने इस बात की व्याख्या सौन्दरनन्द में बहुत अच्छी प्रकार की है। वे कहते हैं—'जिस प्रकार वायु सदा आकाश में विद्यमान होती है, अग्नि शमी के गर्भ में और जल पृथ्वी में विद्यमान होता है, उसी प्रकार दु:ख सदा शरीर और मन में विद्यमान होता है। जैसे तरलता जल का स्वभाव

है, कठोरता पृथ्वी का, ईरण (बहना) वायु का और उष्णता अग्नि का स्वभाव है, उसी प्रकार दु:ख शरीर और मन का स्वभाव है।[१९]

इस प्रकार बौद्ध दर्शन ने यह सिद्ध किया है कि दु:ख शरीर और मन का स्वभाव है। शरीर के होने के कारण व्याधि, वृद्धावस्था, भूख, प्यास, ग्रीष्म, शीत आदि दु:ख होते हैं, उसी प्रकार शोक, असंतोष, क्रोध और भय आदि दु:ख मन जो शरीर पर आश्रित है, यें होते हैं और इससे आबद्ध होते हैं।[२०]

दु:ख से भरे संसार से मुक्ति अर्थात् दु:ख-निरोध के अतिरिक्त निर्वाण अन्य कुछ नहीं है। चूँकि शोकादि मन में होते हैं, अत: यह स्पष्ट है कि आसक्ति अथवा तृष्णा ही दु:ख का कारण (दु:खसमुदय) है। तृष्णा क्लेश है, चित्तमल है और क्लेशों के नाश होने से निर्वाण की प्राप्ति होती है। अश्वघोष काव्य के माध्यम से निर्वाण को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेंति शान्तिम् ।।
एवं कृतो निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्[२१] ।।

जिस प्रकार दीपक बुझ जाने पर न तो पृथ्वी पर और न तो आकाश में ही जाता है; न तो किसी दिशा और न तो किसी विदिशा (कोण दिशा) में जाता है। तेल के समाप्त होने से वह केवल शान्ति को प्राप्त करता है अर्थात् बुझ जाता है। उसी प्रकार कोई व्यक्ति निर्वाण के प्राप्त करने न तो पृथ्वी पर न तो आकाश में ही जाता है और न किसी दिशा या विदिशा में जाता है। अपितु सभी क्लेशों की समाप्ति के कारण शान्ति को प्राप्त करता है।

सौन्दरनन्द के सोलहवें सर्ग में चार आर्यसत्य के अतिरिक्त आर्याष्टांगिक मार्ग, शील, समाधि और प्रज्ञा की सरल शब्दों में व्याख्या की गई है। सौन्दरनन्द से

---

१९ आकाशयोनि: पवनो यथा हि यथा शमीगर्भशयो हुताश: ।
आपो यथान्तर्वसुधाशयश्च दु:खं तथा चित्तशरीरयोनि: ।।
आपं द्रवत्वं कठिनत्वमुर्व्या वायोश्चलत्वं ध्रुवमौष्णमग्ने: ।
यथा स्वभावो हि तथा स्वभावो दु:खं शरीरस्य च चेतशश्च ।।
सौन्दरनन्द (= सौन्द०) १६.११-१२

२०. काये सति व्याधिजरादिदु:खं क्षुत्तर्षव्रणोष्णहिमाद्रि चैव ।
रूपाश्रिते चेतसिसानुबन्धे शोकार्तिक्रोधभयादि दु:खम् ।। वही. १३

२१. वही, १६.२८-२९

प्रभावित होकर सूर्य नारायण चौधरी लिखते हैं कि 'सौन्दरनन्द काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि का है। इससे भी अधिक यहाँ पर निर्वाण और शान्ति के लिये संदेश है। इसमें शील और चित्त-शुद्धि के लिये उपदेश दिया गया है। यह स्वयं के उत्थान और संसार के कल्याण के लिये प्रेरणा है।[२२]

अश्वघोष के गतिकाव्यों में मात्र गण्डीस्तोत्र हमें उपलब्ध होता है। यहाँ पर बौद्ध और संघ की प्रशंसा और प्रार्थना की गई है। कुछ और अधिक पुस्तकें जैसे शारिपुत्रप्रकरण और वज्रसूची आदि अश्वघोष द्वारा प्रणीत हैं, किन्तु सभी का उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। इस कवि का मुख्य उद्देश्य अपने काव्यों के माध्यम से मानवमात्र का कल्याण करना था। इस सम्बन्ध में मैं कवि के कथन को उद्धृत कर रहा हूँ।

'निर्वाण की व्याख्या के साथ यह रचना शान्तिप्रदान करने के लिये है, आनन्द (सांसारिक) के लिये नहीं। उदासीन श्रोताओं को आकर्षित करने के लिये यह रचना की गई है। इसके अतिरिक्त यहाँ जो कुछ भी कहा गया है, वह काव्य को आकर्षक बनाने के लिये किया गया है, क्योंकि कड़वी दवा को पीने योग्य बनाने के लिये उसमें शहद मिलाया जाता है।[२३]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अश्वघोष का सम्पूर्ण प्रयत्न बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिये ही रहा।

✻

---

२२. सौन्दरनन्द काव्य, संपादक एवं हिन्दी अनुवादक-सूर्यनारायण चौधरी, पूर्णियाँ १९५८, पृष्ठ ३

२३. इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः,
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता ।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतम्,
पातुं तिक्तमिपौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ।। वही १८.६३

पालि निकायों में यज्ञ का स्वरूप

प्रो० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, पालि एवं थेरवाद विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भगवान् बुद्ध के काल में अनेक प्रकार के वैदिक यज्ञों का विधान किया जाता था। वैदिक धर्मानुयायी यज्ञ को महत्त्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान मानते थे। यज्ञ का उद्देश्य यज्ञकर्त्ता द्वारा वांछित फल की प्राप्ति था। यज्ञ की शक्ति पर लोगों का इतना अधिक विश्वास था कि उसके सामने यज्ञ में पूजित देव की इच्छा भी गौण हो गई थी। बलिप्राप्त कर देवता जितना संतुष्ट और शक्ति सम्पन्न होते हैं, उसी अनुपात में यज्ञकर्त्ता को अनुगृहीत करते हैं, यह धारणा यज्ञ के मूल में काम करती थी। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में विधान है[१] कि यदि वह व्यक्ति जिसने त्रिअग्नि को स्थापित किया, रुग्णता वश गृहत्याग कर गाँव से चला जाये, तो उसे त्रिअग्नि को प्रभावित करने के लिए सोमयज्ञ अथवा पशुयज्ञ करना चाहिए। इससे वह त्रिअग्नि जिसे वह अपने साथ लेता जाता है, उसे रोगमुक्त करेंगे। पाप को रोग तुल्य मानकर पापफल से मुक्ति के लिए ही यज्ञ का आश्रय लिया जाता था। स्तोम यज्ञ के दो भेद हैं—सोमयज्ञ जिसमें सामवेद का गान होता और हर्वियज्ञ जिसमें सामगान नहीं होता। इन दोनों के मध्य में पशुयज्ञ का स्थान है। इसमें सामगान नहीं होता, है, अत: इसे भी विर्यज्ञ माना जा सकता है, पर वस्तुत: यह सोमयज्ञ का ही महत्त्वपूर्ण अंग है।

व्यक्ति के दैनिक जीवन में गृहयज्ञ को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। इसका केन्द्र गृहाग्नि होती है। प्रत्येक गृहस्थ तथा उसके परिवार के सदस्य का कर्त्तव्य है कि गृहाग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखें। नियमानुसार गृही को स्वयमेव गृहयज्ञों का आचरण करना चाहिए, परन्तु उसकी अनुपस्थिति में यह अधिकार उसकी पत्नी को प्राप्त है। प्रात: तथा सन्ध्या हवन तथा संध्याकाल में बलि का विधान है। इस यज्ञ में सामान्यतया ब्राह्मण पुरोहित का उपयोग ऐच्छिक है। परन्तु सुसागव तथा धन्वन्तरी यज्ञों में ब्राह्मण पुरोहितों की उपस्थिति अनिवार्य है।

---

१. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र-४/१११ ।

भगवान् बुद्ध के आविर्भावकाल में भी वैदिक धर्मानुयायी पशुयज्ञ को महत्त्वपूर्ण मानते थे। वे अनेक प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करते थे जैसे—अश्वमेध यज्ञ, सम्मापाश यज्ञ, पुरुषमेध यज्ञ, वाजपेय यज्ञ आदि[१] यज्ञों के प्रमुख अनुष्ठानकर्ता थे ब्राह्मण महाशाल। वे स्वयं बड़े-बड़े यज्ञ करते थे। तथा राजा द्वारा आयोजित यज्ञ में होता का कार्य सम्पन्न करते थे। पालि निकाय में बुद्ध के समकालीन अनेक ब्राह्मण महाशालों के यज्ञ का वर्णन किया गया है। जैसे—मगधवासी ब्राह्मण कूटदन्त, श्रावस्ती के ब्राह्मण उग्गतशरीर, कोसल नरेश प्रसेनजित के महायज्ञों के वर्णन उन दिनों सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञों की विधि के विषय में अनेक रोचक नियमों का रहस्योद्घाटन करते हैं। महायज्ञों में गाय, वृषभ, बछड़े, बाछियाँ, बकरे, भेड़, सूअर, घोड़े, हाथी आदि पशुओं की बलि देने की प्रथा वैदिक युग में नही थी, उनकी बलि भी दी जाने लगी थी। पालिसूत्रों के अनुसार ५००-५००या ७००-७०० की संख्या में पशु-पक्षियों की बलि दी जाती थी।[२]

पालि निकाय से यह भी ज्ञात होता है कि उन दिनों बड़े धूमधाम के साथ यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। कई दिनों तक इसकी तैयारी होती थी। यूप निर्माण के लिए वृक्ष काट गिराये जाते, पशुओं को बाँधकर यज्ञस्थल तक ले जाया जाता। यज्ञ स्थल पर कभी-कभी एक गड्ढा खोदा जाता जिसके अन्दर पशुओं को खूँटों से बाँध दिया जाता था। वेदों में इस प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवत: यह उत्तरकाल में प्रचलित हुई। यज्ञ देखने के लिए लोगों की भीड़ एकत्र हो जाती थी। समाज में ब्राह्मण के प्रभुत्व होने के कारण उनके यज्ञ में जनता का पूर्ण सहयोग मिलता था। जो ब्राह्मण महाशाल प्रभावशाली थे, उनके यज्ञ में मेला लग जाता था।

उस मेला में जब काश्यप बन्धुओं के वार्षिक यज्ञ समारोह मनाये जाते, तब अंग-मगधवासी बड़ी संख्या में एकत्र हुआ करते थे। यज्ञ की पूर्णाहुति के उपलक्ष्य में बड़े-बड़े भोज होते थे और यज्ञकर्त्ता मुक्तहस्त हो ब्राह्मणों को स्वर्ण, रजत-अन्न, दास-दासी, गौ, अश्व, हस्ती, वस्त्र, बिछावन, कालीन, रथ और धनपूर्ण प्रासाद आदि दान में दे देते थे। ब्राह्मणों को दान देने का जो वर्णन पालि निकाय में मिलते हैं, वे यथार्थ प्रतीत होते हैं, क्योंकि अन्य सूत्रों से इसके निश्चित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। क्षत्रिय नरेशों तथा सातवाहन शासकों के अभिलेखों से विभिन्न यज्ञ समारोहों में ब्राह्मण को प्रभूत दान देने के उल्लेख मिलते हैं। बौद्ध निकायों में अतीत के ऋषियों

---

१. अस्समेधं पुरिसमेधं सम्मापासं वाजपेय्यं ।
निरग्गलं महारम्भा न ते होन्ति महाप्फला । सं. नि. भा. १, पृष्ठ १६ ।

२. तेन खो पन समयेन कूटदन्तस्स ब्राह्मणस्स महायञ्ञो उपक्खटो होति, सत च उसभ-सतानि सत्त च वच्छत्तर सतानि सत्त च वच्छतरि सतानि सत्त चे अजसतानि सत्त च उरभसतानि थूनूपनीतानि—

में अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि तथा भृगु का उल्लेख मिलता है। वहाँ इन ऋषियों को मन्त्रकर्ता कहा गया है।

दीघनिकाय के कूटदन्त सुत्त[१] से यह पता चलता है कि कूटदन्त ब्राह्मण मगध के खाणुमत्त ब्राह्मणग्राम का रहने वाला था और वह अनेक राजभोग धन-धान्य से सम्पन्न उस खाणुमत्त का अधिपति होकर रहता था। उस समय कूटदन्त की इच्छा थी कि शीघ्र ही एक महायज्ञ सम्पन्न किया जाये। उसी समय खाणुमत्त ब्राह्मणवासी ने सुना कि शाक्यकुल से प्रव्रजित होकर श्रमण गौतम ५०० भिक्षुओं के विशाल संघ के साथ चारिका करते हुए खाणुमत्त के अम्बलट्ठिका में विराजमान हैं। उनका जनता में ऐसा मंगलमय कीर्ति शब्द फैला हुआ है कि वे भगवान् अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध विद्या और आचरण से युक्त, सुगत, लोक को जानने वाले, पुरुषों को दमन करने वाले सारथि स्वरुप हैं ऐसे ज्ञानियों का दर्शन मंगलमय होते हैं। अत: उनका दर्शन करना आवश्यक है और वे खाणुमत्त वासी भगवान् बुद्ध के पास गये और उन्होंने कूटदन्त ब्राह्मण की ओर से यह कहा कि कूटदन्त ब्राह्मण भी आप लोगों के साथ उनसे मिलने जायेंगे। तदनन्तर कूटदन्त भगवान बुद्ध से मिलने जब चला तो उसके साथ कई सौ ब्राह्मण भी चलें। कूटदन्त को यह बताया गया था कि श्रमण गौतम—त्रिविधयज्ञसम्पदा तथा सोलह परिष्कारों वाली यज्ञ विधि के ज्ञाता हैं। इसलिए कूटदन्त ब्राह्मण ने भगवान् से यह प्रश्न किया—हे गौतम, मैंने सुना है कि सोलह परिष्कारों वाली तीन प्रकार की यज्ञ सम्पत्ति (यज्ञविधि) के ज्ञाता हैं, किन्तु इसमें इस तरह की यज्ञविधि को नहीं जानता और निकट भविष्य में एक महायज्ञ सम्पन्न करना चाहता हूँ, अत: कृपा कर हे गौतम, आप मुझे सोलह परिष्कारों वाले त्रिविध यज्ञ सम्पत्ति की देशना करें।' तब भगवान् बुद्ध ने राजा महाविजित की कथा सुनाते हुए कहा—प्राचीन काल में राजा महाविजित नाम का एक आढ्य विपुल धन सम्पत्ति वाला, महावैभवशाली, सोने-चाँदी के खजाने वाला, नाना प्रकार के अन्य वित्त साधनों से सम्पन्न एवं धन-धान्य से परिपूर्ण कोष्ठागार वाला था। एक बार एकान्त में बैठे राजा महाविजित के मन में यह विचार आया कि मेरे इतने धन-धान्य तथा समृद्धि है, क्यों न मैं एक यज्ञ सम्पन्न करूँ, जो मेरे लिए दीर्घकाल तक हितकर और कल्याणकारी होगा[२]।

तब उस राजा महाविजित ने अपने ब्राह्मण पुरोहित को बुलाकर यह कहा कि मैं एक महायज्ञ करना चाहता हूँ, इसलिए आप मुझे यज्ञ करने का शास्त्रीय विधान

होन्ति यञ्ञत्थाय । दी.नि. भा. १. पृष्ठ १३९ । द्र. अंगुतर नि. ४/पृ. ४१ ।

१. दी. नि. भा. १. पृ. १३९। अं. नि. ४, पृ. ४२ ।

२. दी. नि. भा. १, पृ. १४५ ।

बतायें। राजा के ऐसा पूछने पर ब्राह्मण-पुरोहित ने राजा को उत्तर दिया—'आप का यह राज्य अभी नाना प्रकार के विघ्नों से युक्त तथा उत्पीड़न वाला है। राज्य में गाँव में लूटपाट, निगमों तथा नगरों में लूटपाट तथा वहाँ छीना-झपटी भी देखी जाती है। ऐसी स्थिति में जनता से कर लेना अकृत्य ही होगा। अच्छा होता अगर आप समग्र दस्यु समूह को मारकर पकड़कर कारागार में डालकर इन्हें समूल नष्ट कर दें, तो भी मूलत: इन चोर-लूटेरों को नष्ट नहीं कर पायेंगे। इन दस्यु-चोर-लूटेरों का समूल नाश तभी हो सकता है जब आपके राज्य में निवास हेतु वे आयें तो आप उन्हें कृषि तथा गौरक्षा के लिए बीज दें, व्यापार के लिए पूँजी दें, जो आपके राज्य की सेवा करने हेतु आये, तो उन्हें आप सम्मानित जीवन जीने हेतु वेतन दें। इस प्रकार वे आपसे उपकृत होकर अपनी ओर से ऐसा कोई भी कार्य नहीं करेंगे जिससे आपकी या आपकी जनता की कोई हानि हो[१]। इससे उनके दिए हुए कर से आपका खजाना भी बढ़ेगा और इस तरह सुखपूर्वक अपने-अपने व्यापार में लगे रहने के कारण आपका राज्य भी निष्कटंक और निर्बाध रहेगा। उस राजा महाविजित ने अपने पुरोहित ब्राह्मण के ऐसा बताने पर उसने राज्य में बसने आने वाले साधारणजनों को, जो वहाँ कृषि तथा गौरक्षा का कार्य करना चाहते थे, उनको बीज या धान देकर सहायता प्रदान की। व्यापारियों को वित्तीय अनुदान देकर व्यापार के लिए उत्साहित किया। नौकरी करने वालों को अच्छा वेतन देकर सम्मानित किया। इस प्रकार वे सब अपने-अपने कार्य में लगे रहकर राजा का उपकार मानते हुए राज्य में सुख-शान्ति से रहने लगे और राजा महाविजित की प्रजा निष्कंटक एवं निर्बाध रूप से सुखपूर्वक निवास करने लगी। तब राजा महाविजित ने अपने पुरोहित ब्राह्मण को बुलाकर कहा कि—श्रीमान् आपके बताये हुए उपाय से मेरे राज्य में लूटपाट समाप्त हो गया है और जनता के सहयोग से मेरे कोष में भी वृद्धि हो गई है। अत: अब हम एक महायज्ञ का अनुष्ठान करना चाह रहे हैं। अत: आप हमें उसकी ऐसी विधि बतायें जिससे यह यज्ञ सम्पन्न हो सके जो मेरे लिए कल्याणकर हो। तब ब्राह्मण-पुरोहित ने राजा को कहा कि[१] हे राजन् ! अपने राज्य के निगम तथा नगरों में जितने भी आपके अनुयायी क्षत्रिय हैं, उन्हें आप बुलायें और कहें कि मैं एक यज्ञ करना चाहता हूँ आप उसके लिए अनुमति प्रदान करें।[२] राज्य में अमात्य तथा सभासद के सदस्य से भी अनुमति ले लें।[३] राज्य के गाँव तथा नगरों में रहने वाले बड़े-बड़े ब्राह्मणों को भी बुलाकर उनसे अनुमति ले लें तथा जो आपके गाँव या नगरों में रहने वाले बड़े-

१. दी. नि. भा. ११ पृ. १४६

१. दी. नि. भा. पृ. १४५,४३

बड़े धनपति हैं, उन्हें बुलाकर उनसे भी इस महायज्ञ को सम्पन्न करने के लिए अनुमति ले लें। ऐसा करने से यह सुन्दर तरह सम्पन्न हो सकेगा। इस तरह अनुमति से होने वाले यज्ञ के प्रारम्भ करने की ये चार विधियाँ सहायक होगी। इसी क्रम में राजा के आठ अंग (गुण) यज्ञ में सहायक हैं। राजा महाविजित आठ अंगों से युक्त था। (१) वे उभयपक्ष (मातृपक्ष तथा पितृपक्ष) से शुद्ध था, सातवीं पीढ़ी तक उसकी जाति निष्कलंक थी। (२) वह देखनें में अत्यन्त सुन्दर दर्शनीय तथा मनोहर था। (३) वह शीलवान आर्यानुरूप शील से युक्त था। (४) वह आढ्य, महान धनवान तथा परम ऐश्वर्य सम्पन्न था। (५) वह बलवान चतुरंगिणी सेना वाला शत्रुओं को अपने कीर्ति प्रताप से तपाने वाला था। (६) धर्म में श्रद्धालु, दानदाता, श्रमण, ब्राह्मण, दरिद्र, कृषि, भाटचारण एवं भिक्षुओं के लिए अपने आवास के द्वार खुला रखने वाला, प्यासे से प्याऊ के समान पुण्यकर्त्ता था। (७) वह बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों का ज्ञाता) प्रश्नों का उचित उत्तर देने वाला तथा दूसरे के कथन को उचित रीति से समझने वाला था। तथा (८) पण्डित, चतुर, मेधावी, भूत-भविष्य एवं वर्तमान की बातों को समझने में समर्थ था[१]।

यज्ञ को कराने वाले पुरोहित में चार गुण होना आवश्यक है—१. वह दोनों कुलों-मातृकुल एवं पितृकुल से सातवीं पीढ़ी तक सुजात एवं निष्कलंक हो। २. वेदाध्यायी, मन्त्रज्ञ, तीन वेदों में पारंगत तथा महापुरुष लक्षणों का ज्ञाता हो। ३. वह शीलवान् हो। ४. पण्डित, चतुर, मेधावी और यज्ञकर्मविधि के ज्ञान से युक्त हो तथा यज्ञ कराने वालों में जिनका प्रथम या द्वितीय स्थान रखता हो। यज्ञ के सम्पादयिता पुरोहित में भी ये चार गुण होने चाहिए। १. यज्ञ करने वाला, २. अनुमतिदाता, ३. यजमान एवं ४. पुरोहित। ये चार यज्ञ के प्रधान अंग होते हैं।

तब ब्राह्मण पुरोहित ने राजा महाविजित को, यज्ञ से पूर्व तीन चिन्ताओं से दूर रहने के लिए सावधान किया (१) राजन् यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व यज्ञ में होने वाले व्यय का अनुमान लगाकर यह खेद नहीं होना चाहिए कि इसमें इतना अधिक धन व्यय हो जायेगा (२) यज्ञ होते समय यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि इसमें अधिक व्यय हो रहा है। (३) या फिर यज्ञ समाप्त होने पर यह पश्चाताप नहीं करना चाहिए कि यज्ञ को कराने में मेरा इतना धन नष्ट हो गया।

उस पुरोहित ब्राह्मण ने राजा महाविजित को यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व ही दान लेने वालों के प्रति पैदा होने वाले दुर्भाव हटाने के दस उपाय सुझाये। (१) आपके

१. दी. नि. भा. १ प्र. १४८ (बौ. भा. प्र.)

इस यज्ञ में दान लेने वाले में हिंसक भी आयेंगे और अहिंसक भी। जो वहाँ हिंसक हैं, वे हिंसक होते रहे, आपको उनकी हिंसा से कोई लेना देना नहीं है। हाँ जो अहिंसक आयेंगे उनके सहारे आप अपना यज्ञ सम्पन्न कीजिये। मन में प्रसन्नता लाइये अपने हृदय को प्रमुदित रखिए। (२) इसी प्रकार आपके यज्ञ में दान लेते समय चोर भी आयेंगे, चोरी से दूर रहने वाले भी (३) व्यभिचारी भी, व्यभिचार से दूर रहने वाले भी, (४) असत्यभाषी असत्यभाषण से दूर रहने वाले भी, (५) चुगलखोर भी, चुगलखोरी से दूर रहने वाले भी, (६) कठोरभाषी भी मृदुभाषी भी, वक्तवादी भी संयम से बोलने वाले भी (७) लोभी भी लोभरहित भी (८) द्वेषचित्त भी अद्वेषचित्त भी, (९) मिथ्यादृष्टि सम्पन्न भी, (१०) सम्यक् दृष्टि वाले भी जो सम्यक् दृष्टिसम्पन्न आयें उनके पुण्य के सहारे यज्ञ प्रारम्भ कीजिए, उसे पूर्ण कीजिए तथा इस तरह अपने चित्त को प्रमुदित एवं प्रसन्न रखिए। इस तरह उस ब्राह्मण पुरोहित ने राजा महाविजित को यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व ही यज्ञ में याचकों को दिये दान के कारण मन में होने वाली दुर्भावनाओं को मिटाये रखने के लिए सचेत कर दिया।[१]

तदनन्तर उस पुरोहित ने राजामहाविजित को जो उस महायज्ञ का यजमान होने जा रहा था, चित्त का सन्दर्शन समादपन। उत्साह एवं समुत्तेजित किया (१) यज्ञ करते समय आप को कोई यह कहना चाहे कि 'राजा महाविजित महायज्ञ तो कर रहे हैं, किन्तु इन्होंने अपने नैगम जनपद अनुयुक्त (सहयोगी) क्षत्रियों को आमन्त्रित नहीं किया, फिर भी ये यज्ञ कर रहे हैं। ऐसा कहने वाले के प्रति ध्यान न दें क्योंकि आप उन्हें पहले ही आमन्त्रित कर चुके हैं। आप प्रसन्नता पूर्वक यज्ञ कीजिए, सोत्साह यज्ञ कीजिए और अपने मन को प्रसन्न एवं पुलकित रखिए।

(२) सम्भवत: आपको कोई यह कहने वाला हो जाय कि यह राजा महाविजित यज्ञ तो प्रारम्भ कर रहा है, परन्तु अपने नैगम या जनपद अनुयोगी महामात्य एवं शासन परिषद् के सदस्यों को तो पूछा ही नहीं।

(३) सम्भवत: ब्राह्मण महाशालों को तो पूछा ही नहीं, (४) धनी गृह-पतियों को तो पूछा ही नहीं, (५) राजा उभयत: सुजात नहीं है। (६) राजा रूपवान, सुन्दर, मनोहर नहीं है। (७) राजा आढ्य, महान् वित्त-ऐश्वर्य सम्पन्न नहीं है। (८) राजा शीलवान् नहीं है (९) राजा बलवती चतुरङ्गिणी सेना से युक्त नहीं है। (१०) श्रद्धालु नहीं है। (११) बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता नहीं है। (१२) पण्डित, व्यक्त मेधावी नहीं है। (१५) पुरोहित शीलवान् नहीं है। (१६) इस राजा का पुरोहित पण्डित, शास्त्रज्ञ,

---

१. दी. नि. आ. १. पृष्ठ १४९, ५०

वेदों एवं मन्त्रों को जानने वाला नहीं है। इस प्रकार महायज्ञ करने वाले राजा महाविजित के चित्त को उसके ब्राह्मण पुरोहित ने इन सोलह विधियों से सन्दृष्ट, सम्प्रहृष्ट एवं समुत्तेजित किया।[१]

घृत-तैल आदि से यज्ञ का निष्पादन श्रेयस्कर है इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा गया है कि—उस यज्ञ में किसी भी प्राणि की हिंसा नहीं हुई। न यज्ञ-स्तम्भ बनाने के लिए वृक्ष काटे गये, न हविष के लिए दर्भ उखाड़े गये। इसी प्रकार उसके दास-दासी सेवक, कर्मकर न दण्ड से न भय से प्रताड़ित हुए। जहाँ जिसने जो प्रसन्नता से चाहा उसे पूर्ण किया, जहाँ जिसने जो कार्य प्रसन्नतापूर्वक करना नहीं चाहा उससे वह कार्य नहीं कराया गया। इस प्रकार घी, तैल, मक्खन, मधु और फाणित (खांड) से ही वह यज्ञ निष्पन्न हो गया। उस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए अनेक नैगम, जानपद, अनुयुक्त, क्षत्रियों, अमात्य, पार्षदों, धनी ब्राह्मणों, गृहपतियों ने बहुत सा धन्य-धान्य लेकर राजा महाविजित के पास जाकर कहा महाराज यह तुच्छ भेंट यज्ञ हेतु लाये हैं इसे स्वीकार करने की कृपा करें। राजा ने कहा—नहीं भाई ! मेरे पास पूर्वजों द्वारा दिया हुआ अपार सम्पत्ति है अत: आप सब द्वारा लाया हुआ धन आप लोग वापस ले जाय और यहाँ से आप लोग प्रसाद के रूप में कुछ ले जायें।

राजा के द्वारा उन लोगों का लाया हुआ धन लेने से निषेध कर देने पर उन सब ने विचार किया कि यज्ञ हेतु लाया गया धन वापस ले जाना उचित नहीं होगा, अत: हम लोग भी इस धन को यज्ञ निष्पत्ति में ही लगा दें। तब उस यज्ञ में पूर्वी छोर से क्षत्रियों ने, दक्षिण छोर से अमात्य एवं शासन पार्षदों ने पश्चिमी छोर से ब्राह्मणों ने और उत्तरी छोर से वणिक् गृहपतियों ने लाये हुए धन को दान कर दिया। इस प्रकार उन जनता द्वारा निष्पन्न यज्ञविधियों में किसी प्रकार की हिंसा एवं शोषण नहीं हुआ और घी, तैल, नवनीत, दही, मधु एवं खाड़ से समग्र कार्य निष्पन्न हुए। इस प्रकार ये चार अनुमति पक्ष आठ अंगों से युक्त राजा महाविजित तथा चार अङ्गों से युक्त पुरोहित सोलह परिष्कार इन तीन विधाओं वाली यज्ञ सम्पदा सम्पन्न हुई। कूटदन्त ब्राह्मण को ऐसा लगा कि श्रमण गौतम उस यज्ञ में या तो राजा महाविजित थे, या फिर पुरोहित ब्राह्मण। इस विषय में श्रमण गौतम ही वास्तविकता जानते हैं कि मनुष्य ऐसा यज्ञ करके या करा के उस देहपात के बाद सुगति स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है। तब भगवान् बुद्ध ने कहा—हे ब्राह्मण ! मैं जानता हूँ कि वैसा यज्ञ

१. दी. नि. भा. १, पृ. १५१, ५२ बौ. भा. प्र. ।

करके या कराके मरणान्तर सुगति स्वर्गलोक में ही उत्पन्न होता है। उस समय मैं उस यज्ञ को कराने वाला पुरोहित ब्राह्मण था[१]। पुनः कूटदन्त ब्राह्मण ने यह प्रश्न किया कि हे गौतम ! क्या इस सोलह परिष्कार वाली त्रिविध यज्ञसम्पदा से भी कम सामग्री लगने वाला कम समारम्भ वाला किन्तु अधिक फलदायी या अधिक माहात्म्य वाला कोई और भी यज्ञ है? भगवान बुद्ध ने ऐसा पूछने पर कहा कि ब्राह्मण इससे अधिक फल देने वाला एवं अधिक माहात्म्य वाला अन्य यज्ञ हैं—जो इस प्रकार है—

१. दान यज्ञ—'ब्राह्मण ! वह जो प्रत्येक कुल में शीलवान् प्रव्रजितों के लिए नित्यदान किये जाते हैं यह दानयज्ञ अधिक फलदायी तथा अधिक माहात्म्य वाला है।

संघ के लिए विहार निर्माण यज्ञ, त्रिशरण यज्ञ, शिक्षापद पाठ यज्ञ, शीलयज्ञ, समाधि यज्ञ तथा प्रज्ञायज्ञ को अल्पसमारम्भ तथा महाफलदायी बताया[२]।

त्रिशरण यज्ञ के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जब कोई निर्वाण का अभिलाषी साधक प्रसन्न चित्त से बुद्ध की शरण में जाता है, धर्म की शरण में जाता है, संघ की शरण में जाता है तो यह यज्ञ उक्त त्रिविध यज्ञसम्पदा एवं सोलह परिष्कार वाली यज्ञसम्पदा, नित्यदान एवं संघ के उद्देश्य से भवन-निर्माण रूप यज्ञ की अपेक्षा कम खर्च वाला एवं अधिक माहात्म्य वाला है। शिक्षापद पाठ यज्ञ—के महत्त्व को बतलाते हुए बुद्ध ने कहा—जो साधक प्रसन्नचित्त होकर शिक्षापदों को हृदयङ्गम करता है, जैसे प्राणातिपात (हिंसा) से विरत रहना, अदत्तादान (चोरी) से विरत रहना, मृषावाद से विरत रहना, सुरा-मेरेय-मद्य एवं ऐसे ही अन्य प्रमाद स्थानों से दूर रहना। यह यज्ञ अन्य त्रिविध यज्ञ सम्पदा एवं षोड़श परिष्कार वाली यज्ञविधि, वित्तदान, विहारनिर्माण, त्रिशरणयज्ञ से भी कम खर्च एवं अधिक माहात्म्य वाला है।

शीलयज्ञ—के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि कोई साधक प्राणातिपात का त्याग कर उससे सर्वथा विरत रहता है, अदिन्नादान से विरत रहता है, अब्रह्मचर्य से विरत रहता है, मिथ्याभाषण से विरत रहता है, पिषुणवचन से विरत रहता है। कठोरवचन से विरत रहता है, निरर्थक बातचीत से विरत रहता है बीजसमूह या

---

१. द्र. दी. नि., भा. १, पृ. १५२, ५३, ५४

२. अत्थि खो ब्राह्मण, अञ्ञो यञ्ञो इमाय तिविधाय यञ्ञसम्पादाय सोलसपरिक्खाराय अप्पट्ठत्तरो च अप्पसमारम्भतरो च महप्फलतरो च महानिसंसतरो चा' ति ।

३. द्र. दी. नि. भा. १. पृ. १५५, १५६, १५९ ।

जीवसमूह के नाश की चर्चा छोड़कर सभी तरह के बीजों एवं जीवों के नाश से विरत रहता है। दिन में एक बार ही भोजन करता है। नृत्य गीत नाट्य और अश्लील प्रदर्शन से विरत रहता है। माला, गन्ध, विलेपन, धारण, मण्डन, विभूषण आदि शरीर को अलंकृत करने वाले कार्यों से विरत रहता है। ऊँची या सजी-धजी (अलंकृत) शय्या का उपभोग नहीं करता है इस प्रकार वर्णित सम्पूर्ण शील का पालन अन्य सभी यज्ञों से कम खर्चवाला और अधिक महात्म्यवाला यज्ञ है।

समाधियज्ञ की प्रशंसा करते हुए भगवान् बुद्ध ने बताया है कि जब कोई साधक भिक्षु ज्ञानदर्शन के लिए चित्त को झुकाता है, लगाता है तथा प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम ध्यान का अभ्यास करता है, अरूप ध्यान का अभ्यास करता है। यह समाधि यज्ञ अन्य सभी उपर्युक्त यज्ञों से कम खर्चवाला तथा अधिक माहात्म्यवाला यज्ञ है।

प्रज्ञायज्ञ—जब कोई साधक ऐसा जानता है कि मेरे लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है। सभी आश्रव समाप्त हो गये हैं, आश्रवों से चित्त के विमुक्त हो जाने पर वह जान लेता है कि मैं मुक्त हो गया हूँ (विमुत्तस्मिं विमुत्तमिति ञाणं होति। खीणा जाति, वुसितं ब्रह्मचरियं, कतं करणीयं, नापरं इत्थत्ताया) ति। जाति क्षीण हो गई, ब्रह्मचर्यवास पूर्ण हो गया, करणीय कर लिये गये अब कुछ भी करना शेष नहीं है, पुनर्जन्म सम्भव नहीं है, ऐसा ज्ञान को उपलब्ध होता है तो यह यज्ञ पूर्वोक्त सभी यज्ञों से कम खर्चवाला तथा अधिक माहात्म्यवाला है। इस प्रकार का प्रज्ञायज्ञ से अधिक माहात्म्यवाला और कोई यज्ञ नहीं है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने शीलयज्ञ, समाधियज्ञ एवं प्रज्ञा-यज्ञ को अधिक गुणशाली और महत्त्वपूर्ण बताया हैं।[१]

उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट होता है कि भगवान् बुद्ध हिंसा एवं शोषण रहित यज्ञ के समर्थक थे। जैसा कि महाविजित के व्याज से बताया गया है कि जब तक प्रजा संतुष्ट एवं सुखी जीवन यापन करने योग्य न हो जाय तब तक यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करनी चाहिए। कूटदन्त सुत्त में यह कहा गया है कि जब तक राज्य में किसी प्रकार का विघ्न हो, उत्पीड़ा हो, बाधा हो, राज्य में गाँवों निगमों या नगरों में लूटपाट, छीना-झपटी हो तब तक यज्ञ के अनुष्ठान का संकल्प नहीं करना चाहिए वरन् कृषि एवं गोरक्षा के बीज, व्यापार के लिए पूँजी (अनुदान) व्यापारियों

---

१. द्र. दी. नि. भा. १, पृ. १५५, १५६, १५८, १५९।
इमाय च ब्राह्मण, यञ्ञसम्पदाय अञ्ञा यञ्ञासम्पदा उत्तरिता वा पणीततरा दी. वि. भा. १. पृ. १५९।

को सुरक्षा एवं अनुदान तथा सेवा करने वाले को सम्मानित जीवन बिताने योग्य वेतन देकर संतुष्ट करना चाहिए। ऐसा करने से राज्य की जनता उपकृत समझकर ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिससे राज्य की या राज्य की जनता की कोई हानि हो सके। इस प्रकार राज्य के लोग सन्तुष्ट, समृद्ध एवं सुखी होकर अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहेंगे जिससे राज्य भी समृद्ध हो जायेगा। सबको अपने-अपने कार्य में लग जाने से राज्य सुख एवं समृद्धि से युक्त हो जायेगा। ऐसी अवस्था आ जाने पर ही यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। पुन: यह भी बताया गया है कि हिंसा एवं शोषण से विरहित अल्प सम्भार युक्त यज्ञ करना हितकर होता है। हिंसा एवं शोषण विरहित, घृत-तैल, खाड़, नवनीत आदि से यज्ञ सम्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार तीन विधि एवं सोलह परिष्कार युक्त यज्ञ सब प्रकार से श्रेष्ठ होता है। इससे भी अधिक श्रेष्ठ एवं माहात्म्य सम्पन्न यज्ञ की प्रशंसा करते हुए—दानयज्ञ, शील यज्ञ, समाधि यज्ञ एवं प्रज्ञा यज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है। इन सब यज्ञों का विधान इस लघुनिबन्ध में नहीं किया जा सकता। दान (त्याग) का महत्त्व सुविदित है। शील मानवजाति की शोभा है तथा सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित पथ पर अग्रसर करने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इससे इस जीवन में सुख तथा अपर जीवन में भी स्वर्गादि सुख सम्भव है। समाधि यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण मानसिक क्लेशों को दूर कर मनुष्य मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। तथा प्रज्ञा यज्ञ समस्त क्लेशों को काट देता है तथा मनुष्य को प्रकाशमय दीप्ति प्रदान करता है। आस्रवों (कामाश्रव, भवाश्रव, दृष्टि आश्रव तथा अविद्याश्रव को नष्ट कर अनाश्रव हो जाता है तथा निर्वाण को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है पुनर्भव नष्ट हो जाता है तथा करणीय शेष नहीं रह जाते। इस प्रकार पालि साहित्य में यज्ञों का विधान विस्तार से बताया गया है जो अपने लिए तथा लोक के लिए अत्यन्त हितकर एवं कल्याणकर है।

✱

बौद्धतन्त्र व निगमागम सम्बन्ध

प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे
आचार्य एवं अध्यक्ष बौद्धदर्शन-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

पुरातनी एवं सनातनी सरणि का सेतु, पौरस्त्य और पाश्चात्त्य दार्शनिक पृष्ठभूमि का परम पावन गहन गाङ्गस्रोत का उद्गम-स्मारक, जप-तप-यम-नियम-समाधि-अनुस्मृति-तर्क-चिन्तन-मनन-निदिध्यासन प्रभृति यौगिक क्रियाकलापों का हिमालय, वैदिकावैदिक-नास्तिकानास्तिक-आत्मानात्म-ईशानीशादि वैष्णव, शाक्त, शैव, बौद्ध तथा जैनों की द्वन्द्वात्मक, परस्पर विरोधात्मक किन्तु फलत: समवे सुर-ताल-लयात्मक देवादेव, श्वेताश्वेत, हीनयानीमहायानी सदृश गङ्गायमुनी संस्कृति का मेरुदण्ड, स्वर्ग-मोक्ष-कैवल्य-निर्वाणादि स्वान्त: सुखाय, स्वयं संवेद्य, पारलौकिक स्वानुभूतिभाव भूमि पटल पर सहजरूपेण स्वत: स्फुरित, जाज्वल्यमान् मार्ग का अद्वितीय साधनाकेन्द्र, सहनीय, कमनीय, प्रकल्पनीय ज्ञान-विज्ञानगौरवार्णव वेद-वेदाङ्ग-पुराणेतिहास-साहित्य-सौन्दर्य-तन्त्रादि शास्त्रों का रत्न भाण्डागार, सर्वधर्म-समभावजननी संस्कृत-पालि-प्राकृतादि त्रिवेण्यात्मक भाषाओं के माध्यम से परमौपनिषदिक, महाकारुणिक, 'सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:, मा कश्चित् दु:खभाक् भवेत्, संगच्छध्वं, संवदध्वं संयो मनांसि जानताम्, विश्वबन्धुत्व, विश्वैकनीडम् तुल्य, सर्वजनहिताय, एवं सर्वपृथक्जनसुखाय, दिव्यातिदिव्य भव्यातिभव्य अमरसन्देश समुद्घोषक तथा जय-विजय शङ्खनादकारक, अजस्रगत्या, प्रवहणशील परापरामहाविद्याओं एवं परा, पश्यन्ती, वैखरी प्रभृति दैवी वाक् का प्रथम सारस्वत विश्वविद्यालय, आलवारों, सिद्धों, नाथों, ऋषियों एवं मुनियों का वृन्दावन तुल्य सारे जहाँ से अच्छा भारतवर्ष अतिप्राचीन काल से ही अध्यात्म प्रधान देश रहा है। तन्त्रविद्या उस आध्यात्मिक साधना का परम चरमोत्कर्ष भी रहा है। वस्तुत:, मानव की परिपूर्णता अथवा मानवत्व विकास की पराकाष्ठा भी बुद्धत्व-सम्प्राप्ति ही है। एतदर्थ, सभी विशुद्ध एवं अनास्रव मानवोचित सद्गुणों का एकत्र समवस्थान अतीव विशाल, रहस्य, गूढातिगूढ मर्मोद्घाटक बौद्धतन्त्रवाङ्मय ही

है। तन्त्र का अर्थ है 'अविच्छिन्न सन्तति'। पृथक्जन अवस्था से लेकर बुद्धत्व-प्राप्ति पर्यन्त निरन्तर प्रवहमान चित्तसन्तति, जो मार्ग द्वारा शोधनीय वस्तु है, वह वस्तुतन्त्र कहलाती है। चित्त का शोधन करने वाले प्रज्ञोपाय-युगनद्ध मार्ग की अविच्छिन्न सन्तति 'मार्गतन्त्र' और उस मार्ग से प्राप्य बुद्ध के रूपकाय और ज्ञानकाय के युगनद्धत्व की अविच्छिन्न सन्तति 'फल तन्त्र' कही जाती है। इन वस्तु, मार्ग एवं फल तन्त्रों को विषय बनाकर जो बुद्धवचन उपदिष्ट हैं, वह 'बौद्धतन्त्र-वाङ्मय' है।

बोधिचित्त का उत्पाद किये बिना व्यक्ति बौद्धतन्त्र का साधारण पात्र भी नहीं बन सकता है, क्योंकि समस्त तन्त्र की साधना में महाकरुणा और बोधिचित्त प्रारम्भ मध्य और अन्त में अनिवार्यता परमावश्यक है। अत: न केवल बौद्धेतर तन्त्रों से बौद्धतन्त्र विशिष्ट है, अपितु श्रावकयान के मार्ग और साधनाओं से भी चित्तोत्पाद के कारण अति विशिष्ट है। इन सबके कारण मार्ग का मुख्य आलम्बन शून्यता और उसके ज्ञाता, ज्ञान में भेद नहीं होने पर भी उपायों की विशेषता, बहुलता तथा सुगमता के कारण बुद्धत्व प्राप्ति में पारमितायान से वज्रयान अतीव विशिष्ट होता है। असंमोह, उपायबहुलता, अदुष्कर चर्या तथा तीक्ष्णेन्द्रियतादि विशेषताओं के कारण तन्त्रयान, पारमितायान से भिन्न होता है—

'एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते।।

तत्त्वरत्नावली, पृष्ठ-२१

साधारण महाकरुणा और बोधिचित्त बोधिसत्त्व को पारमितायान में भी या उसकी साधना में भी अर्हता प्रदान करते हैं, परन्तु तन्त्रयान में प्रवेशार्थ तदपेक्षया अतीव प्रबल करुणा और बोधिचित्त की अपेक्षा होती है, अत: पारमितायान से भी बौद्धतन्त्र विशिष्ट है।

प्रकटत:, रूप से देवमण्डल के देवताओं अथवा मण्डल-निर्माण-विधि में बौद्धेतर तन्त्र, बौद्ध तन्त्र के समान हो सकते हैं, परन्तु उस देवमण्डल के प्रत्येक योग, पूजन, जाप, साधना में अतीव भिन्नता होती है। किसी भी तन्त्रसाधना के प्रयोगमार्ग के समकक्ष पहुँचने के लिए माध्यमिक दर्शन की अनिवार्यता है। समस्त धर्मों को नि:स्वभावता में शुद्ध किये बिना किसी भी देवमण्डल की भावना प्रारम्भ नहीं होती। समस्त पूजन-सामग्री को भी शून्य में विशुद्ध करके पुन: उत्पत्तिक्रम से अधिष्ठित किया जाता है। संक्षेपत: बोधिचित्त और शून्यता-

ज्ञान दोनों किसी बौद्धेतर तन्त्र में नहीं पाये जाते। अतएव, बौद्ध तन्त्र बौद्धेतर तन्त्रों से पृथक् है।

मैं स्वीकार करता हूँ प्राणायाम, चक्रभेदन आदि अनेक तान्त्रिक विधियाँ बौद्ध एवं बौद्धेतर तन्त्रों में समान हो सकती हैं, परन्तु इन विधियों से सम्प्राप्त शारीरिक परिवर्तनों अथवा सुख-संवेदनाओं को बोधिचित्त और शून्यता ज्ञान से मार्गीकृत किये बिना ये सब शारीरिक एवं लौकिक क्रियामात्र सिद्ध होगी, जिससे आध्यात्मिक समुत्कर्ष सम्भव नहीं होगा। बौद्ध तन्त्र में इन सब विधियों को बोधिचित्त और शून्यता ज्ञान के सहयोग से बुद्धत्व प्राप्ति के मार्गरूप में विनियुक्त किया जाता है। अतएव यह अन्य तन्त्रों से विशिष्ट है।

बौद्धतन्त्रों के उद्भव के सम्बन्ध में एक परम्परावादी सिद्धान्त और दूसरी ऐतिहासिक एवं तात्त्विक विकास क्रम की दृष्टि-मतद्वय सुस्पष्ट हैं। उनको क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र तथा अनुत्तर योगतन्त्र-प्रमुख विभाग चतुष्टय में विभाजित किया जाता है। जिस तन्त्र में देवयोग उपाय की साधना करते समय वाह्यकर्मों (स्नान, आसन आदि) पर आधारित होना पड़ता है तथा आन्तरिक समाधि और वाह्य क्रिया में वाह्यक्रिया ही प्रधान् होती है, इसको 'क्रियातन्त्र' कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रधानत: छ: भाग हैं, इनमें प्रथम मञ्जुश्री से सम्बद्ध तन्त्रों का प्रवर्तन शुद्धावास लोक में हुआ[१]। अवलोकितेश्वर से सम्बद्ध तन्त्रों का प्रवर्तन पोतल नामक पर्वत पर, अचलतन्त्र का त्रायस्त्रिंश लोक में, वज्रपाणि से सम्बद्ध तन्त्रों का प्रवर्तन पाताल लोक में तथा उष्णीष से सम्बद्ध तन्त्रों का प्रवर्तन गृध्रकूट में हुआ।[२] अधिक राग को मार्गीकृत करने तथा अधिक सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता नहीं रखते, ऐसे विनेयजनों के लिए 'योगतन्त्र' की देशना की गई है। इससे सम्बन्धित बौद्धतन्त्र-नीलाम्बरवज्रपातालतन्त्र, नीलाम्बर-त्रैलोक्यविनयतन्त्र, अचलमहाक्रोधतन्त्र, एवं वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र हैं।[३] जो विनेयजन अधिक राग को मार्गीकृत करने तथा अधिक सुख को शून्यता ज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता नहीं रखते, उन्हें 'योगतन्त्र' की देशना की गई है।

---

१. बौद्धतन्त्र साहित्य का वर्गीकरण, धी:, अङ्क ५, पृष्ठ ६३-८२, १९८८

२. तन्त्र का स्वरूप एवं आभ्यन्तर भेद, धी:, अङ्क-७, पृष्ठ १५४ क्रियातन्त्र से सम्बन्धित त्रिसमयव्यूह राजनाम तन्त्र, अनन्तमुखसाधक धारणी तन्त्र, सर्व तथागताधिष्ठान हृदयगुह्य धातुकरण्ड नाम धारणी एवं रश्मिविशुद्ध प्रभा नाम धारिणी-प्रमुख बौद्धतन्त्र ग्रन्थ हैं।

३. संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास, एकादश-खण्ड (तन्त्रागम), पृष्ठ ४०८, प्रधान सम्पादक श्री बलदेव उपाध्याय

इसके अन्तर्गत प्रकारत्रय-मूलतन्त्र, व्याख्या तन्त्र एवं सदृशतन्त्र-तन्त्र ग्रन्थ हैं। 'सर्वतथागततत्त्वसंग्रह योगतन्त्र का मूलग्रन्थ है।[१] एवमेव त्रैलोक्यविजय महाकल्प, सर्वदुर्गति परिशोधन कल्प,[२] वज्रगर्भालङ्कारतन्त्र एवं मणितिलकतन्त्र तथा साहस्रिका प्रज्ञापारमिता मुख आदि प्रसिद्ध तन्त्र हैं।[३] जो विनेयजन, भाव्यमान विद्या तथा कर्ममुद्रा के साथ भी द्वीन्द्रिय समापत्ति तक के द्वारा समुत्पादित राग को मार्गीकृत कर सकते हैं तथा उससे उत्पन्न सहज सुख अथवा परमाक्षर सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करके शीघ्रातिशीघ्र समस्त क्लेश और ज्ञेय आवरणों का प्रहाण करने में सक्षम होते हैं, उनके लिए 'अनुत्तरतन्त्र' की देशना की गई है। इस प्रकार, अनुत्तर तन्त्र की दृष्टि से चार तन्त्रों का वर्गीकरण करते समय इन्हें ईक्षण तन्त्र, हास तन्त्र, आलिङ्गन तन्त्र, तथा द्वीन्द्रिय समापत्ति के नाम से भी 'श्रीवज्रहृदयालङ्कार तन्त्र' में कहा गया है। यह अनुत्तर योगतन्त्र मातृतन्त्र, पितृतन्त्र एवं अद्वयतन्त्र नामक तीन भागों में सुविभक्त हैं। पितृतन्त्र एवं मातृतन्त्र, पितृतन्त्र एवं अद्वयतन्त्र नामक तीन भागों में सुविभक्त हैं। पितृतन्त्र एवं मातृतन्त्र को योगतन्त्र, योगिनीतन्त्र, उपायतन्त्र, प्रज्ञातन्त्र, डाकतन्त्र, तथा डाकिनी तन्त्र के नाम से भी जाना जाता है। इस तन्त्र के 'गुह्यसमाज तन्त्र, हेवज्र एवं कालचक्र तन्त्र आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वस्तुतः आधुनिक विद्वानों ने बौद्ध तन्त्र की समुत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक और तात्त्विक विकास क्रम को महत्त्व प्रदान किया है। इस विकास क्रम में क्रमशः वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और माध्यमिक अभिमत है। तन्त्रों के अध्ययन के लिए सर्वप्रथम इन सिद्धान्तों का अध्ययन परमावश्यक है। भगवान् बुद्ध के प्रारम्भिक तन्त्र की प्रवृत्तियों का अन्वेषण करना चाहिये। विनयपिटक में प्राप्त कथानक, मिलिन्दपञ्हों के उद्धरण, दीघनिकाय के परीत्तसुत्त, कैवटसुत्त तथा महासमय सुत्तन्त आदि में बीजरूपेण बौद्धतन्त्र का सिद्धान्त बुद्ध के मूलवचनों में ही निहित है।[४] प्रो० हाजिमे नाकामूरा का अभिगत है कि बौद्धतन्त्र मूलतः वैदिक क्रियाकाण्डों से प्रभावित हैं।[५] ललितविस्तर, समाधिराजसूत्र, सन्धि निर्मोचन सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक एवं लङ्कावतार आदि प्रारम्भिक महायानी सूत्र ग्रन्थों

---

१. सर्वतथागततत्त्वसंग्रह, सम्पादक-डॉ० लोकेशचन्द्र, दिल्ली, १९८७

२. सर्वदुर्गतिपरिशोधनतन्त्र, सम्पादक-टी. स्कोरूप्स्की ।

३. द्रष्टव्य-धी, अङ्क-११, पृष्ठ १४७-१५४

४. हेवज्रतन्त्र, २.८.८-९ सर्वमन्त्रनयं ज्ञात्वा तदनु हेवज्रमारभेत्'

५. इण्डियन बुद्धिज्म, पृष्ठ ३१४

में धारणियों एवं मन्त्रों का उल्लेख द्रष्टव्य हैं। कारण्ड व्यूहसूत्र, सुवर्ण प्रभाससूत्र और भैषज्यगुरुवैदूर्य प्रभराज सूत्रों में भी बौद्धतन्त्र के तत्त्व प्रचुरमात्रा में समुपलब्ध हैं। एडबर्ड कोंज़े महोदय ने अनेक प्रज्ञापारमिता सूत्रों का भाषाशैलीगत तथा विषयवस्तु की विभिन्नता के कारण तान्त्रिक प्रज्ञापारमिता-साहित्य में समावेश किया है।[१] इस प्रकार तथ्यों के आलोक में कहा जा सकता है कि बौद्धतन्त्र का श्रीगणेश, भगवान् गौतम बुद्ध की सदुपदेशात्मक श्रीवाणी से लेकर अद्यावधि पर्यन्त चिद्विलासात्मक बौद्धतान्त्रिक साधना का पल्लवन एवं विकसन हो रहा है। नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, सिद्धाचार्य आदि प्रारम्भिक महायानी आचार्यों ने भी बौद्धतन्त्र के विकास-परम्परा में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। महामना राहुल सांकृत्यायन ने मन्त्रनय-विकास-क्रम के अनेक चरण मानते हैं। ई० पूर्व ४००-१०० तक सूत्र रूप में, १००-४०० तक धारणी मन्त्रों का काल और मन्त्र का काल ४००-७०० तक स्वीकार किया है। ८००-१२०० ई० तक समय सिद्धों का काल था। सिद्धों ने इस युग में अपनी टीका-टिप्पणियों से ही नहीं, अपितु साधना विधियों और चर्यागीतों द्वारा भी बौद्धतन्त्र-विकसन-क्रम का परिवर्द्धन एवं संवर्धन किया।

भारत में ही नहीं, अपितु भारत से बाहर चीन, जापान, श्रीलङ्का और तिब्बत आदि देशों में भी बौद्धतन्त्र-परम्परा का प्रचार एवं प्रसार हुआ[२]। बौद्ध तन्त्रशास्त्र का अपना विपुल तान्त्रिक वाङ्मय भी है। महत्त्वपूर्ण तान्त्रिक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचयात्मक स्वरूप इस प्रकार है—

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प—प्रस्तुत तन्त्रशास्त्र क्रियातन्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।[३] इसमें अनेक तान्त्रिक विधियों, देवी-देवताओं के स्वरूपों, मुद्रा, मण्डल मन्त्र एवं उनकी पूजा विधियों का वर्णन है। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य के मतानुसार इसमें २८ परिच्छेद हैं, शेष परिच्छेद बाद में जोड़े गये हैं।

सर्वतथागततत्त्वसंग्रह—यह योगतन्त्र का महनीय ग्रन्थ है।[४] इस पर रचित प्रसिद्ध टीकाओं में पद्मव्रज का 'तन्त्रावतार व्याख्यान' आनन्दाचार्य विरचित 'तत्त्वालोककरी नाम व्याख्या तथा कोशलालङ्कारतत्त्वसंग्रह टीका प्रसिद्ध हैं। यह ग्रन्थ वज्रधातु, त्रिलोकविजय, सकलजगद्विनय तथा सर्वार्थसिद्ध—चार खण्डों में

१. (Tantric) प्रज्ञापारगिता Texts-Conze, Sino-Indian. Vol-v, Part-II, Page-100-122

२. संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास, एकादश खण्ड, पृष्ठ-४१९-४२२

३. गुह्यसमाज तन्त्र भूमिका, पृष्ठ ३२-३८

४. साधनमाला, भाग-२, भूमिका-पृष्ठ ५७

विभक्त है। देवता-उत्पत्ति, तत्त्वहृदय, मुद्रा, मन्त्र, विद्या, अधिष्ठान, अभिषेक, ध्यान, पूजा, स्वतत्त्व, देवतत्त्व, मण्डल, प्रज्ञा, उपाय, फल, हेतु, योग, अतियोग, महायोग, गुह्ययोग, सिद्धिसाधन, समाधि, बोधिचित्त प्रभृति साधनाविधियों का विपुल संग्रह है।[१]

सर्वदुर्गतिपरिशोधनतन्त्र—यह योगतन्त्र का व्याख्या तन्त्र है।[२] आचार्य बुद्धगुह्य ने समस्त ग्रन्थ को भागद्वय में विभक्त किया है—आमुख तथा मूलग्रन्थ। प्रथम खण्ड में तन्त्रोपदेश स्थल, प्रवचन तथा बुद्ध एवं अनुचरों द्वारा विषयोद्भावना है। मूलखण्ड में मण्डल, होम, अभिषेक आदि का सुष्ठु वर्णन है। बुद्धगुह्य की 'दुर्गतिपरिशोधनार्थवार्तिक नाम, आचार्य कामधेनु की' आर्यसर्व दुर्गतिपरिशोधनतेजो राजनाममहाकल्पराजस्य टीका, आनन्दगर्भ की 'सर्वदुर्गति परिशोधनतेजो राज तथागतार्ह सम्यक् संबुद्ध कल्पनाम टीका तथा वज्रवर्मा की 'सर्वदुर्गति, परिधोधन-तेजोराजकल्पालोकालङ्कारनाम' आदि प्रमुख हैं।

गुह्यसमाजतन्त्र—बौद्धतन्त्र-साहित्य में गुह्यसमाजतन्त्र का गौरवमय स्थान है।[३] यह अनुत्तरतन्त्र में उपायतन्त्र का मूलतन्त्र है। गुह्यसमाजतन्त्र, तथागत गुह्यक एवं अष्टादशपटल के नाम से भी प्रसिद्ध है। सन्धिव्याकरणनामतन्त्र, वज्रमाला तन्त्र, चतुर्वेदीयपरिपृच्छातन्त्र, देवेन्द्रपरिपृच्छातन्त्र, अद्वयसमताविजयतन्त्र, वज्रहृदया-लङ्कारतन्त्र—इसके व्याख्या तन्त्रों में प्रमुख हैं। प्रो० एलक्स वैमेन ने इसकी विस्तार से चर्चा की है।[४] गुह्यसमाज पर समाधारित अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं। पद्मव्रज कृत गुह्यसिद्धि[५], आर्य नागार्जुन का पञ्चक्रम[६] तथा इन्द्रभूति द्वारा विरचित ज्ञानसिद्धि प्रमुख हैं।[७] नागार्जुन ने अष्टादशपटलविस्तरव्याख्या तथा मूलतन्त्र पर तन्त्र-टीका की रचना की। चन्द्रकीर्ति ने प्रदीपोद्योतन[८] नामक विस्तृत टीका की

---

१. साधनमाला, भाग-२, भूमिका-पृष्ठ ५७
२. सर्वदुर्गतिपरिशोधनतन्त्र, सम्पादक टी. स्कोरूपस्की, मोतीलाल बनारसी दास, १९८३
३. संस्कृत में तीन संस्करण प्रकाशित हैं— (i) विनयतोष भट्टाचार्य, गो.ओ.सी. ५३
(ii) एस. बागची, १९६५
(iii) प्रो० युकाई मात्सुनागा
४. योग ऑव् द गुह्यसमाजतन्त्र, पृष्ठ ८४-९३
५. गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह, पृष्ठ १-६२
६. पञ्चक्रम, सम्पादक, पूसें, १८९६
७. गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह, पृष्ठ ८९-१५८
८. प्रदीपोद्योतन-सम्पादक-चिन्ताहरण चक्रवर्ती, के.पी. जायसवाल रिसर्च इस्टीट्यूट, पटना

रचना की, चेलुपा की रत्नवृक्षनामगुह्यसमाजवृत्ति, जिनदत्त की पञ्जिका, रत्नाकर शान्ति की कुसुमाञ्जलिगुह्यसमाजनामनिबन्ध, स्मृति ज्ञानकीर्ति की गुह्यसमाज-तन्त्रराजवृत्ति, आनन्दगर्भ की श्रीगुह्यसमाजमहातन्त्रराजटीका—इसकी अन्य महत्त्वपूर्ण टीकाएँ हैं। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने इससे सम्बद्ध सभी टीकाओं एवं ग्रन्थों की सूची दी है।[१]

आर्यमञ्जूश्रीनामसङ्गीति—यह बौद्ध तन्त्रों का सर्वमान्य एवं सर्वाधिक ग्राह्य ग्रन्थ है। परम्परानुसार इसे बुद्धभाषित माना जाता है। अनेक भारतीय तन्त्राचार्यों ने २५ से अधिक इसकी व्याख्या, वृत्ति एवं टिप्पणियाँ की है।[२] इसके प्रारम्भिक टीकाकारों में चन्द्रगोमिगन्, विमलमित्र, विलास वज्र, डोम्बी हेरुक, तथा मञ्जुरी मित्र प्रमुख हैं। विष्णुसहस्रनाम एवं ललितासहस्रनाम की भाँति सुप्रसिद्ध इस ग्रन्थ में अध्येषणा, प्रतिवचन, षट्कुलावलोकन, मायाजालाभि सम्बोधिक्रम, वज्रधातु-महामण्डल, सुविशुद्धज्ञान, आदर्शज्ञान, प्रत्यवेक्षणाज्ञान, समताज्ञान, कृत्यानुष्ठानज्ञान, पञ्चतथागतस्तुति, अनुशंसा, मन्त्रविन्यास एवं उपसंहार सहित १४ परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ को तीन भागों—प्रारम्भ के चार परिच्छेद आमुख, पांचवें परिच्छेद से १०वें परिच्छेद तक मूलग्रन्थ तथा शेष परिच्छेद पूरक में विभक्त किया जा सकता है।

हेवज्रतन्त्र—प्रस्तुत ग्रन्थ अनुत्तरतन्त्र के मातृतन्त्र का मूलतन्त्र है।[३] कृष्णपाद विरचित योगरत्नमाला, भद्रपाद की हेवज्र व्याख्या विवरण, काह्यणपा की स्मृति-निष्पत्ति, नरोपा की वज्रपाद सारसंग्रह, रत्नाकरशान्ति की मुक्तावली, टङ्कदास की सुविशुद्ध सम्पुट, सरोरुह की पद्मिनी, तथा वज्रगर्भ की हेवज्रपिण्डार्थ आदि प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

चण्डमहारोषण तन्त्र—प्रस्तुत ग्रन्थ, एकल्लवीर चण्डमहारोषण रत्न अथवा एक वीराख्य चण्डमहारोषण तन्त्र के नाम से भी सुप्रसिद्ध है।[४] कुछ विद्वान् इसे मातृतन्त्र का ग्रन्थ, जब की क्रिस्टोफर गुह्यसमाज का व्याख्यातन्त्र मानते हैं।[५] इसमें मन्त्र मण्डल, अभिषेक देवता, ध्यान, देहप्रीणन, स्त्रीप्रसंशा, शुक्रवृद्धि,

१. गुह्यसमाजतन्त्र भूमिका, पृष्ठ ३०
२. धीः, अङ्क.१, पृष्ठ २३२
३. हेवज्र तन्त्र-ए क्रिटिकल स्टडी, डी.एल. स्नैलग्रोव, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, लन्दन, १९५९
४. चण्डमहारोषण तन्त्र-सम्पा. जार्ज क्रिस्टोफर, अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी, १९७४
५. द चण्डमहारोषण तन्त्र, भूमिका, पृष्ठ-१

शुक्र स्तम्भन, वायुयोग, देवता साधन आदि विषय वर्णित हैं। यह ग्रन्थ २५ पटलों में विभक्त है। वीर पुस्तकालय (नेपाल) की सूची में इसकी एक टीका चण्डमहारोषण तन्त्र पञ्जिका की सूचना प्राप्त होती है। इसके टीकाकार महासुख वज्रपाद हैं।

खसम तन्त्र—यह एक लघुकाय तन्त्र ग्रन्थ है।[१] मातृतन्त्र से सम्बन्धित इस पर रत्नाकर शान्तिपाद ने 'खसमानाम टीका' लिखी है।[२] इसमें अनेक अपभ्रंश पदों की व्याख्या की गई है। वस्तुत: संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा मिश्रित अनेक बौद्धतन्त्र ग्रन्थ हैं। हेवज्रतन्त्र एवं सम्पुटतन्त्र आदि इसी परम्परा में आते हैं।

महामायातन्त्र—बौद्धतन्त्र-वाङ्मय में यह ग्रन्थ अतीव महत्त्वूर्ण है।[२] जम्बुदीप में कुक्कुरिपाद ने सर्वप्रथम इसका प्रचार-प्रसार किया।[३] इनमें महामाया साधन, मण्डलविधि, महामायातन्त्रानुसार हेरुकसाधनोपाथिका आदि प्रसिद्ध हैं। रत्नाकर-शान्तिपाद की 'गुणवती' दुर्जयचन्द्र की 'मायावती' कृष्ण समयवज्र की 'स्मृतिवृत्ति' तथा 'महामायानामपञ्जिका' आदि टीकाएँ, प्रसिद्ध हैं। प्रथम निर्देश में महामाया तत्त्व, प्रकृति, पार्थिवफल, पर्यन्तफल और विशेष मार्ग का निरूपण, आलिकालि-मन्त्र, धर्मयोग, गुटिकासाधन, शुक्र आकृष्टि, पिण्डाकृष्टि आदि का उल्लेख है। द्वितीय निर्देश में वज्रजाप, त्रियोग के गुण, रविचन्द्र सम्पुट योग का अभ्यास, गुह्याभिषेक का निर्देश, तृतीय निर्देश में अमृतगुटिका साधन, मन्त्रसमुच्चय, समापत्ति का अर्थ, वज्र, अक्षर आदि का न्यास एवं अधिष्ठान का निर्देश किया गया है।

कृष्णयमारितन्त्र—यह पितृतन्त्र का मुख्य ग्रन्थ है।[४] इस पर श्रीधर की श्रीकृष्णयमारितन्त्रपञ्जिका 'सहजालोक नाम', रत्नाकर शान्ति की 'रत्नप्रदीपनाम' कृष्णपा की 'राजप्रेषणपथप्रदीपनाम', कुमारचन्द्र की 'कृष्णयमारितन्त्रराजपञ्जिका-रत्नावलीनाम' तथा पद्मपाणि की 'कृष्णयमारितन्त्रपञ्जिका' आदि प्रसिद्ध टीकाएँ प्राप्त हैं। अष्टादश पटलों में विभक्त इस ग्रन्थ में मुख्यत: मण्डल, कर्म, चक्र,

---

१. राष्ट्रीय अभिलेखालय संख्या-४४१, खसमानाम टीका-सम्पा०-प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, संकाय पत्रिका, पृष्ठ २२७-२५५, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८३

२. गुणवती टीका के साथ केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित ।

३. बौद्ध धर्म का इतिहास, पृष्ठ १४६

४. रत्नावली पञ्जिका के साथ केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ-वाराणसी से प्रकाशित।

आकर्षणादि प्रयोग, मञ्जूवज्रसाधन तथा हेरुकवज्रसाधन आदि विषय वर्णित हैं।

सम्पुटतन्त्र—सम्पुटतन्त्र अथवा सम्पुटोद्भवतन्त्र एक विशाल बौद्धतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें १० परिच्छेद और प्रत्येक परिच्छेद चार-चार प्रकरणों में विभक्त हैं। यह मातृतन्त्र का व्याख्यातन्त्र है।

डाकार्णव तन्त्र—५१ पटलों से पल्लवित डाकार्णव महायोगिनीतन्त्र, संवरतन्त्र का व्याख्या तन्त्र है। पद्मवज्र की 'श्रीडाकार्णवमहायोगिनीतन्त्रराजवाहिक-टीका' है।

अभिधानोत्तरतन्त्र—प्राय: चक्रसंवरतन्त्र से साम्य अनुत्तर तन्त्र का मातृ तन्त्र है।[१] इस विशाल तन्त्र में ६६ परिच्छेद हैं। इसमें मुख्यत: कायसंवर, पीठ सिद्धि, योगिनी के लक्षण, मुद्रा, मण्डलविधि, मन्त्र, स्वाधिष्ठान, आत्मभावपूजा आदि तान्त्रिक विषयों का वर्णन है। श्रीरिनछेन जङ्पो तथा दीपङ्करश्रीज्ञान ने भोटानुवाद किया है।

चक्रसंवरतन्त्र—संवरतन्त्रों में चक्रसंवरतन्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पर लावापा की 'साधन-निदान-श्रीचक्रसंवरनामपञ्जिका भवभद्र की 'श्री चक्रसंवर-पञ्जिकानाम' भव्यकीर्ति की 'चक्रसंवरनामपञ्जिका-शूरमनोज्ञ नाम', जयभद्र की 'चक्रसंवरमूलतन्त्रपञ्जिका', देवगुप्त की 'श्रीचक्रसंवरसाधनसर्वशला नाम टीका' आदि प्रसिद्ध हैं।

संवरोदय तन्त्र—प्रस्तुत ग्रन्थ अनुत्तर तन्त्रकी मातृतन्त्र शाखा से सम्बन्धित, संवरतन्त्र का व्याख्यातन्त्र माना जाता है[२]। इसका मूलतन्त्र 'लघुसंवरतन्त्र' है। व्याख्यातन्त्रों में श्रीवज्रडाकमहातन्त्रराज, योगिनीसंचर्या आदि प्रसिद्ध हैं। ३३ परिच्छेदों वाले इस ग्रन्थ में अभिषेक, मण्डललेखन, होम, यन्त्र, आचार्य एवं शिष्य के गुण आदि विषयों का विवेचन है। आचार्य रत्नरक्षित की 'संवरोदय तन्त्रपञ्जिका' और संवरोदयतन्त्र टिप्पणी—इसकी इन्हीं दो टीकाओं की सूचना मिलती है। शिनीचीत्सुदा ने अपने संस्करण की भूमिका में इसके समग्र साहित्य का विश्लेषण किया है।[३]

---

१. शतपिटक सीरीज, भाग- २६३, नई दिल्ली, १९८१

२. द संवरोदयतन्त्र (Selected chaptiens) सम्पादक-शीनीचीत्सुदा ।

३. इण्डियन बुद्धिज्म, पृष्ठ-३३३

कालचक्रतन्त्र—प्रस्तुत ग्रन्थ अद्वयतन्त्र का मुख्यतन्त्र है।[१] लोकधातु, अध्यात्म, अभिषेक, साधन तथा ज्ञान पटल आदि पञ्च पटलों में विभक्त है। इसकी टीकाओं में दीपङ्करश्रीज्ञान की टीका के अतिरिक्त पुण्डरीकविरचित 'विमलप्रभा' अतीव प्रसिद्ध हैं।[२] इसमें तन्त्र सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त भूगोल, आयुर्वेद, ज्योतिष, रसायन प्रभृति विषय भी हैं। वस्तुतः एक प्रकार से यह तन्त्र का विश्वकोष है।[३]

वस्तुतः, जहाँ तक बौद्धतन्त्र का निगमागम से सम्बन्ध का प्रश्न है, इसके पूर्व ही निगम एवं आगम शब्द की व्याख्यापरक निरुक्ति परमावश्यक है। कुछ विद्वानों के अनुसार निगम शब्द वैदिक वाङ्मय और आगम शब्द तन्त्रागम शास्त्र का सूचक है। जहाँ एक ओर मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि 'आगम' को वेदवाचक मानते हैं, वहीं निरुक्तकार 'निगम' को वेदवाचक मानते हैं। आगमपद से ऋषि प्रणीत शास्त्रों और निगम पद से अपौरुषेय वेद का ही ग्रहण होता है। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव के अनुसार इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्व तान्त्रिक धर्म का अङ्ग है। इष्ट पारलौकिक धर्म है और पूर्व ऐहलौकिक। तात्पर्य यह है कि निगम शब्द से वेद ही अर्थ ग्रहण किया जाता है। यास्काचार्य ने 'इत्यपि निगमो भवतीति' वेदमन्त्र का ही ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार 'आगम' शब्द से वेदातिरिक्त शिवा और शिव के द्वारा कथित सामान्यतः शास्त्रों से ग्रहण किया जाता है। जैसे वेदों में कर्म, उपासना और ज्ञान विषयत्रय का विस्तार द्रष्टव्य है। 'ज्ञानमेव परं ब्रह्म' निगम और आगम में प्रधानतया वर्णन है।

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने कहा है—वैदिकी तान्त्रिकी चेति द्विविधा श्रुतिरुच्यते' अर्थात् निगम और आगम दोनों ही श्रुति हैं। शारदातिलक के अनुसार, परमकारुणिक परम शिव ने सांसारिक जीवों के कल्याण सम्पादनार्थ स्वकीय विमर्शात्मिका शिवास्वरूपा शक्ति को शिष्यमानकर तन्त्रशास्त्र का समुपदेश दिया था—

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।।

१. कालचक्रतन्त्रराज-सम्पादक-विश्वनाथ बनर्जी, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, वर्ष १९८५।
२. विमलप्रभा-भाग-१,२,३, केन्द्रीय उ.ति. शिक्षा संस्थान, वाराणसी (सारनाथ)
३. दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री 'धीः' के प्रत्येक अङ्कों में प्राप्त पाण्डुलिपियों की सूचना है।

अतएव, अनादिकाल से श्रवणपरम्परया सम्प्राप्त 'तन्त्रशास्त्र' को ही आगमशास्त्र कहा जाता है। 'आगम: पञ्चमो वेद: कौलस्तु पञ्चमाश्रय:—महर्षि हारीत के वचनानुसार आगमशास्त्र वेद के समान ही सम्मान्य है। जिस प्रकार 'अनन्ता वै वेदा:' शास्त्रश्रुति प्रसिद्ध है, उसी प्रकार 'अनन्ता वै आगमा:' भी कहा जा सकता है। निगमापरपर्याय वेद परमेश्वर के नि:श्वासरूप है तो आगम भी परमात्मा के उपदेशस्वरूप वाग्विस्तार है। अतएव, परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होना परमावश्यक है; क्योंकि भारतीय तान्त्रिक-साधना-पद्धति में बहिरङ्ग साधना का परिचायक प्रामाणिक ग्रन्थ निगम (वेद) हैं और अन्तरङ्ग साधना का बोधक ग्रन्थ तन्त्रागम है। भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक साधना तत्त्व के यथार्थ बोध के लिये निगमागम का ज्ञान भी परमावश्यक है।

एवमेव, वैदिकावैदिक अथवा नास्तिकास्तिक साधना पद्धति-परम्पराओं में परस्पर सम्बन्ध है। निदर्शनार्थ, यामुनाचार्य का आगम प्रामाण्य का अंश—

'मुद्रिकाषट्कविज्ञानात् पुनस्तस्यैव धारणात्।
अपवर्गफलप्राप्तिर्न ब्रह्ममावगमादिति ।।
कर्णिका रुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिम्।
भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते ।।
कपालमथ खट्वाङ्गमुपमुद्रे प्रकीर्तिते।
आभिर्मुद्रितदेहस्तु न भूय इह जायते ।।

इसी प्रकार बौद्धतन्त्रों में भी तथा उनकी साधना पद्धतियों में छ: मुद्राएँ वर्णित हैं। कौल तन्त्रों में वर्णित द्वादश द्रव्य, पञ्चरत्न के समान ही बौद्धतन्त्रों में भी पञ्चामृत, पञ्चप्रदीप, पञ्चरत्न, नवरत्न, चरु आदि का विशद रूप सम्प्राप्त है। पाँचवी, छठीं शताब्दी के पश्चात् की साधना पद्धति, बौद्ध साधना पद्धति से प्रभावित अथवा उससे सम्मिश्रित हैं। श्रौत और स्मार्त साधना पद्धति में दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मातृका, मुद्रिका, पीठ, न्यास, षडङ्गयोग, चाण्डाली योग (कुण्डलिनी योग), वज्रदेह, प्राणापान आदि का वर्णन विद्या, योग, क्रिया और चर्या के रूप में प्राप्त होता है, तदेव शब्दों और साधना पद्धतियों का प्रयोग बौद्धतन्त्र में भी प्राप्त होता है। हेवज्रतन्त्र, आर्यमञ्जूश्रीमूलकल्पादि प्रमाण हैं।

वज्रदेह को बौद्धतन्त्र में वज्रकाय के रूप में विशेष रूप से जाना जाता है। मातृसद्भाव अनुत्तरतन्त्र आदि शब्दों का जो विशद विवेचन महामाहेश्वर अभिनवगुप्त

पादाचार्य ने अपेन श्रीतन्त्रालोक में किया है, तद्वत् हेवज्रतन्त्रराज में अनुत्तरयोग का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। आर्य मञ्जूश्रीमूलकल्प (महायान सूत्रसंग्रह) में उन मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, जो अन्य शैव, शाक्त और वैष्णव आदि तान्त्रिक साधना पद्धतियों में समानरूपेण वर्णित हैं—

'बोधिचित्तविधिज्ञानां बोधिचित्तविभूषिताम् ।
नित्यं बोधिमार्गस्थां तेषां मुद्रां प्रकाशयेत् ।।
आदौ पञ्चशिखा भवति महामुद्रा तु सा मता ।
त्रिशिखं द्वितीयं विन्द्या तृतीयं एक चीरकम् ।।
चतुर्थं उत्पलमित्याहुः सम्बुद्धाः द्विषदोत्तमाः ।
पञ्चमः स्वस्तिको दृष्टः षष्ठो ध्वज उच्यते ।।
- -
षोडशः पाशमित्युक्तः अङ्कुशः सप्तदशः स्मृतः ।।

इन्हीं मुद्राओं का वर्णन पूर्वोक्त अन्य तन्त्रों में भी प्राप्त होता है। साधना के लिए जिस प्रकार अन्य तन्त्र-वाङ्मय में षट्चक्रों का विवेचन मिलता है, बौद्ध तन्त्रों में भी चार तथा छः चक्रों के वर्णन प्राप्त होते हैं। कालचक्रतन्त्र की टीका विमलप्रभा तथा वज्रमाला तन्त्र में छः नाड़ी चक्रों का भी वर्णन प्राप्त है। अधिकतर बौद्धतन्त्र ग्रन्थों में नाभिचक्र, हृदयचक्र, कण्ठचक्र, मूर्धा चक्र और इन्हीं चक्रचतुष्टयों में उष्णीष चक्र तथा गुह्यचक्र के संयोग से छः चक्रों का वर्णन है। इन्हीं में महाग्रन्थ के १२ चक्रों को संयुक्त कर देने से इन चक्रों की कुल संख्या १८ हो जाती है, जिसका विशद वर्णन कालचक्रतन्त्र की टीका विमल प्रभा में द्रष्टव्य है। सम्पुटोद्भवतन्त्र के अनुसार, नाभिचक्र के सम्बन्ध में—

'नाभिमध्ये स्थितं पद्मं चतुःषष्टिदलान्वितम् ।
चतुःषष्टिदले चैव निर्माणं परिकीर्तितम् ।।

और स्मार्तग्रन्थों में नाभिचक्र षड्दल के रूप में वर्णन है तो हेवज्रपञ्जिका-योगरत्नमाला में—

'एकारः पृथिवी ज्ञेया कर्ममुद्रा तु लोचना ।
चतुःषष्टिदले नाभौ स्थिता निर्माणचक्रके ।।'

६४ नाभि दलों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार, स्नान शुद्धि आदि वाह्यक्रियाओं का वर्णन 'क्रियातन्त्र' में बाह्यक्रिया और आभ्यन्तर

समाधि का वर्णन 'चर्यातन्त्र' में किया गया है, जिसमें बाह्यक्रिया गौण और अन्तरसमाधि का विशेष रूप से वर्णन है, वह 'योगतन्त्र' और जिसमें योगवैशिष्ट्य का वर्णन है, उसे 'अनुत्तर योगतन्त्र' नाम से अभिहित है। वसन्ततिलक टीका में सम्पुटतन्त्र के वचन को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि—

'हसितप्रेक्षिताभ्यां वा आलिङ्गद्वन्द्वकैस्तथा ।
तन्त्राणामपि चतुर्णां सन्ध्याभाषेण देशितम् ।।

इसके अतिरिक्त भी सत्त्वों के आधार पर जहाँ 'तन्त्रचतुष्टय' का वर्णन है, वहीं वर्णों के आधार पर ब्राह्मण के लिए 'क्रियातन्त्र' वैश्य के लिए 'चर्यातन्त्र' क्षत्रिय के लिए 'योगतन्त्र' तथा शूद्रों के लिए 'अनुत्तरयोगतन्त्र' का विभाजन किया गया है। यही विभाजन क्रमशः वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादियों तथा माध्यमिकों के लिए भी है।

निष्कर्षतः बौद्धतन्त्र की साधना-पद्धति, तथा उनके वाङ्मय के आधार पर आलोच्य और आलोचना के आलोक, अनुभूति और अनुकरण के रूप में कहा जा सकता है कि बौद्धतन्त्र मूलतः वैदिकक्रियाकाण्डों से पूर्णतः प्रभावित हैं। उनके तन्त्रागमों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त हैं, जितने वैदिक तंत्रागमों के, उनकी साधनासरणि उतनी ही पावन और उपादेय है, जितनी वेदों की, क्योंकि उनके द्वारा प्रदत्त सदुपदेशों का गलितार्थ भी पूर्ण निर्वाणपरिपाक है।

✱

वेद और बुद्ध : परस्पर आदान-प्रदान का प्रभाव

प्रो० सत्यदेव कौशिक

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

ईसा के छठी शताब्दी सम्पूर्ण विश्व में आध्यात्मिक जागृति एवं वैचारिक क्रान्ति के लिए प्रसिद्ध है। इसी समय चीन में कन्फ्यूशियस और लाओत्से का, यूनान में पाइथोगोरस, सुकरात और अफलातून का, ईरान में जरथ्रुस्त्र का, इजराइल में नवियों का तथा भारत में महावीर और बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। ये सभी विचारक अपने-अपने भू-प्रदेश में जनमानस को आध्यात्मिक चेतना से उद्वेलित करने में प्रवृत्त थे। बुद्ध का संदेश चीन, तिब्बत, मंगोलिया, इण्डोनेशिया, बर्मा (म्यामार), कम्बोडिया, वियतनाम, लाओत्स, कोरिया तथा थाइलैण्ड आदि देशों तक फैला। बौद्धधर्म की यह विश्व व्यापकता भगवान बुद्ध के उपदेशों के कारण ही थे। इस महान देश भारत में प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक परम्परा, मत-मतान्तरों का जन्म हुआ और यहीं वे पुष्पित एवं फलित हुए। २६०० वर्ष पूर्व यहाँ अनेक परम्पराएँ समाज में मान्य थीं, जिनमें चिरकाल से चली आ रही दो परम्परायें थीं— एक थी श्रमण परम्परा और दूसरी थी वैदिक परम्परा। दोनों ही परम्पराओं को अन्तिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है। श्रमण परम्परा व्यक्ति को अपने ही श्रम द्वारा मुक्त होने की मान्यता पर बल देती है—'तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खतारो हि तथागता'। जबकि वैदिक परम्परा में किसी देव या ब्रह्म की अभियाचना पर उसकी कृपा द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकने की दृढ़ मान्यता है।

बुद्ध काल में कुछ अंशों में इन दोनों परम्पराओं का परस्पर विरोध और वैमनस्य भी था। एक परम्परा के अनुयायी दूसरे के लिए यदा-कदा अपशब्दों का प्रयोग करते थे। ब्राह्मण श्रमणों को 'ये च खो ते, मुण्डका समणका इब्भा कण्हा बन्धुपादापच्चा'—(ये जो मथमुंडे श्रमण हैं, जो इब्भ हैं। यानी नीच हैं, काले हैं, ब्रह्मा के पैर से उपजे हैं) कह कर अपमानित करते थे। स्वयं बुद्ध भी इन्हीं अपशब्दों द्वारा अनेक बार अपमानित किये गये थे। इसी प्रकार श्रमण ब्राह्मणों को 'अन्तोजटा बहिजटा' तथा 'जटिल' कह कर लांछित करते थे। बुद्ध श्रमण परंपरा के शास्ता होते

हुए भी इस पारस्परिक विद्वेष को दूर करने के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे। इसीलिए उन्होंने बाहरी दिखावे को महत्त्व न देकर श्रामण्य और ब्राह्मण्य की एक ही व्याख्या की और वह थी चित्त की नितान्त निर्मलता। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध किया कि दोनों का लक्ष्य एक ही है। ब्राह्मण, श्रमण और प्रव्रजित को परिभाषित करते हुए बुद्ध का अभिकथन है[१]—

बाहितपापो ति ब्राह्मणो, समचरिया समणो ति वुच्चति ।
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा पब्बजितो ति वुच्चति ।।

वस्तुतः बुद्ध ने मनसा, वाचा, कर्मणा दुष्कृत्य विहीन मनुष्य को ब्राह्मण माना है—यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं (धम्मपद, गा० सं० ३९१)। ऐसा ब्राह्मण अथवा श्रमण ही निर्मल चित्त है। इसीलिए भगवान् ने चित्त की निर्मलता को बुद्धों का शासन माना है[२]—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा ।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ।।

बुद्ध की शिक्षाओं का स्रोत वैदिक बताना और पौराणिक साहित्य के आधार पर बुद्ध को अवतार के रूप में उजागर करना बुद्ध वचन के सर्वथा प्रतिकूल है। ऐसी बिल्कुल असत्य बात न कहकर केवल इन दोनों स्वतन्त्र पुरातन आध्यात्मिक परम्पराओं में समय-समय पर परस्पर आदान-प्रदान द्वारा एक दूसरे को प्रभावित किया है, तो यह बहुत कुछ सत्य होगा और आसानी से स्वीकार करने योग्य भी। वेद में ऋत-सत्य, कर्म, यज्ञ, दान, गो सेवा आदि की महत्ता प्रतिपादित करने वाले अनेक मन्त्र हैं—'सर्वज्ञानमयो वेदः' और 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' ऐसी वेद प्रसंशायें हैं। राष्ट्र विषयक विचार भी वेद में हैं। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त में वैदिक राष्ट्रगीत है। इस राष्ट्रगीत में मातृभूमि की स्पष्ट कल्पना वाले मन्त्र हैं। यहाँ एक मन्त्र को उद्धृत करना चाहूँगा, जिसमें एकता में अनेकता का भाव दिखाई देता है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ।।

(अथर्ववेद-१२/१/४५)

वेद के विश्रुत विद्वान् एवं चिन्तक पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है[३]—

(बहुधा विवाचसं जनं बिभ्रती) अनेक प्रकार की विविध भाषाएं बोलने वाले और (नानाधर्माणं) अनेक धर्मों को धारण करने वाले जन-समुदायों को (यथा

ओकसं) एक घर में रहने वाले भाइयों के समान यह मातृभूमि धारण करती है। यह भूमि हमें धन की हजारों धाराएं देती रहे, जैसी दुहने के समय न हिलने वाली गौ दूध देती है।

यहाँ 'विवाचसं, नानाधर्माणं जनं' ये पद बड़े महत्त्व के हैं। 'वि-वाचस' का अर्थ है अनेक प्रकार की भाषाओं को बोलने वाले लोग मातृभूमि में रहते हैं। प्रत्येक प्रान्त में भाषा भिन्न होती है। भारत में ही देखिए—काश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, बलोची, पश्तो, हिन्दी, बिहारी, बंगाली, राजस्थानी, गुजराती, कच्छी, मराठी, कन्नड़, तेलगु, तमिल, मलयालम आदि कई भाषाओं को बोलने वाले लोग यहाँ हैं। प्रत्येक देश में इसी तरह प्रान्त-भाषा विभिन्न हो सकती है। रूस में भी इसी प्रकार अनेक भाषाएँ हैं।

मनुष्यों के धर्म भी विभिन्न होते हैं। यहाँ 'धर्म' शब्द हिन्दू धर्म, बौद्धधर्म जैसे धर्मों का बोधक नहीं है। वेद के समय ये मानव-निर्मित धर्म नहीं थे। अतः यहाँ का 'धर्म' शब्द मानव की मनः प्रवृत्ति का वाचक है। मानव में ज्ञान-प्रवृत्ति, वीरवृत्ति, संग्रहवृत्ति और कर्मवृत्ति स्वभावतः होती है। ये मानव के विविध स्वभाव-धर्म हैं। ऐसे विविध स्वभाव-धर्म के कारण मानवों में अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं, तो भी (यथा ओकसं) एक घर में रहने वाले भाइयों के समान सब विभिन्न प्रवृत्ति के लोग इस मातृभूमि में रहते हैं और एक मत से अपनी मातृभूमि की सेवा करते हैं।

प्रवृत्तियाँ विभिन्न होने पर भी एक देशवासियों में एकता रहनी चाहिए। यह उपदेश इस मन्त्र में है और वह बड़ा ही लाभदायी है। जैसे माँ अपने बच्चे को अपना दूध देती है और उसका पोषण करती है, उसी तरह मातृभूमि अपने धान्यरूपी दूध से अपने बच्चों का पालन-पोषण करती है।

बुद्ध के विचारों पर दृष्टिपात करें तो उस समय बौद्धसंघ में अनेक नाम, गोत्र, जाति और कुल प्रव्रजित भिक्षु थे। स्वभाविक है वे भिक्षु भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी थे। उन भिक्षुओं में से यमेड़ और तेकुल नाम के भिक्षुओं ने भगवान् से कहा कि भिक्षु अपनी भाषाओं में बुद्धवचन को दूषित कर रहे हैं, अच्छा तो यही होगा कि हम बुद्ध वचन को छान्दस में कर दें। बुद्ध ने उन दोनों को फटकारते हुए कहा कि वैदिक भाषा में धर्मसूत्रों का पाठ उचित नहीं है। मैं तुम्हें बुद्ध वचन को अपनी-अपनी भाषा में सीखने की अनुमति देता हूँ[४]—

'न भिक्खवे ! बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेतब्बं, यो आरोपेय्य आपत्ति दुक्कटस्स ।

अनुजानामि भिक्खवे ! सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुन्ति ।'

बुद्ध ने छान्दस् भाषा में बुद्धवचन के पाठ की इसलिए अनुमति नहीं दी थी क्योंकि छान्दस् भाषा कुछ ही लोगों की भाषा थी। वे नहीं चाहते थे कि यह भाषा कुछ लोगों तक ही सीमित रहकर ग्रन्थों का भूषण मात्र बने। उन्हें तो जहाँ बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय अपने उपदेशों को जनसामान्य तक पहुँचाने की अभीप्सा थी, वहीं उनका उद्देश्य जनसामान्य की भाषाओं/बोलियों के प्रति आदर-भाव प्रदर्शित कर राष्ट्रिय एकता को जागृत करना भी था।

बुद्ध ने भी 'धर्म' शब्द को हिन्दू, जैन, बौद्ध जैसे धर्मों का बोधक नहीं माना, अपितु पं० सातवलेकर के समान ही मानव की मन: प्रवृत्ति का वाचक माना है। धम्मपद की प्रथम गाथा में ही मन को सभी प्रवृत्तियों का अग्रगामी मानते हुए बुद्ध का अभिकथन है[५]—

मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं ।।

जैसे अनेक नदियाँ (जैसे—गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू, मही) महासमुद्र में पड़कर अपने पूर्व के नाम और गोत्र को छोड़ देती हैं। तदनन्तर वे सभी महासमुद्र कहलाती हैं। वैसे ही बौद्ध संघ में प्रवेश करने पर लोग अपनी जाति के अस्तित्त्व को खो देते हैं।[६] यहाँ स्पष्ट है कि विभिन्न प्रवृत्तियों वाले भिक्षु संघ रूपी घर में भाईयों के समान साथ-साथ रहते हुए बौद्ध धर्म की सेवा करते हैं जो राष्ट्र सेवा ही है। भिन्न-भिन्न भाषाओं / बोलियों के बोलने वाले उन भिक्षुओं के लिए भाषा, क्षेत्रवाद और जातिवाद के लिए अवकाश कहाँ?

वेद मन्त्रों में गाय की महत्ता और उसके दूध की गुणवत्ता की अनेक स्थलों पर चर्चा की गई है, यथा—दोग्ध्री धेनु: (वा० यजुर्वेद, २२/२२) 'वत्सं जातमिवाध्न्या' (अथर्ववेद, ३/१०/१), 'भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु' (अथर्ववेद १२/१/४), 'पयोदुहां' (अथर्ववेद, १२/१/९), 'दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती' (अथर्ववेद १२/१/४५), 'धेनू: जिन्वतमुत जिन्वतं धियो हतं रक्षांसि सेधतमभीवा' (ऋग्वेद, ८/३५/८)।

बुद्ध के समय में गाय को अति पवित्र माना जाता था। उनका कथन है कि प्राचीन काल में ब्राह्मणों के द्वारा गायों का वध नहीं किया जाता था। वे उसे ज्ञाती वर्ग में संगणित करते हुए उसे औषधि उत्पादिका बताते हैं[७]—

यथा माता पिता भ्राता, अञ्ञे वापि च ञातका ।
गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा ।।

गाय से प्राप्त दूध, दही, मट्ठा (तक्र), ताजा मक्खन और घी पूर्ण आहार और औषधियाँ ही हैं। अन्तिम दो तो बुद्ध द्वारा विधान की गई पाँच औषधियों (पंचभेसज्जानि) में सम्मिलित हैं। आगे भगवान् तथागत गायों को अवध बताते हुए कहते हैं कि वे अन्न, बल, घृत और सुख देने वाली हैं[८]—

अन्नदा बलदा चेता, वण्णदा सुखदा तथा ।
एतमत्थवसं ञत्वा, नास्सु गावो हनिंसु ते ।।

गाय की पवित्रता और उपयोगिता सम्बन्धी विचार बुद्ध ने वेद से ही ग्रहण किये हैं। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइस नहीं रह जाती।

बुद्ध यज्ञ विरोधी और वेद निन्दक थे—ऐसा आरोप भी उन पर लगाया जाता है। मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि बुद्ध ने यज्ञों में दी जाने वाली पशु-बलि का विरोध किया, यज्ञों का नहीं। पूर्व वैदिक काल में कर्मकाण्ड के स्वरूप और प्रयोजन में सरलता थी। इस काल में जिन देवताओं की उपासना की जाती थी, वे प्रकृति की सुपरिचित शक्तियाँ थी और उन्हें जो हवि दी जाती थी, उसमें दुग्ध, अन्न और घृत का स्थान था। इस यज्ञ का प्रयोजन सामान्यत: साधारण कामनाओं की प्राप्ति करना था। उपासक को यह विश्वास था कि यज्ञ भोग ग्रहण करते समय वह दिव्य प्रभाव प्राप्त कर लेता है या उसका समागम दिव्य शक्ति से हो जाता है। यज्ञ से शत्रुनाश का उल्लेख वेदों में अनेक स्थलों पर हुआ है।[९] यज्ञ की सरलता का वर्णन अथर्ववेद में प्रचुरता से मिलता है। वहाँ कहा गया है कि जिस भूमि में यज्ञ के स्तम्भ खड़े किये जाते हैं तथा जहाँ इन्द्र को पीने के लिए ऋत्विज सोम का प्रयोग करते हैं, वह हमारी मातृभूमि है।[१०] अपनी मातृभूमि में मनुष्य यज्ञ करके हवि अर्पण करते हैं।[११] यज्ञ का आठ सद्गुणों में संगठित करते हुए मातृभूमि को धारण करने वाला बताया गया है।[१२] यज्ञ न करने वाले से इन्द्र मित्रता नहीं करता।[१३]

यज्ञ की यह सरलता शनैः-शनै लुप्त हो गई और उत्तर वैदिककाल में यज्ञों में हिंसामय बलि दी जाने लगी। ऐतरेय ब्राह्मण (७/१३) में शुन:शेप नामक बालक के आख्यान का उल्लेख है, जिसको राजा के एकमेव पुत्र के बदले में यज्ञ बलि बनाना था। ऐतरेय ब्राह्मण (१/८) और शतपथ ब्राह्मण (१/२/३/६-७) के सन्दर्भों से विद्वान् सुपरिचित हैं, जिसमें देवताओं ने मनुष्य को बलि बनाकर मारा और क्रमश: मेध्य भाग अश्व, बैल, भेड़ में प्रविष्ट हुआ और अन्त में मेध्य भाग बकरी में दीर्घावधि तक रहा, इसलिए बकरी मेध्य प्राणी हो गया।

बुद्ध ने सुत्तनिपात में प्राचीनकाल के ब्राह्मणों के चर्या का उल्लेख करते हुए बताया है कि प्राचीनकाल में ब्राह्मण चावल, वस्त्र, घृत और तेल माँगकर यज्ञ करते थे, उस यज्ञ में वे गायों का वध नहीं करते थे[१४]—

तण्डुलं सयनं वत्थं, सप्पितेलं च याचिय।
धम्मेन समुदानेत्वा, ततो यञ्ञमकप्पयुं।
उपट्ठितस्मिं यञ्ञस्मिं, नास्सु गावो हनिंसु ते।।

दीघनिकाय के कूटदन्तसुत्त में ब्राह्मण कूटदन्त उत्तम यज्ञ विधि के विषय में भगवान् से पूछता है, तब भगवान ने यह कथा सुनाई—प्राचीन काल में महाविजित नाम का प्रसिद्ध राजा हो गया जो सकल सुख-समृद्धि से युक्त था, उसने यह निश्चित किया कि वह एक महायज्ञ करेगा। कथा ने अनुसार इस यज्ञ में दुधारू पशु और राष्ट्रिय सम्पत्ति की आहूति देनी थी। इस सकल व्यय का भार जनता पर ही पड़ता क्योंकि अधिक कर लगाकर ही इन व्यर्थ के कार्यकलापों का व्यय निकाला जाता। कथा से यह भी संकेत मिलता है कि राज्य सत्ता की अनभिज्ञता के कारण राज्य की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति ऐसे व्यर्थ के व्यय में और अधिक जर्जर हो जाती है। इस कथानुसार राजा के पुरोहित ने उन्हें परामर्श दिया कि इस प्रकार के प्रयोजन रहित कार्य करने के स्थान पर आर्थिक स्थिति को सुधारने वाली अधिक कारगर नीतियाँ बनायीं जायें। पुरोहित के द्वारा राजा महाविजित को दी गयी परामर्श हमारे आर्थिक नीति निर्माताओं के लिए ग्रहण करने योग्य है। पुरोहित राजा को परामर्श देते हुए कहता है—

आपका राज्य कण्टकाकीर्ण तथा पीड़ा युक्त है, जिसमें ग्रामों, निगमों और नगरों में लूट दिखाई दे रही है, बटमारी भी देखी जाती है। आप दुर्दशा युक्त राज्य से कर लेते हैं। इसलिए आप अकृत्यकारी हैं। आपका यह विचार हो सकता है कि लूट-पाट रूपी कील का वध वन्धन, हानि और निर्वासन से उन्मूलन हो जायेगा किन्तु इस लूट-पाट रूपी कील का उन्मूलन सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसे दुष्ट लोगों में से कुछ अवशिष्ट रहने पर वे कालान्तर में राज्य को उत्पीड़ित करेंगे। इस लूट-पाट रूपी कील का उपाय बताते हुए पुरोहित करते हैं कि—'जो व्यक्ति राजा के राज्य में पशुपालन और कृषि कार्य करने के लिए उत्सुक हैं, उन्हें राजा भोजन और बीज प्रदान करे, जो वाणिज्य में उत्साहित हैं, उन्हें राजा पूँजी प्रदान करे, जो राज्य की सेवा के लिए उत्साहित हैं, उन्हें आप वेतन दें। इस प्रकार अपने अपने कार्यों में निरत व्यक्ति राजा के राज्य को नहीं सतायेंगे। इस प्रकार राज्य क्षेमयुक्त, अकण्टक

तथा पीड़ा विहीन हो जायेगा। पुरोहित की परामर्श को मानते हुए राजा ने वैसा ही किया। इस प्रकार समग्र राज्य समृद्ध अकण्टक एवं पीड़ा विहीन हो गया।

उक्त घटना पर चिन्तन करने पर अधोलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं—

१. महाविजित राजा ने जहाँ घी, तेल, मक्खन, शहद और राव से यज्ञ समाप्त किया, वहीं कूटदन्त ब्राह्मण द्वारा बलि हेतु लाये गये पशुओं को जीवनदान दिया गया।

२. राजा ने जहाँ उपहार लेकर आये हुए धनिकों से उपहार ग्रहण नहीं किये, वहीं राजा ने धार्मिक कर के रूप में जमा हुए धन को खर्च कर यज्ञशाला के चारों और धर्मशाला बनवायीं और निर्धनों को दान दिया।

३. राजा ने पुरोहित के परामर्श से जहाँ अपनी जनता से महायज्ञ की अनुमति ली वहीं जनता ने राजा की इच्छा जानकर सहर्ष यज्ञ की अनुमति प्रदान कर दी। राजा ने जनता के हित के कार्य किये क्योंकि जनता ही समाज का आधार है।

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा', 'मा गृधः, कस्य स्विद्धनम्' (यजु० ४०/१, ईशोपनिषद् का प्रथम मन्त्र), यजुर्वेद का यह मन्त्र समाज हित में बुद्ध द्वारा प्रस्तुत आर्थिक नीति की सम्पुष्टि करता है। ये तीन उपदेश वैदिक अर्थव्यवस्था का स्वरूप बतला रहे हैं—१. धन किसी व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति मरणधर्मा है, धन छोड़कर मर जाता है। समाज स्थायी रहता है, इसलिए जो स्थायी रहता है, उस समाज की पालना प्रजापति संस्था से होती है, इसलिए सब धन प्रजापति संस्था का है।

२. यदि यह मान लिया गया तो व्यक्ति को किसी धन के लालच में फंसना उचित नहीं, यह स्वयं ही सिद्ध हो चुका है। यदि धन प्रजापालक संस्था का है तो वह व्यकित का नहीं । भले ही धन व्यक्ति के पास रहे, पर वह व्यक्ति उसका ट्रस्टी बनकर रहे, उपभोग करने वाला स्वामी नहीं। इस तरह धन पर आसक्ति छोड़ना मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। इतना होने पर भी मनुष्य भोग बिना जीवित रह नहीं सकता, इसलिए वह कैसा भोग करें? इस प्रश्न के उत्तर में वेद कहता है कि

३. त्याग से दान देकर जो बचता है, यज्ञ करके जो यज्ञ शेष रहता है, उस अमृत का भोग करे। ये तीनों उपदेश वैदिक अर्थ—व्यवस्था का स्वरूप दर्शा रहे हैं। सब धन यज्ञ के लिए उत्पन्न हुआ है, इसका अर्थ यह है—समाज के आधार से व्यक्ति रहता है।[१५]

कूटदन्तसुत्त की उपर्युक्त कथा से जहाँ बुद्ध की आर्थिक नीति स्पष्ट हो जाती है, वहीं यह भी पता चलता है कि प्राचीन काल में हिंसामय यज्ञ नहीं होते थे।

हिंसामय यज्ञों के विरोध के कारण परवर्ती साहित्य में यज्ञों की निस्सारता को घोषित किया गया है कि यह आदर्शहीन, जटिल यज्ञरूपी कर्म टूटी नौका के समान है। अज्ञानी इन्हें जीवन का लक्ष्य मानकर पुनः-पुनः जरामृत्यु को प्राप्त होते हैं[१६]—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा, जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ।।

उपनिषद् आगे कहता है कि जो यज्ञ (इष्ट), दान (पूर्त), आदि को ही श्रेष्ठ मानते हैं, वे स्वर्गलोक में पुण्य का अनुभव कर फिर से इसी लोक में अवतरित होते हैं[१७]—

इष्टापूर्तिं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं च विशन्ति ।।

इसी प्रकार गीता में भी वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड से प्राप्त होने वाले फलों को अस्थायी बताया गया है।[१८] इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि द्रव्यमय भौतिक यज्ञ से ज्ञान यज्ञ अधिक हितकर है।[१९]

बुद्ध के द्वारा यज्ञीय कर्मकाण्ड और पशु-बलि के कारण ही संभवतः परवर्ती ब्राह्मण साहित्य में यज्ञों को महत्त्वहीन और निस्सार माने जाने लगा। यही नहीं भारतीय दर्शन परम्परा में मीमांसा दर्शन को छोड़कर मोक्ष की प्राप्ति में यज्ञों की उपादेयता को स्वीकार नहीं किया गया है। यह बुद्ध के प्रभाव के कारण ही था— ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन दोनों पुरातन परम्पराओं ने समय-समय पारस्परिक आदान-प्रदान से एक-दूसरे को प्रभावित किया है, ऐसा मानना चाहिए। बुद्ध वेद-निन्दक नहीं हैं जिसकी सम्पुष्टि अधोलिखित गाथा से हो जाती है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने कहा है कि यज्ञों में अग्निहोत्र, छन्दों में सावित्री, पुण्य चाहने वाले यज्ञकर्ताओं के लिए संघ मुख्य है[२०]—

'अग्गिहुत्तमुखा यञ्ञा सावित्ति छन्दसो मुखं।
राजामुखं मनुस्सानं नदीनं सागरो मुखं ।।
नक्खत्तानं मुखं चन्दो आदिच्चो तपतं मुखं।
पुञ्ञं आकङ्खमानानं सङ्घो वे यजतं मुखंति ।।

*

सन्दर्भ-सूची :

१. धम्मपद, २६/६

२. वही, १४/५

३. सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५५, सम्पादक-क्षितीश वेदालंकार, दिल्ली से प्रकाशित।

४. चुल्लवग्ग, ५/६/१

५. धम्मपद, १/१

६. उदान, पृ० १२७, नालन्दा संस्करण

७. सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, २/७/१३

८. वही, २/७/१४

९. ऋग्वेद, १०/१७४/४, अथर्ववेद, ३/१९/१

१०. अथर्ववेद, १२/१/३८

११. वही, १२/१/२२

१२. वही, १२/१/१

१३. वही, २०/८९/४

१४. सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, २/७/१२

१५. सातवलेकर अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० १२६, दिल्ली से प्रकाशित

१६. मुण्डकोपनिषद् १/१/७

१७. वही, १/१/८

१८. गीता, ९/२१

१९. वही, ४/३३

२०. महावग्ग, ६/२३/४२, पृ० २६०, सम्पादक—भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा संस्करण, १९५६ ।

*

बौद्ध धर्म के संस्थापक : गौतम बुद्ध

प्रो० रामचन्द्र सिंह

पूर्व आचार्य-अर्थशास्त्र विभाग

म.गाँ. काशी विद्यापीठ-वाराणसी

अनेक संस्कृतियों वाले मानव समाज को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक प्रकार की संस्कृति कर्मवाद और पुनर्जन्म वाद के सिद्धातों पर आश्रित है। दूसरी प्रकार की संस्कृति पुनर्जन्मवाद व कर्मवाद को अस्वीकार करती है। एशियाई देशों में पुनर्जन्म व कर्म को अधिकांश व्यक्ति मानते हैं। यूरोप व अमेरिका आदि देशों में दूसरी प्रकार की संस्कृति की प्रधानता है। ज्ञात है कि बुद्ध के आगमन के पूर्व ही हिन्दू समाज ने जैन धर्म व बौद्ध धर्म के आविर्भाव हेतु वातावरण का निर्माण कर दिया था। हिन्दू धर्म का समाज अपने प्राचीन गौरव को विस्मृत कर विभिन्न प्रकार की कुप्रथाओं और अंधविश्वासों से ग्रस्त हो चुका था। धार्मिक क्षेत्र में जबरदस्त भटकाव की स्थिति थी। यह उत्तरवैदिक काल का समय था। ऐसी स्थिति में एक महान् क्रांति ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हुयी। इस क्रांति का उद्देश्य था। आध्यात्मिक जीवन के सच्चे स्वरूप को सबके सामने प्रस्तुत करना। गौतम बुद्ध ने धर्म की रूढ़ियों और आडम्बरों को हटाकर यथार्थ आध्यात्मिक जीवन का मार्ग प्रशस्त किया। बुद्ध के अवतरण के ५०० वर्षों के बाद ईसा ने क्रांति की और उसका प्रभाव यूरोप पर व अन्य देशों पर पड़ा। स्पष्ट है कि धर्म क्रांति के क्षेत्र में बुद्ध अग्रणी क्रांतिकारी हैं। मूल्यांकन हेतु कतिपय विद्वानों व दार्शनिकों के मत को उद्धृत करना यहाँ पर समीचीन होगा।

विलड्यूरैंट नामक प्रख्यात विचारक ने बुद्ध का मूल्यांकन निम्नलिखित शब्दों में किया है—महात्मा बुद्ध दृढ़ संकल्प शक्ति वाले, स्वाभिमानी किन्तु व्यवहार व भाषण में सुशील, नम्र, सौम्य तथा अत्यंत दानशील थे। उन्होंने ज्ञान प्राप्ति का दावा किया था, स्फुरण का नहीं। उन्होंने कभी नहीं कहा कि कोई देवता उनके अन्दर से बोल रहा है। वाद-विवाद में वह सदा शान्त रहते थे तथा दूसरों की भावना को ठेस न पहुँचाने वाले व्यक्ति थे। सम्भवत: मानव जाति के अन्य शिक्षकों में ये विशेषतायें इतनी मात्रा में न रही होगी।

बी.डी० महाजन ने अपने ग्रन्थ (प्राचीन भारत का इतिहास) में लिखा है कि बुद्ध के शिष्यों ने निम्नलिखित शब्दों में बुद्ध को श्रद्धांजलि अर्पित की थी। 'उन्होंने डण्डे और तलवार को एक ओर रख दिया थ। रुखा पन तो कभी भी उनके पास फटक तक न पाया था। लाँछन, कलंक और दूसरों पर कीचड़ उछालने की जगह उन्होंने जीव मात्र को अपनी दया का पात्र बनाया। उन्होंने अपने को आक्षेप और निंदा से कोसों दूर रखा। वह बिछुड़े हुयों को मिलाने वाले और मिले हुओं को पुष्टि प्रदान करने वाले व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त शांति-संस्थापक, शांति-प्रिय और शांति प्रचारक आदि कितने ही विशेषणों से उन्हें संबोधित किया जा सकता है।

विवरण प्राप्त है कि जब उन्हें गालियाँ दी जाती थीं या अपशब्दों की बौछार होती थी, तब महात्मा गौतम बुद्ध मौन धारणा कर लेते थे। वे कहते थे। 'यदि मुझसे कोई व्यक्ति बुराई करता है तो भी मैं उसे ईर्ष्या रहित प्यार ही प्रदान करुँगा। यदि मुझसे और अधिक बुराई की जायगी तो मैं और अधिक भलाई करने लगूँगा।' एक बार किसी व्यक्ति ने बुद्ध को अपशब्द कहा। बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया। जब उस व्यक्ति ने गाली बकना बन्द किया तब बुद्ध ने कहा—'वत्स! यदि कोई व्यक्ति किसी को कुछ दे और लेने वाला लेने से इन्कार कर दे तो वह वस्तु किसकी होगी?' उस गाली देने वाले ने उत्तर दिया। उसी की होगी, जिसने उसे दिया है। तब बुद्ध ने पुन: कहा—'तात्! मैं तुम्हारे इन अपशब्दों को अस्वीकार करता हूँ और तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम इन शब्दों को अपने पास रख लो।'

ओल्डनवर्ग नामक प्रसिद्ध विद्वान ने बुद्ध के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किया है। 'गौतम बुद्ध जब अत्यधिक प्रसिद्ध हो गये और उनका नाम देश के बड़े-बड़े व्यक्तियों में गिना जाने लगा तथा बड़े-बड़े सम्राट उनके चरणों पर सिर झुकाते थे, वे तब भिक्षा पात्र लेकर भिक्षाटन हेतु निकल पड़ते थे। वे छोटी व तंग गलियों से होते हुये नत नयनों से भिक्षा प्राप्ति हेतु द्वार पर खड़े हो जाते ताकि मुट्ठीभर अन्न प्राप्त हो जाय।' इससे बुद्ध की सुशीलता, नम्रता तथा सौम्यता का पता चलता है। बुद्ध भविष्य की बात नहीं करते थे। बुद्ध ने इस सम्बन्ध में स्वयं घोषित किया था। उनका कथन था। 'रहस्यवादी चमत्कारों से मुझे घृणा है। इन से हानि होती है।' बुद्ध सत्य-पथ के पथिक थे। उनका आग्रह भी था कि उनके शिष्य गण सत्य के मार्ग का अनुशरण करें। सत्य आचरण को ही सर्वश्रेष्ठ तप कहते थे। समाज को दूषित करने वाले तत्त्वों को निकाल बाहर करना चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि दूषित तत्वों से जीवको पुनर्जन्म चक्र में फँसना पड़ता है। दुख, यातना और जन्म-

मरण को बढ़ावा देने वालों तत्वों से समाज को बचाना चाहते थे। बुद्ध आत्म प्रशंसा से विरत थे। शिष्यों द्वारा प्रशंसित होने पर विकल हो जाते थे।

बुद्ध अद्वितीय थे। उनमें तर्क शक्ति का भंडार था। तर्क शक्ति के क्षेत्र में बुद्ध एक अपराजित योद्धा थे। बुद्ध ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुये स्वयं कहा है—'तर्क-वितर्क में मुझे कोई न तो भ्रांत कर सकता है और न ही मुझे परास्त कर सकता है। यही कारण है कि तर्क युद्ध के समय मैं अत्यन्त शान्त व स्थिर बना रहता हूँ।'

बी०डी० महाजन ने लिखा है कि बुद्ध के समकालीन सोनदण्ड नामक एक ब्राह्मण ने बुद्ध के प्रति इस प्रकार से श्रद्धांजलि अर्पित की है—'धन-दौलत, स्वर्ण और वैभव को छोड़कर और अपने-अनेक सम्बन्धियों को त्यागकर उन्होंने धार्मिक जीवन अपनाया। बुद्ध देखने में सुन्दर, विश्वसनीय, प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले गौरव पूर्ण और राजसी प्रतीत होते थे। उनका स्वर कर्णप्रिय तथा भाषणा शक्ति अत्यन्त मोहक थी। बोलने में नम्र तथा स्पष्ट वक्ता थे। समसयाओं के समाधान में सिद्ध थे। वह शिक्षकों के शिक्षक थे। ब्राह्मण जाति को उपदेश देते समय बुद्ध सदाचार के गुणों को ही सबसे पहिले रखते थे। दूर-दूर के लोग उनसे प्रश्न पूछने आते थे। वे सभी का स्वागत करते थे। बुद्ध उत्तम प्रकृति के थे तथा समझौते में उनकी आस्था रहती थी। वे सरल प्रकृति के पुरुष थे। उनमें सहनशीलता कूट-कूट कर भरी थी। सभी आगन्तुकों से बात करने में बुद्ध तत्पर रहते थे। वार्तालाप में दबते नहीं थे।'

पुन: सोनदंड ने लिखा—'जहाँ ब्राह्मण आदि लोग भेषभूषा व वस्त्रादि से अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करते थे, वहीं पर बुद्ध के चरित्र की महिमा का परिचय उनके सदाचार से मिलता था। वह विश्वसनीय, श्रद्धेय और माननीय व्यक्ति थे। मगध नरेश सेनीय विम्बिसार, कोशल के राजा प्रसेनादि (Pasenadi) और प्रमुख ब्राह्मण आचार्य पोखदसादी अपने बच्चों और पत्नियों सहित बुद्ध का सम्मान करते थे।

उपर्युक्त अधिकृत मूल्यांकनों से स्पष्ट है कि बुद्ध की साधुता, शील और सत्यपरायणता की अमिट छाप तत्कालीन भारत के सभी पक्षों पर पड़ी थी। बुद्ध के जवीन में अथाह करुणा का श्रोत था। सदाचार व सत्य की जीवंत मूर्ति थे।

बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व के प्रसंग—सत्य की खोज करने वाले व्यक्ति सर्वप्रथम श्रद्धा का अनुशरण करते हैं। इस प्रक्रिया में 'गुरु' के शरण में साधक को जाना होता

है। सिद्धार्थ ने भी यही किया। किन्तु उन्हें सकून प्राप्त नहीं हुआ। वे निराश हो उठे। वैदिक तपस्या के मार्ग को उन्होंने अपूर्ण पाया। सिद्धार्थ के प्रथम गुरु अराड थे। अराड के सानिध्य में सिद्धार्थ ने अनेक ग्रन्थों व दर्शन शास्त्रों का अध्ययन किया। किन्तु उन्हें वाँछित ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ। सिद्धार्थ गौतम को ज्ञात हुआ कि पांडित्य व तत्वबोध में भेद है। तत्पश्चात् गौतम उद्धक के पास गये। उद्धक की शिक्षा में उन्हें स्वर्ग प्राप्ति का मार्ग दिखलायी पड़ा, किन्तु जागतिक दुखों की निवृत्ति का मार्ग अदृश्य ही रहा। इस बीच मगध के राजा 'विम्वसार' से सिद्धार्थ गौतम की अकस्मात भेंट हो गयी। राजा विम्वसार ने अपना राज-पाट गौतम के चरणों पर रख दिया। गौतम ने उन्हें उत्तर दिया—'राजन! सांसारिक सुख और राजपाट तो पीछे छूट गये हैं। मैं तो अब सत्य के पथ का पथिक हूँ।' इस उत्तर पर बिम्बसार ने प्रार्थना की और कहा—'महाहिम! जब आप सत्य की प्राप्ति में सफल हों तो मुझे भी मार्ग प्रदर्शित करने की कृपा करें।' इसी प्रकार गौतम के स्वजन भी जब पता लगाते हुये राजगृह के जंगलों में पहुँचे और राजकुमार से लौटने की प्रार्थना की तो गौतम ने स्पष्ट उत्तर दिया—'जो प्रत्यक्ष रूप से नाशवान है उसकी ओर फिर मैं मुड़ नहीं सकता।' इन दो दृष्टांतों से स्पष्ट है कि गौतम का गृहत्याग नैराश्य के कारण नहीं था। गौतम का गृहत्याग सत्य की खोज के कारण था।

अनेकोंनेक शिक्षकों से गौतम ने भेंट की। अन्त में उन्होंने अपने अन्तस बोध से सत्य को पाने का प्रयास किया। उरुबेला के जंगल में जाकर उन्होंने अकेले ही अपनी साधना प्रारम्भ कर दी। छः वर्षों तक उन्होंने कठिन साधना की। गौतम के पांच साथी इस प्रतीक्षा में थे कि गौतम को कब सफलता प्राप्त होती है? इस बीच कठिन साधना के कारण गौतम का शरीर लगभग असमर्थ हो गया। चेतनता भी क्षीण हो गयी। इसी समय एक दुर्लभ घटना घटी। सुजाता नाम की एक महिला जंगल के देवता को प्रसाद चढ़ाने वहाँ आयी। वैशाखी पूर्णिमा का दिन था। सुजाता ने अमृत के समान खीर तैयार की थी और जब वह जंगल में अपनी सहेलियों के साथ आयी तो गौतम को देखते ही उसने देवता को प्रकट समझ लिया और थाल उनके सामने रख दी। गौतम ने खीर ग्रहण किया। उनके शरीर में शक्ति का संचार हुआ और वे पुनः उसी वट वृक्ष की नीचे बैठ गये। इस आकस्मिक घटना से बुद्ध होने वाले गौतम के प्राण बचे। उल्लेख्य है कि फ्रांस के एक नोबेल प्राइज विजेता ने लिखा है—'ईश्वर किसी मनुष्य के पास यह कहने नहीं आता है कि उसकी (ईश्वर) क्या इच्छा है? वह (ईश्वर) घटनाओं के द्वारा ही अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति

करता है। घटनायें ईश्वर की लिपि हैं। जिस प्रकार से मनुष्यों की अनेक लिपियाँ हैं उसी प्रकार ईश्वरीय अभिव्यक्ति की अनेक घटनायें हैं।' सुजाता के खीर की घटना से सिद्धार्थ गौतम बुद्धत्व की तरफ बढ़े अन्यथा उनके शरीर का विसर्जन हो गया होता। इस अवसर पर गौतम के पाँच साभी जो गौतम के दूर व नजदीक से उनकी तपस्या व तपसया जनित सिद्धि पर निगाह लगाये हुये थे, उन्होंने जब देखा कि गौतम स्थूल आहार ग्रहण कर रहे हैं तब उन लोगों ने गौतम को भ्रष्ट घोषित कर दिया। वे पाँचों उरुवेला के जंगल को त्यागकर वाराणसी लौट आये। वाराणसी जाने के पूर्व उनके पूर्व के साथियों ने उन्हें असफल घोषित कर दिया था। वर्णन है कि सफलता की प्राप्ति के अंतिम समय में माया-मोह आदि ने गौतम पर चतुर्दिक आक्रमण कर दिया। गौतम अविचलित रहे। उन्हें समाधि लग गयी। यह समाधि लगातार सात दिनों तक बनी रहीं। गौतम ने प्रकाश का साक्षात्कार किया। समाधि में ही विचार-मंथन चला। उन्होंने महसूस किया—क्या मैं सत्य का उपदेश करूँ ? क्योंकि मुझे सत्य की प्राप्ति हो चुकी है।' इसी क्रम में उन्होंने विचार किया—'सत्य तो शब्द से परे है। सत्य का उपदेश कैसे हो?' इस चिन्तन में नई रोशनी उन्हें प्राप्त हुयी। उन्हें महसूस हुआ कि आचरण आधारित उपदेश सत्य का ही संवाहक होगा। घटना के द्वारा ब्रह्म ने मार्ग दिखाया था। जगत का कल्याण होना था। उल्लेख है कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व गौतम को वृक्ष के नीचे दुख व दुख के समुदाय का दर्शन हुआ। आधुनिक समय में सर आइजन न्यूटन को वृक्ष के नीचे गुरुत्वाकर्षण शक्ति का बोध हुआ। इन दोनों घटनाओं में एशिया व यूरोप के सोच के अन्तर को देखा जा सकता है। फिर भी इन दोनों घटनाओं ने मानवता के सांस्कृतिक क्षितिज का कल्पनातीत विस्तार किया। यद्यपि मानक भिन्न-भिन्न थे।

समाधि की उहापोह की स्थिति से गौतम ऊपर उठे। उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति होचुकी थी। इस बीच गौतम बुद्ध के पास मल्लिक व तापूस नामक दो व्यापारी उपस्थित हुये और उन दोनों ने बुद्ध से आशीर्वाद प्राप्ति की याचना की। अभी भी बुद्ध के मन में यह संदेह था कि सांसारिक व्यक्ति सम्भवत: सत्याभिमुख न हो सकेगें। इस अवसरपर गौतम बुद्ध को प्रेरणा प्राप्त हुयी। बुद्ध ने उन दोनों व्यापारियों को उपदेश दिया। ये दोनों बुद्ध के प्रथम शिष्य माने गये। अब गौतम बुद्ध ने अपने प्रथम गुरुओं की खोज की। अलर व उद्धक के आश्रम पर गये। वे दोनों दिवंगत हो चुके थे। तत्पश्चात बुद्ध ने अपने पूर्व के पाँच साथियों को ऋषिपत्तन (सारनाथ-वाराणसी) में खोज निकाला। पाँच साथियों ने निश्चय कर रखा था कि बुद्ध के पास आने पर वे उनके सत्कार्य में अपने-अपने आसनों से उठेगें नहीं। लेकिन यहाँ पर

अप्रत्याशित घटना घटी। बुद्ध के आते ही वे प्रशातिपातकर गये। आध्यात्मिक शक्ति ने जागतिक अभिमान शक्ति को नतमस्तक कर दिया। बुद्ध ने उन साथियों को संबोधित किया—'भिक्षुओं! धोखे में मत पड़ो। मुझे गौतम अथवा मित्र कह कर मत संबोधित कर आखें खोलकर देखो। आज मैं बुद्ध हूँ। क्या तुम पहले के या अब के गौतम में कोई अन्तर नहीं पाते हो?' भिक्षुओं ने संदेह के साथ प्रश्न किया—'गौतम! तुम तपस्या का त्याग करके सत्य की प्राप्ति कैसे कर सकते हो!' बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओं! मैंने कठोर तपस्या का त्याग अवश्य कर दिया है, किन्तु मैं भोगी नहीं हूँ। विचार कर लो। मैंने मध्यम मार्ग का अनुसंधान किया है। सत्य की प्राप्ति न तो भोग से है और न ही आत्म दमन से है। दोनों स्थितयाँ अभिमान आधारित हैं। इन दोनों सीमाओं के बीच से सत्य का मार्ग चलता है। उस मार्ग को पहचानो।' बुद्ध के प्रवचन से भिक्षुओं को बोध की प्राप्ति हुयी। उन्हें जीवन चक्र से निकलने का मार्ग दिखलायी पड़ा। इस स्थल पर धर्म-चक्र का प्रवर्तन हुआ।

जीवन चक्र और धर्म-चक्र—जीवन चक्र की भांति धर्म का भी चक्र है। अन्तर मात्र यह है कि दोनों चक्रों की गति एक दूसरे के विपरीत है। जीवन चक्र का आदि स्रोत तृष्णा या इच्छा है। धर्म का आदि स्थान तृष्णा त्याग है। तृष्णा त्याग कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसके लिये जीवन-चक्र को समझना होगा। बुद्ध ने चार प्रधान जागतिक स्तम्भों का अवलोकन किया। उन्हें आर्यसत्य कहा गया। ये हैं—'दुःख, दुख का कारण, दुख से मुक्ति और दुख से मुक्ति का मार्ग।' जीवन दुख है, जन्म मरण का चक्र दुख है। इस दुख का कारण है जीने की लालसा और अभिनिवेश। दुख से मुक्ति इच्छा त्याग से ही सम्भव है। इच्छा नाश अष्टपदीय मार्ग से ही सम्भव है।

बुद्ध ने धर्म के अष्टपद को बतलाया—'सम्यक् ज्ञान, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् आचरण, सम्यक् जीवन, सम्यक् प्रयत्न और सम्यक् ध्यान तथा सम्यक् समाधि धर्म के अष्ट पद हैं।' धर्म के इन अष्टपदों के सानिध्य में ही सत्य अवस्थित रहता है। अष्टपद की व्याख्या को स्पष्ट करते हुये बुद्ध ने बतलाया कि सम्यक् प्रयत्न न करने पर जीवन पानी पीटने के कार्य सदृश्य व्यर्थ हो जाता है। साधन और साध्य को संमुख रखकर जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग करना चाहिये। मन की एकाग्रता से लक्ष्य की प्राप्ति होती है। मन शान्त हो जाता है। तृष्णा रहित मनुष्य बुद्ध हो जाता है। बुद्ध की शिक्षाओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

१. जीव हत्या न करो, २. जो तुम्हें दिया नहीं गया है, उसे ग्रहण न करो, ३. ब्रह्मचर्य पालन से विचलित न हो, ४. असत्य का आश्रय ग्रहण न करो, ५. किसी भी मादक वस्तु को ग्रहण न करो, ६. भोजन संयमित हो तथा अपराह्न में ही हो, ६. नृत्य, शृंगार और उत्तेजक दृश्यों पर दृष्टि न डालो, ८. माला, इत्र व आभूषण आदि धारण न करो, क्योंकि ये भोग के उपलक्षण हैं, ९. संयमित निद्रा और संयमित विश्राम का आश्रय ग्रहण करो, १०. धन का संग्रह न करो। उल्लेख मिलता है कि अंतिम पाँच शिक्षायें गृहस्थों के लिये नहीं थीं। भिक्षुओं के लिये वे शिक्षायें दी गयी थी। कुछ ही दिनों के भीतर सारनाथ में भिक्षुओं की संख्या बढ़कर साठ हो गयी। तब बुद्ध ने सभी को एकत्र करके कहा—'भिक्षुओ! भिक्षुओ! तुम लोग संसार में फैल जाओ और संसार को करुणा व शान्ति का सन्देश दो'। वर्णन प्राप्त है कि बुद्ध ने सभी शिष्यों को चतुर्दिक फैला दिया और स्वयं गया और राजगृह पहुँच गये। लेकिन एक भिक्षु को भ्रमण कार्य से रोक लिया। उक्त भिक्षु के माता-पिता अशक्त थे और उनकी सेवा के लिये मात्र भिक्षु ही था। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध व्यावहारिकता का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। राजा बिम्बसार को शिष्य बनाया। राजगृह में ही बुद्ध को दो महान् शिष्य प्राप्त हुये। एक का नाम 'सारिपुत्र' और दूसरे का नाम 'मौद्गयायन' था। इन दोनों के सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा—'ये दोनों मेरे महानतम् शिष्य होगें। एक ज्ञान में और दूसरा अलौकिक शक्तियों में बेजोड़ होगा।' बुद्ध के उपदेश व्याप्त हो रहे थे, साथ ही साथ विरोध भी बढ़ रहा था। विरोध की चर्चा होने पर बुद्ध ने शांत भाव से कहा—'जनता का यह विरोध अल्पकाल के लिये है।' कालान्तर में बुद्ध कपिलवस्तु की तरफ चल पड़े। जनता ने अपने राजकुमार को एक भिक्षु के रूप में देखा। बुद्ध के पिता को अपमान प्रतीत हुआ और गौतम की पत्नी यशोधरा को ग्लानि हुयी। यहाँ बुद्ध ने पिता को उपेदश दिया। यशोधरा पैरों पर गिर पड़ी। बुद्ध ने माता, पिता व पत्नी को उपदेश दिया। इसके बाद बुद्ध ने अपने पुत्र राहुल को भी धर्मचक्र में सम्मिलित कर लिया। तदनन्तर बुद्ध भगवान श्रावस्ती लौट आये तथा जेतवन में रहते हुये बहुत दिनों तक उपदेश दिया।

भगवान बुद्ध में करुणा का सागर लहराता था। विख्यात गणीका अम्बपाली की कहानी भगवान बुद्ध की करुणा की कहानी है। अम्बपाली ने अपना सर्वस्व संघ को सौंप दिया तथा धर्म का मार्ग ग्रहण किय। इसी प्रकार बामित्र की पुत्री विशाखा ने भी अपने त्याग और सेवा से भगवान बुद्ध की महती कृपा प्राप्त की। स्त्रियों को यद्यपि बुद्ध ने उपदेश दिया, लेकिन भिक्षुणियों की तरह संघ में रहने की अनुमति

प्रारम्भ में नहीं प्रदान की। अपने शिष्यों के निरन्तर आग्रह पर नियम में ढ़ील दी। फिर भी उन्होंने कहा—'आनन्द यदि स्त्रियों ने भिक्षुणी होना स्वीकार न किया होता तो मेरा धर्म बहुत समय तक जीवित रहता, किन्तु अब यह धर्म बहुत समय तक नहीं चल सकता हैं।' वर्णन प्राप्त होता है कि कई प्रश्नों के उत्तर में वे मौन धारण कर लेते थे। एक बच्छगोत्र नामक साधु ने बुद्ध से पूछा—'गौतम! क्या आत्मा का अस्तित्व है?' बुद्ध चुप रहे। साधु चला गया। बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द ने पूछा—'भगवान् ! आपने वच्छगोत्रीय साधु के प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दिया?' बुद्ध ने मौन तोड़ा और कहा—'यदि मैं कह दिया होता कि आत्मा है तो वह शाश्वतवादियों की भाँति इस जीव को ही नित्य मान लेता और यदि मैं कहा होता कि आत्मा नहीं है तो वह उच्छेदवादियों की भाँति मृत्यु के उपरांत किसी वस्तु का अस्त्वि न मानता। वच्छगोत्र उस अवस्था को प्राप्त नहीं है कि उसे उत्तर दिया जा सके।' इसी कारण भगवान बुद्ध को कुशल वैद्य कहा गया है। वे रोगी को पहचान कर तदुनुसार औषधि बतलाते थे। एक ही प्रकार की शिक्षा देना वे सर्वहित में नहीं मानते थे। भगवान गौतम बुद्ध में दूर की दृष्टि के साथ-साथ नजदीक की अद्भुत दृष्टि थी। इसमें एक प्रसंग उल्लेखनीय है। जब भिक्षुओं को धर्म प्रचारार्थ चतुर्दिक वे भेज रहे थे तब उन्होंने उनसे पूछा—'यदि तुम्हें लोग गाली दें तो तुम क्या समझोगे?' 'मैं यह सोचूगाँ कि उन्होंने केवल गाली ही दी मारा तो नहीं।' और यदि मारें तो?' तो यही सोचूँगा कि उन्होंने केवल मारा ही, कोई अंग तो नहीं काटा।' और यदि काटेंगे?' 'तो यह सोचूँगा कि उन्होंने शिरश्छेदन तो नहीं किया।' 'यदि वे शिरश्छेदन करें तो?' 'तो यह सोचूँगा कि उन्होंने मेरे शिरपर से बहुत बड़ा बोझ उतार दिया। वस्तुत: बुद्ध जैसे पूर्ण पुरुष के वे शिष्य भी पूर्ण थे। बुद्ध की करुणा, अहिंसा व उनका मध्यमार्ग तथा सहसास्वित्व की परिकल्पना इतनी प्रभावपूर्ण थी कि शाश्वतवादी हिन्दूओं ने उन्हें अपना 'विष्णु' अवतार माना। वस्तुत: वेद-वेदांत में जो उत्कृष्ट रहा है, बुद्ध ने उसका खण्डन नहीं किया है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीयोपनिषद के भृगुवल्ली प्रसंग में वरुण देवता के पुत्र भृगु को ब्रह्म का बोध अन्न से प्रारम्भ होकर सात्विक आनन्द के रूप में दिखलायी पड़ा। ठीक ही दशा बुद्ध के साथ घटित हुयी। सुजाता के खीर से मध्यमार्ग प्राप्त हुआ। तदनन्तर के तप से ब्रह्मबोध सात्विक आनन्द के रूप में दिखलायी पड़ा। बुद्ध ने अपने धर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार किया तथा घोषित किया कि धर्म की परिधि में सभी समान हैं। उस युग के सन्दर्भ में यह महान् क्रांति थी।

भगवान बुद्ध ने आनन्द से कहा कि अगले ९० दिनों में शरीर त्याग दूँगा। आनन्द रोने लगे और उन्होंने प्रार्थना की ताकि जीवों के कल्याणार्थ तथागत कुछ और समय तक पृथ्वी पर निवास करें। तथागत ने समझाया कि यह सम्भव नहीं है। कुछ समय पश्चात् कुशीनगर में बुद्ध का शरीर शान्त हो गया। वस्तुत: वे महानतम् व युगान्तकारी विभूति सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके दर्शन ने तत्कालीन विश्व में उथल-पुथल उपस्थित की तथा आज और आने वाले समय में भी मानव गुण निर्माण की दिशा में बौद्ध-दर्शन की प्रासंगिकता बनी रहेगी।

बुद्ध देशना में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के द्वारा दु:ख समुदय के प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ प्रतीत्यसमुत्पाद की अनेककानेक व्याख्यायें भी प्राप्त होती हैं। श्रादेर और फ्रांके ने उसे मूल देशना में उत्तर कालीन प्रक्षेप माना है। श्रीमती राइजडेविड्स ने कार्य-कारण सिद्धान्त के जनक के रूप में बुद्ध को स्वीकार नहीं किया है। लेखिका के अनुसार महर्षि कत्पिन थे। लेकिन तमाम शोध के बावजूद यह स्वीकार किया जाता है कि बीज रूप से प्रतीत्य समुत्पाद की उपस्थिति मूल देशना में थी। क्योंकि बुद्ध का वचन है—'जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है।'

✻

सन्दर्भ-सूची :

१. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास—लेखक डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ।

२. प्राचीन भारत का इतिहास—लेखक डॉ० महाजन ।

३. दर्शन-दिग्दर्शन—लेखक, महापंण्डित राहुल सांकृत्यायन् ।

४. विश्व के संत-महापुरुष—लेखक डॉ० देवराज ।

५. तैत्तिरीयोउपनिषद में भृगुवल्ली प्रसंग ।

✱

पूर्वापर जन्म एवं कर्मफल

डॉ. टशी पलजोर
मैत्री निवास भजोगी
डाक घर मनाली
जिला-कुल्लु, हिमाचल प्रदेश

करोड़ो सम्पन्न कुशल कर्मों से निर्मित काय,
अनन्त सत्त्वों की आशाओं की पूर्ति करने वाली वाणी ।
अशेष ज्ञेयों को यथार्थ जानने वाले चित्त,

उस शाक्य प्रधान को हम आदर सहित प्रणाम करते हैं।।

बौद्ध धर्म में प्रमाणविद्या का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रमाणितविद्या की सम्यक् जानकारी से भगवान बुद्ध के प्रवचनों के विरुद्ध विषयों को दूर किया जाता है। जैसे शब्द विद्या के द्वारा शब्दों की त्रुटियों को दूर किया जाता है उसी प्रकार अर्थों की भ्राँन्तियों को प्रमाण विद्या के द्वारा। बौद्ध धर्म दर्शन के अध्ययनार्थ शब्द विद्या तथा तर्कविद्या की जानकारी परमावश्यक है। तथागत ने विनेयजनों को प्रमाणविद्या सीखने के लिये प्रेरित किया है। भगवान बुद्ध ने त्रिपिटक में प्रमाणशास्त्रों की अधिक चर्चा की है। बाद में बौद्ध आचार्यों ने भी अनेक प्रमाण शास्त्रों की रचना की है। जिसके कारण भारत एवं अन्य देशों में प्रमाण शास्त्रों का अध्ययन एवं अध्यापन अधिक हो रहा है। आज भी बौद्ध शिक्षा संस्थानों तथा महाविद्यालयों में बौद्ध शिक्षार्थी अनेक वर्षो तक प्रमाणशास्त्रों के अध्ययन करते हैं। प्रमाणशास्त्रों के अध्ययन माध्यमिक दर्शन की जानकारी के लिये भी आवश्यक होता है।

भगवान बुद्ध ने विनेयजनों को पँच महाविद्याओं को सीखने के लिये बल दिया है। इनके ज्ञान के बिना बौद्ध धर्म के सर्वज्ञता जैसे सर्वोच्च पद को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। समस्त बौद्ध साधकों को पँच महाविद्याओं को सीखना परम आवश्यक होता है। बौद्ध साधक की सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिये मार्ग की अवस्था में पँच महाविद्याओं को अध्ययन करते है। उन्हें सर्वज्ञता प्राप्ति के पश्चात् भी विनेयजनों को सर्वज्ञता के मार्ग दिखाना पड़ता है।

पूर्वापर जन्म

पूर्वापरजन्म पर विश्वास होने से शरण गमन, चित्तोत्पाद, कर्मफल, मोक्ष, सर्वज्ञता आदि पर विश्वास हो जाता है। बौद्ध धर्म को सम्यक रूप से जानने वाले पूर्वापर जन्म पर शंका नहीं करते हैं। क्योंकि बौद्ध मत के अनुसार सत्त्वों का जन्म तथा अन्त नहीं होता है। अर्हत पद की प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कहीं भी जन्म ले सकता है। पूर्व तथा पुर्नजन्म पर दृढ़विश्वास होने से कुशल कार्य सम्भव हो सकता है।

बौद्धमतानुसार मन का कारण

बौद्ध लोग उच्छेदवाद की तरह शरीर को मन का उपादान कारण नहीं मानते हैं। मन का उपादान कारण मन ही होता है शरीर नहीं। इसपर आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवर्त्तिक ग्रन्थ में विस्तार से युक्ति पूर्वक सिद्ध किया है। लोगों में पूर्व तथा पुर्नजन्म के प्रति संदेह होना स्वभाविक है। सभी भारतीय दर्शन पूर्वजन्म को मानते हैं।

चार्वाक का सिद्धान्त

चार्वाक दर्शन बिलकुल भौतिकवादी और प्रत्यक्ष में विश्वास करने वाला है। वे ईश्वर, परलोक, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि को नहीं मानते हैं। इसका प्रधान सिद्धान्त है—खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ। 'जबतक जियो सुख से जिओ' ऋण लेकर भी घी पिओ, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर जीव लौटकर नहीं आता। आत्मवाद निराढकोस है। जगत् में आँखों से दिखाई देने वाले भूमि, जल, अग्नि तथा वायु चार ही तत्त्व है, इनके संयोग से स्वभाववश शरीर और बुद्धि की उत्पत्ति होती है। जीवन का लक्ष्य भोग और द्रव्य प्राप्ति है। मृत्यु के पश्चात् सब चीजों का अन्त हो जाता है। ऐहिक सुखवाद पर बल देने के कारण इसका नाम चार्वाक (चारु-वाक = सुन्दरवाणी) तथा लोकायत लोक में विस्तीर्ण है। इसके प्रवर्त्तक बृहस्पति नामक ऋषि थे।

चार्वाक पुर्नजन्म एवं अनुमान प्रमाण को नहीं मानता है वे परलोक, कर्मफल, सुगति, दुर्गति, मोक्ष आदि को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत में समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति स्वभाव से होता है। जैसे सूर्य तथा चन्द्रमा को कौन अंकुश लगाकर खींचते हैं। वे अपने आप पूर्व की ओर से निकलकर पश्चिम की ओर जाते है। इसी प्रकार पहाड़ों से आने वाले पानी को नहर बनाने वाले कोई नहीं होता है। पानी अपने आप नीचे की ओर बहता है। काँटो को नुकीला बनाने वाला कोई कर्ता या व्यक्ति

नहीं होता है। समस्त वस्तुएँ स्वभाव से उत्पन्न होता और नाश होता है। उनके लिये हेतु और कारणों की आवश्यकता नहीं होती है। चार्वाक के सिद्धान्त के अनुसार चार महाभूतों से हमारे शरीर की उत्पत्ति होती है। वे चार भूतों को शरीर का उपादान कारण मानते हैं। उनके मत में जबतक शरीर है तबतक मन शरीर में रहता है। शरीर नष्ट हो जाने पर मन भी नष्ट हो जाता है। वे तीन उदाहरण के द्वारा शरीर से मन की उत्पत्ति बनाते हैं। दीवार और उसपर लिखा हुआ चित्र आधार आधेय भाव से रहता है। दीवार नष्ट हो जाने पर उसपर लिखा हुआ चित्र भी नष्ट हो जाता है। दूसरा उदाहरण मदिरा है। जबतक मदिरा है तबतक मदिरा में रहने वाले नशीलापन रहता है। मदिरा नष्ट होने पर नशीलापन भी नष्ट हो जाता है। तीसरा उदाहरण जबतक दीपक हैं तबतक प्रकाश रहता है। दीपक समाप्त हो जाने पर उसका प्रकाश भी नष्ट हो जाता है। उनके मत के अनुसार पूर्व जन्मों से यहाँ आना तथा यहाँ से परलोक में प्रतिसन्धि नहीं हो सकता है। बुद्ध के शासन में प्रवेश के लिये उत्तम द्वार शरणगमन है। शरणगमन उत्पन्न करने के लिये पूर्व तथा पुनर्जन्म संसार, दुर्गति के दु:खों की सही जानकारी आवश्यक है। पूर्व तथा पुर्नजन्म को नहीं मानने वालों के मन में मिथ्यादृष्टि होती है। मिथ्यादृष्टि का त्यागना आवश्यक है। जबतक मनुष्यों के मन में मिथ्यादृष्टि रहेगी तबतक विशेष प्रकार की शरण गमन के विचार नहीं आता है। इसके अतिरिक्त कर्मफल पर विश्वास, कुशलकर्मो को ग्रहण तथा अकुशल कर्मो का त्यागने का विचार भी नहीं आ सकता है। पुर्नजन्म के बिना अधम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा महापुरुष के मार्ग क्रमो का ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। अत: सर्वप्रथम पूर्व तथा पुर्नजन्म पर दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है।

सूत्र में पुर्नजन्म

पुर्नजन्म के विषय में भगवान बुद्ध ने सूत्र में अपने पिता राजा शुद्धोदन को इस प्रकार बताया है। हे महाराज इस लोक से परलोक में जनम लेते समय नित्य का संक्रान्त नहीं होता है। उच्छेदवाद का निरूद्ध होकर भी नहीं होता है। बिना कारण से भी नहीं होता है। नित्यकर्ता ने भी नहीं होता है। कर्म और क्लेशों के हेतु और प्रत्ययों का इकट्ठा होने से ही परलोक में जन्म होता है।

राजा शुद्धोदन ने भगवान से प्रार्थना किया। आत्मा नित्य नही होता है। संसार के कर्त्ता ने भी हमें नहीं बनाया है। परलोक का जन्म सिद्ध करने पर भी इसे जानना कठिन्न है। क्या आप इसके अनुरुप उदाहरण प्रदान करेंगे? राजा ने बुद्ध से इस प्रकार प्रश्न पूछा। भगवान ने उत्तर दिया। हे महाराज इसके छ: अनुरुप उदाहरण होते हैं। वे हैं—जब गुरु पाठ करते हैं। उस समय उसका शिष्य उसे जानने का उदाहरण

है। दीपक से दीप उत्पन्न होता है। दर्पण से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति होती है। सूर्यकान्तमणि से आग उत्पन्न होता है। बीज से अंकुर की उत्पत्ति हैं। प्रतिध्वनि से शब्द निकलता है इस लोक में असंख्य प्राणियाँ रहते हैं। उनमें से मनुष्य तथा तिर्यक अलग सत्त्व है। मनुष्यों को भी नाना प्रकार के सुख और दु:खों को भोगना पड़ता है। एक माता-पिता से पुत्र तथा पुत्री पैदा होते हैं। किसी को जुड़वाँ बच्चे भी पैदा होता है। सभी मनुष्यों के शरीर के उपादान कारण सामान्य होते हैं, फिर भी उनमें से किसी की तेज इन्द्रियाँ होती है, किसी का मन्द। कोई अधिक प्रभावशाली होते हैं किसी के कम। किसी की दीर्घ आयु होती है किसी का कम किसी का रूप सुन्दर होता है तथा किसी का कुरूप। इस तरह के साक्षात् भेद दिखाई देता है। ये सारे पूर्वजन्मों के कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न होता है। भगवान् बुद्ध ने सूत्र में कहा है कि, 'जिस तरह के कार्य किया है उसी तरह का परिणाम मिलता है'। मनुष्यों के बच्चे तथा गायों के बछड़े पैदा होते ही माता के दूध पीते हैं। कुछ बालक बचपन से ही अन्य बच्चों से भिन्न होते हैं। वे कुशल कार्यों के प्रति खुश होते हैं अकुशल कार्यों का करने में पसन्द नहीं करते हैं। कुछ बच्चे बिना सिखाये चित्र, मूर्ति बनाना आदि स्वभाव से जानते हैं। अनेक बच्चों को सीखाने पर भी नहीं जानते हैं। ये सभी पूर्वजन्मों के संस्कार एवं अभ्यास की देन है।

संक्षेप में कहा जा सकता हैं कि इस जन्म की माता का खून तथा पिता का वीर्य सत्त्वों के स्थूल शरीर बनता है। इसे सहकारी कारण भी कहते हैं। सूक्ष्म शरीर के नस, वायु, वीर्य आदि उपादान कारणों के साथ प्रतिसन्धि होती है। पूर्व जन्मों के कर्म तथा वर्तमान पिता का वीर्य तथा माता के खून के बीच में अन्तराभव के चित्त की प्रतिसन्धि होती है। इस तरह के शरीर तथा मन दोनों के अपने-अपने स्वजाति पहले से होती है। वर्तमान हमारे शरीर और मन है वे बीते हुए कल का शरीर और मन का स्वजाति की सन्तति है। माता के गर्भ से जन्म लेते समय का जो शरीर और मन है वह गर्भ अवस्था के शरीर तथा मन का स्वजाति से उत्पन्न हुआ है। प्रतिसन्धि होने की अवस्था के समय का जो मन है वह अन्तराभव के चित्त की सन्तति है। वायु का जो सूक्ष्म शरीर है। वह अन्तराभव के वायु के सूक्ष्म शरीर का स्वजाति है। इस प्रकार शरीर के स्वजाति का आदि नहीं होती है।

संसार में प्राणियाँ जबतक रहेंगे तबतक उन्हें जन्म, मृत्यु तथा अन्तराभव में जन्म लेकर रहना पड़ता है। सत्त्वों को चक्र की तरह संसार में चक्र करना पड़ता है जन्म लेने का स्थान भवाग्र से अवीचि नरक है। उन्हें उक्त स्थानों में चक्र लगाना पड़ता है। संसार में चक्र करने का मूलकारण अपनी सन्तति का सत्काय दृष्टि है।

त्रिशिक्षा यानी शील, समाधि तथा प्रज्ञा की शिक्षाओं का सम्यक्रूप से अभ्यास करने से जन्म, मृत्यु तथा अन्तराभव तीनों से मुक्त हो सकता है। मनुष्य का जन्म प्राप्त करना अति दुष्कर है। इस अमूल्य जीवन को सफल बनाने के लिए भगवान बुद्ध के उपदेशों को यथा संभव श्रवण, मनन तथा भावना करने की आवश्यकता है। भगवान बुद्ध ने चार प्रकार के कर्मों को बताया है। उनमें से पहला नियत कर्म है। विनय आगम में कहा है कि जिस प्रकार का कर्म किया है। उसी तरह का परिणाम मिलता हैं।

(१) नियत कर्म

भगवान बुद्ध के उपदेशों के अनुसार कुशलकर्म करने पर उसका फल सुख मिलता है दु:ख नहीं। अकुशल कार्य करने से उसका फल दु:ख मात्र होगा। सुख नहीं। जैसे—तेज स्वाद वाले बीज से उसका फल तेज स्वाद वाला पैदा होता है। उसी तरह मीठे से मीठा तथा कड़वे से कड़वा ही फल होना निश्चित है। इसलिये कारण की अवस्था में कुशल एवं अकुशल कर्मों के प्रति सावधान रहना चाहिये। फल पक जाने पर उसके निषेध हेतु कोई उपाय नहीं है। अत: जिस तरह का कारण है। उसी तरह का फल होना निश्चित है। इस प्रकार कर्मफल अति सूक्ष्म है।

२. अभिवृद्धि कर्म

बाह्य कार्य कारण से आभ्यन्तर कार्य कारण की अधिक वृद्धि होती है। जैसे आम के एक छोटे बीज से बड़ा पैदा होता है तथा प्रतिवर्ष उसके हजारों पत्ते, फल आदि होते हैं। उससे भी अधिक आभ्यन्तर कार्य-कारण बढ़ते रहते हैं।

कर्मफल का विधान शून्यता से भी सूक्ष्म है। बालपृथकजन को इसको समझना कठिन है। श्रावक और प्रत्येक बुद्ध अर्हत भी शून्यता को जानकर अन्यों को बता सकते हैं। परन्तु कर्मफल को सूक्ष्म विधान को केवल आगम प्रमाण के द्वारा ही जाना जा सकता है। छोटे से छोटे पापों से सावधान रहना चाहिये। अल्प कुशलता मात्र से भी भद्र फल बढ़ जाता है। जैसे—चक्रवर्ती राजा मानधातृ ने विलोचन बुद्ध को एक मुट्ठी दाल विखेरा था। उनमें से चार दाना ही उनके पात्र में पड़ा तथा एक उनके उष्णीष में रहा। जिसके फलस्वरूप वे चारों द्वीपों तथा देवलोक के अधिकारी करने वाले राजा बन सके।

३. अकृतकर्म से अभ्यागम—

कुछ लोगों के पास युद्ध के समय कोई भी रक्षक शस्त्र नहीं होता है, उन्हें गोली मारने पर भी नही लगता है। उसे कुछ भी हानि नहीं पहुँच सकती है। वे अपने

आप को आश्चर्य का अनुभव करते हैं। यह तो अकृतकर्म से अभ्यागम नहीं हुआ है। कुछ लोगों को पहले अस्त्र से कुछ नहीं होता है। बाद में मार दिया जाता है। 'कुछ लोग उसे अस्त्र रक्षक की शक्ति क्षीण हो गई है' ऐसा अनुमान करते हैं। इस प्रकार के विचार करने वाले कर्मफल को ठीक से नहीं जानते हैं। स्वकृत कर्म का फल न मिलने पर आग में जलाने पर भी नहीं मरता है।

आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में कहा है—

विपर्ययात् सुचरितम् तदौदारिक संग्रहात ।
दशकर्मपथा उक्ता यथायोगं शुभाशुभाः ।।४-७७।।

भिक्षुओं के अतिरक्त गृहस्थों को भी इन अकुशल कर्मों का त्याग तथा कुशल कर्मों का उपादान करना परम आवश्यक है। इसके अभ्यास पर ही पुरुषार्थ निर्भर है। स्वफल-सुख उत्पादक की जाति में निहित कुशल का लक्षण है। स्वफल दुःख उत्पादक की जाति में निहित अकुशल का लक्षण है। आचार्य शान्तिदेव ने कहा है कि लोग सुख को चाहते हुए भी सुख़ के कारण को सिद्ध नहीं कर पाते हैं। दुःख को नहीं चाहते हुए भी दुःख के कारण का त्याग नहीं करते हैं जो इच्छित सुख है उसे शत्रु की तरह विनष्ट कर दुःख का अनुसरण करते हैं।

दुःखमेवाभिधविन्त दुःखनिःसरणायशयां ।
सुखेच्छयैव संमोहात् स्वसुखं ध्वन्ति शत्रुवत् ।।२८।।

त्यागने का अकुशल कर्म इस प्रकार है। शरीर के द्वारा प्राणातिपात, अदत्तादान तथा मिथ्याचार है। वाणी के द्वारा मृषावाद पैशुन्य, पारुष्य तथा संभिन्न प्रलाप। ये चार वाणी का अकुशल कर्म है। अविद्या, व्यापाद तथा मिथ्यादृष्टि। ये तीन शरीर का अकुशल कर्म है। ये अकुशल कर्म आधार, विचार, प्रयोग तथा अन्तिम इन चारों के सम्पन्न होने पर पूर्ण रूप से सम्पन्न होते हैं। मरणशील जीव आधार है। ये संज्ञा, समुत्थान तथा क्लेश तीन तरह के विचार होते हैं। मरणशील जीव को सोचना तथा उसके प्रति भ्रम न होना संज्ञा है। उसे मारने की इच्छा समुत्थान है। राग, द्वेष तथा मोह तीनों का होना क्लेश है। शत्रु को क्रोध से हथियार द्वारा मारना द्वेष द्वारा मारना है। माँस, हड्डी, चमड़ा आदि के लिये अभिनिवेश पैदा कर जीव को मारना राग द्वारा मारना है। देवी-देवताओं को माँस एवं खून चढ़ाने हेतु यज्ञ में जीवों की बलि देना तथा 'यह पाप नही है' ऐसा विचार करना मोह द्वारा प्राणातिपात है।

४. अविप्रणाशकर्म

भगवान बुद्ध ने सूत्र में कहा है कि सत्त्वों के कर्मफल सैंकड़ों कल्पों तक भी विनाश नहीं होता हैं। कर्मों का संग्रह होने पर समयानुसार उसका फल पक जाता है। दीर्घकाल से पुराना हो जाना, छोटा होकर नष्ट हो जानना आदि नहीं हो सकता। छोटा और बहुत समय पहले किये हुए कर्म का फल भी कभी मिलता ही है। आर्य गुरुछुङ नामक व्यक्ति को अर्हत का पद प्राप्त होने पर दान नहीं मिलता था, जो थोड़ा दान मिलता था वह किसी कारण नष्ट हो जाता था। अन्त में उन्हें मिट्टी खाकर मरना पड़ा। गृहस्थ वीरनन्दिन के मन में मोक्ष-भागीय का मूल कुशल था। उसे अर्हत नहीं देख सके। अति सूक्ष्म कुशलकर्म का भी फल मिलता है। वीरनन्दिन एक बार मक्खी का जन्म लेते समय पशु के सुखे हुए गोबर को चक्कर लगाते समय संयोगवश पानी के साथ बह गये। उन्हें एक स्तूप की परिक्रमा करने मात्र का अवसर प्राप्त हुआ। जिसके फलस्वरूप उनके मन में मोक्ष-भागीय का मूल कुशल विद्यमान था। आचार्य नागार्जुन पूर्वजन्म में कुशघास काटते समय एक चींटी का गला काट दिये थे। अत: उनका सिर भीख मांगने के समय कुशघास से ही कट सका। इस प्रकार का अनेक पौराणिक कथायें हैं। इस प्रकार सूक्ष्म रूप से दम्मुक नामक सूत्र, अवदान शतक, कर्मशतक सूत्र, विनयागमादि सूत्रों में विस्तृत रूप से वर्णन मिलता है। पाप और पुण्य के कर्मों का अर्जन करने के पश्चात् उनके फल कभी भी विनाश नहीं हो सकता है। अत: सूक्ष्म से सूक्ष्म कुशलकर्मों का ग्रहण तथा अकुशल कर्मों का त्याग करना आवश्यक है। कर्मफल सूक्ष्म एवं महत्वपूर्ण विषय है। इसके हेयता एवं उपादेयता का मूल आधार क्या है? इसको सूक्ष्म रूप से दश कुशल एवं दस अकुशल कर्मों में संगृहीत करके बताया है।

विष, शक्ति, हथियार, कुमन्त्रविद्या आदि के द्वारा प्राणातिपात करना प्रयोग हैं। स्वयं से पूर्व जीव को मारना अन्तिम है। इस प्रकार आधार, विचार, समुत्थान तथा अन्तिम इन चारों के सम्पन्न होने पर प्राणातिपात का कर्म पूर्ण होता है। अन्यों के द्वारा हिंसा कराने तथा स्वयं करने में कोई भिन्नता नहीं होता है। इस प्रकार अन्य अकुशल कर्मों को भी आधार, विचार, समुत्थान एवं अन्तिम इन चारों को जोड़कर समझना चाहिये।

*

सन्दर्भ-सूची :

१. प्रमाणवार्तिक मूल ग्रन्थ

२. प्रमाणवार्तिक कीटीका

३. आचार्य योङजिनटुलकुका पूर्वापरजन्मका लेख

४. लमरिम नमडोल लगचङ

✱

सौत्रान्तिक-दर्शन-तत्त्व-विमर्शः

प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
संकायाध्यक्ष:-श्रमणविद्या संकायस्य
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय:, वाराणसी

परिभाषा—येन निकायसूत्राणां अथवा सूत्रपिटकस्य सर्वाधिकं प्रामाण्यं स्वीक्रियते, तदेव सौत्रान्तिक दर्शनमुच्यते। अट्ठशालिन्यां सूत्र शब्दस्यानेके अर्था: कृता: सन्ति।

यथा— **अत्थानं सूचनतो सुवुत्ततो सवनतोथ सूदनतो ।**
सुत्ताणा सुत्तसभागतो च सुत्तं सुत्तं ति अक्खातं ।।

सूत्रमेवोच्यते 'सूत्रान्त' इति अथवा अथवा सूत्राधारे प्रवर्तिता: सिद्धान्ता: 'सूत्रान्त' उच्यते । तत्सम्बन्धितो निकाय: 'सौत्रान्तिक:' अस्ति । यैर्वचनैर्भगवान् जगत:—हितं सम्पादयति, तानि वचनानि 'सूत्राणि' सन्ति । अथवा यथा मणिसुवर्णादे: कणान् एकस्मिन् तन्वौ क्रमशो निबद्धय सुन्दरस्य हारस्य (आभूषणस्य) निर्माणं क्रियते, तथैव विविधाप्रायवतां एवं रूचिवतां सत्त्वानां कृते उपदिष्टानि नानाविधानि बुद्धवचनानि निर्वाणार्थे येन आबन्धनं विधीयते, तानि सूत्राणि सन्ति । महायानी परम्परानुसारं बुद्धस्य किमप्येकमपि वचनं एवभूतं नास्ति, यत्र ज्ञेय-मार्ग-फलानि च न संगृहीतानि न स्यु:। अत: बुद्धवचनमेव सूत्रमस्ति । अत: 'सूत्रं' एतत् बुद्धवचनानां सामान्यं नाम वर्तते। यशोमित्र: अभिधर्मकोश भाष्यस्य टीकायां सौत्रान्तिक शब्दस्य व्युत्पत्तिं कुर्वन् लिखितवानास्तिक: सौत्रान्तिकार्थ:? ये सूत्र प्रमाणिका:, न तु शास्त्र प्रमाणिकास्ते ते सौत्रान्तिका:। अर्थात् सौत्रान्तिक शब्दस्य कोऽर्थ:? ये सूत्रं, न च शास्त्रं प्रमाणं मन्यन्ते, ते सन्ति सौत्रान्तिका:। एत एवं दार्ष्टान्तिका अप्युच्यन्ते। यतो हि ते दृष्टान्तमाध्यमेन बुद्धवचनानां व्याख्यान करणे अतिनिपुणा भवन्ति । अनेन निर्वचनेन त्रिपिटकस्य सम्बन्धे सौत्रान्तिकानां दृष्टे: संकेतोऽपि अनेन भवति ।

त्रिपिटक:—नास्त्यत्र कस्यापि विवादो यत् महाकाश्यपादय: महास्थविरा बुद्ध-वचनानां संकलनं विधाय वचनानांकृते त्रिपिटकस्य स्वरूपं प्रदत्तवन्त: । कालक्रमे

अग्रे बुद्धवचन सन्दर्भे परस्परं विरूद्धानि विविध मत-मतान्तराणि तथा विविधाः साम्प्रदायिकदृष्टयः प्रस्फुटिता जाताः। विषयेऽस्मिन् सौत्रान्तिकानां विशेषरूपां दृष्टिरस्ति। एतन्मतानुसारं स्थविरवादिनां अभिधर्मपिटकः यस्मिन् धम्मसंगणि, विभंगादयः सप्तग्रन्थाः संग्रहीताः सन्ति, स च (अभिधर्मपिटक) बुद्धवचनं न स्वीकर्तुं शक्यते। एतेषां कथनमस्ति यदेतेषु ग्रन्थेषु असंस्कृतानां धर्माणां द्रव्यसत्तादयोऽनेके युक्तिहीनाः सिद्धान्ताः प्रतिपादिताः सन्ति। भगवान् बुद्धः कदापि युक्तिहीन-वार्ताः न वदति । अतो बुद्धवचनरूपे स्वीकरणम् सम्भवमस्ति । वस्तुतः सप्तग्रन्था इमे परवर्तिनः सन्ति, तथा अभिधार्मिकानां कृतयः सन्ति। अतः शास्त्राण्येतानि सन्ति। तैः एतेषां ग्रन्थानां रचनाकाराणामपि नाम्नो निर्देशः कृतः।

यथा—ज्ञानप्रस्थानस्य कर्ता—आर्यकात्यायिनी पुत्रः, प्रकरणपादस्य वसुमित्रः, विज्ञानकायस्य देवशर्मा, धर्मस्कन्धस्य शारीपुत्रः, प्रज्ञप्तिशास्त्रस्य मौद्गल्यायनः, धातुकायस्य पूर्णः, तथा संगीति-पर्यायस्य महाकौष्ठिल्यः कर्ता वर्तते । इमे ग्रन्थाः कैरपि प्रमाणिकैः पुरुषैः रचिता न सन्ति । न च प्रथमसंगीतौ एतेषां गायनमभवत् । अतः पृथग्जनैः रचितत्वात् सौत्रान्तिकवादिनः बुद्धवचनं न स्वीकुर्वन्ति । एतेषां कथमनमस्ति यद् बुद्धेनोपदिष्टं सूत्रमेव अस्माकं मते प्रमाणमस्ति, नान्यच्छास्त्रमिति ।

सौत्रान्तिकानां युक्तिषु यत् किञ्चिद् सत्यांशोऽपि प्रतीयते । आश्चर्यविषयोऽयं यत् भगवतो बुद्धस्य परिनिर्वाणस्य २०० वर्षाणामनन्तरं (तृतीय-संगीत्यवसरे) मौद्गलीपुत्रेण तिष्य द्वारा विरचितः कथावत्थुनामकोग्रन्थः स्थविरवादिभिः बुद्धवचनरूपे मान्योऽस्ति । एवमेव स्थविरधर्मत्रात द्वारा विरचितः 'उदानवर्गः' सर्वास्तिवादिभिः बुद्धवचन रूपे स्वीक्रियते। स्वमतस्य पुष्टये स्थविरवादिभिः एतदुच्यते यद् भगवान बुद्धः—अनागतस्य ज्ञाता तथा त्रिकालद्रष्टाऽऽसीत्। तेनैषाभविष्यवाणी कृता यत् अस्मदनन्तरं भविष्ये मुद्गलीपुत्रतिष्यः समुत्पन्नो भविष्यति, स च यदुपदिष्ट-मातृकाणां विस्तारं कुर्वन् कथावत्थुनामकस्य प्रकरणस्य निर्माण करिष्यति। अतो बुद्धस्य भविष्यवाण्यनुसारं निर्मितत्वात् प्रकरणमिदं बुद्धवचनमस्ति। सौत्रान्तिकानां कथनमस्ति यत् स्थविरवादिनां युक्तिरियं स्वीकुर्याच्चेत् नागार्जुनस्य ग्रन्थान् अपि बुद्धवचनं स्वीकर्तव्यम्, यतो हि तद्विषयेऽपि लंकावतारसूत्रे एवं मञ्जूश्रीमूलकल्पादौ बुद्धस्य भविष्यवाणी समुपलब्धास्ति।

विषयेऽस्मिन् स्थविरवादिनः, सर्वास्तिवादिनश्च सौत्रान्तिकेषु आक्षिपन्ति यत् यदि धम्मसंगण्यादयः तथा ज्ञान प्रस्थानादयो ग्रन्था अभिधर्मपिटकस्य रूपे बुद्धवचनं

नास्ति। एवं प्रथमसंगीत्यवसरे तेषां संगायनमपि नाभवत्, तदा बुद्धवचनानां त्रिपिटके संग्रहः त्रिपिटकव्यवस्था च सर्वथा निरर्थकत्वं व्रजेत्। नैतावन्मात्रं, सूत्रविरोधोऽपि भविष्यति, यतो हि सूत्रेषु बहुस्थानेषु 'अभिधर्मपिटक' 'त्रैपिटकभिक्षु' आदयः शब्दाः (सूत्रवचनानि) उपलभ्यन्ते। एतानि सूत्रवचनानि (शब्द) न तु अप्रमाणिकानि सन्ति न च निरर्थकानीति। अतः सौत्रान्तिकानां मतं समीचीनं नास्ति। अपि च, भवतां मते अभिधर्मपिटकस्य अभाव एव भविष्यति, यतो हि तेषां ग्रन्थानामतिरिक्तं अन्यः कोऽपि ग्रन्थो नोपलभ्यते, यो हि अभिधर्मपिटक इति ब्रूयात्।

दार्ष्टान्तिकानां एतेषां आक्षेपाणां युक्तियुक्तं समाधानं प्रस्तुतयनुच्यते यत् भवतामेतत्कथनं सत्यमस्ति यत् तान् ग्रन्थानतिरिक्तं अभिधर्मस्य अन्ये ग्रन्था न सन्ति, तथापि अभिधर्माभावस्य दोषो नास्ति। एवं अभिधर्माभावस्यापि दोषोऽपि मयिनागच्छति । यतो हि धम्मसंगणि ज्ञानप्रस्थानादि ग्रन्थान् अभिधर्मपिटकरूपे मत्वा सूत्रेषु 'अभिधर्मपिटकस्य' तथा त्रैपिटकभिक्षु, आदीनां शब्दानां व्यवहारो न कृतोऽस्ति। न तु भगवान् सूत्रपिटकात् तथा विनयपिटकादिरिक्तं अभिधर्मपिटकस्य देशना कृता। सूत्रेषु अनेकत्र धर्माणां स्वलक्षणस्य सामान्यलक्षणस्यादेर्विवेचना विहिता, सूत्राणां एवं भूतस्थलानि अथवा वचनानि एव वस्तुतोऽभिधर्मोऽस्ति। सूत्रेषु एवं भूतो धर्मपरिचयो धर्माणां च विश्लेषणमुपलब्धो भवति, एवं भूतः सूत्रविशेष एव अस्माकं मतानुसारं अभिधर्मोऽस्ति, यथा अर्थ विनिश्चयादिसूत्रम्, न तु धम्मसंगणि, ज्ञानप्रस्थानादि ग्रन्थः। 'मातृका' शब्दोऽपि अभिधर्मस्य पर्यायरूपे मिलति। अभिधर्मधराय मातृकाधर शब्दस्य प्रयोगः स्वयं भगवतैव कृतोऽस्ति। प्रथम-पंचशतिका संगीतौ अपि अभिधर्मस्य संगायनं महाकाश्यपादिभिः महास्थिविरैः मातृकारूपे एव कृतम्।

अतः 'अभिधर्मपिटकः' त्रैपिटकभिक्षुः, इत्यादिनां शब्दानां आधारे कोऽपि दोषोऽथवा सूत्रविरोधस्य आक्षेपोऽत्र कर्तुं न युज्यते । स्थविरवादिभिः, सर्वास्तिवादिभिरपि स्वीक्रियते यत् अभिधर्मस्य देशना भगवता प्रकीर्णरूपे कृतास्ति । आर्यकात्यायनीपुत्रादयः पश्चात् तत्संकलनं विधाय ग्रन्थरूपं प्रदत्तवन्तः। अनेनैव एतदपि स्पष्टं भवति यत् प्रथमसंगीत्यवसरे अभिधर्मस्य अस्तित्वमासीत्, किन्तु अभिधर्मग्रन्थानां यथा स्वरूपमद्योपलब्धमस्ति, तथा नासीत् तदानीम्।

प्रथमसंगीतेः प्राचीनवर्णनप्रसंगे अभिधर्मपिटकस्य संगायनस्य स्पष्टोल्लेखः समुपलब्धो न भवति । सर्वास्तिवादिनां क्षुद्रकागमे यद्यपि अभिधर्मस्य संगायनस्योल्लेखो मिलति । तथापि तत्र महाकाश्यप द्वारा अभिधर्म मात्रकाणां संगायनस्यैव उल्लेखोऽस्ति ।

अस्माकमस्याः संभावनायाः अपलापं कर्तुं न शक्यमस्ति। यत् तदानीं वर्तमानानां अभिधर्म-ग्रन्थानां अस्तित्वमेव नासीत्। सौत्रान्तिकानां कथनमिदं वस्तुस्थितिमेव व्यनक्ति यत् सप्तग्रन्थवान् अभिधर्मशास्त्रमस्ति न च सूत्रम्, न सूत्रं प्रमाणं भवितुमर्हति, न च शास्त्रप्रमाणम्। तेषां एव कथनं साम्प्रदायिकप्रवृत्तेः द्योतकमपि न वक्तुं शक्यते, यतो हि यदा वैभाषिक ज्ञानप्रस्थानादयः ग्रन्था बुद्धवचनरूपे प्रतिपाद्यमानाः सन्तः, तदा स्थविरधर्मत्रात द्वारा संग्रहीतः—उदानवर्गः दृष्टान्तरूपे कथं प्रस्तूयते। अर्थात् बुद्ध द्वारा प्रकीर्णरूपे उपदिष्टवचनानां धर्मत्रात द्वारा विहितः उदाननामकः संग्रहो यथा बुद्धवचनं स्वीक्रियते, तथैव ज्ञानप्रस्थानादयोऽपि संग्रहीत ग्रन्थाः सन्ति, अतस्तान् अपि बुद्धवचनं स्वीकर्तव्यम्। किन्तु सौत्रान्तिकाः उदानवर्गमपि शास्त्रमेव स्वीकुर्वन्ति, न च सूत्रम्।

परवर्तिनः सौत्रान्तिका आचार्या, येषामुपरि महायानस्याधिकः प्रभाव आसीत्, तेऽपि एतदेव स्वीकुर्वन्ति यत् सर्वास्तवादिनिकायानां अभिधर्मग्रन्था बुद्धवचनानि न सन्ति। महायानी आचार्याणां मतमपि प्राय एवमेवास्ति। सप्ताभिधर्मग्रन्थानां एवं धर्मत्रात-कृतस्य उदानवर्गस्य आंशिकं बुद्धवचनत्वमेव तैर्मान्यमस्ति। एषु ग्रन्थेषु यानि बुद्धवचनानि समुद्धृतानि सन्ति, तेषां सूत्रवचनानामेव कृते सूत्रवचन रूपे मान्यतां ददति। आचार्यस्य वसुबन्धोर्मतमपि तस्य अभिधर्मकोशे तत् स्वभाष्यादौ एवमेव परिलक्षितं भवति।

बुद्धवचनानमपि नेय-नीतार्थताः—सौत्रान्तिकपरम्परायामपि नेय-नीतार्थतायाः पद्धतिरुपलब्धा भवति। सौत्रान्तिकानामपि अनेके भेद-प्रभेदाः सन्ति। एतत् सम्भाव्यते यत् प्राचीनेषु सौत्रान्तिकेषु एषा मान्यता प्रचलिता न स्यात्, किन्तु आचार्य वसुमित्रः (सौत्रान्तिकः) स्वीये समयभेदोपरचनचक्रनाम्नः ग्रन्थे लिखितवान यत्-यतोहि सर्वसूत्रवचनानि नीतार्थ विषयकानि न सन्ति, अतः सर्व सूत्राणि नीतार्थएव अभूत्वा तानि नेयार्थानि अपि भवन्ति।

आचार्यस्य वसुमित्रस्य एवं भदन्त सूभूतिधोषादि ग्रन्थेषु यद्यपि एताल्लिखितमस्ति यत् सौत्रान्तिकाः अपि बुद्धवचनानां नेयार्थतां नीतार्थतां स्वीक्रियन्ते, किन्तु किमस्ति सूत्रं नीतार्थं किं च नेयार्थमिति स्पष्टतया निर्दिष्टो नास्ति। परवर्तिन आचार्यस्य धर्मकीर्तेः एवं शुभगुप्तस्य ग्रन्थेभ्यः प्रतीयते यत् इमे प्रथमधर्मचक्रेण सम्बद्धसूत्राणि नीतार्थं तथा प्रज्ञापारमिता-सूत्राणि बुद्धवचनं मत्वा तेषामभिप्रायं प्रकटयान्ति। अतस्तानि सूत्राणि अभिप्रायिका अर्थात् नेयार्थाः सन्ति।

आचार्येण धर्मकीर्तिना प्रमाणवार्तिके प्रमाणसमुच्चयस्य दुरुहस्थलानां टीकां कुर्वता वाह्यार्थदृष्ट्याा प्रज्ञापारमिता-सूत्राणां अभिप्राय: प्रकटित: । तेनोक्तं प्रज्ञापारमिता-सूत्रेषु शून्यता, नि:स्वभावतादि शब्दानां यत् कतिपय बारं प्रयोगो जात:, तेषामर्थं शब्दशो न ग्राह्यम् । भगवता तेषां प्रयोग: साभिप्राय: कृत: । अतस्तदभिप्रायोऽन्वेष्टव्य: । फलत: तानि सूत्राणि अभिप्रायकानि अर्थात् नेयार्थानि सन्ति, न च नीतार्थानि।

आचार्य: धर्मकीर्ति: अन्य प्रकारेणापि तदभिप्रायं प्रकटयामास। तत्कथनमस्ति यद्धर्मेषु यत्सामान्य-विशेष—भावोऽस्ति, कार्यकारणभाव:, लक्ष्यलक्षणभाव:, आश्रयाश्रयिभावादयो दृश्यन्ते, तेषां समस्त सम्बन्धानां द्रव्यसत्ता अथवा परमार्थसत्ता नास्ति किंचिदपि एतद्विषयं ध्याने निधाय भगवता बुद्धेन प्रज्ञापारमितासूत्रेषु सर्वधर्मा: नि:स्वभावा: शून्याश्चोक्ता:, यथा—प्रमाणवार्तिके ग्रन्थकारेणोक्तम्—

व्यापारोपाधिकं सर्वं स्कन्धादीनां विशेषत: ।
लक्षणं स च तत्त्वं न तेनाप्येते विलक्षणा: ।।

धर्मकीर्तेरनन्तरं येऽपि सौत्रान्तिका आचार्या बभूवु:, ते सर्वेऽपि एतेषामेव युक्तिनां अनुसरणंचक्रु:। मध्यमकालंकारे तथा तत्पञ्जिकायां सौत्रान्तिकानां विषये एतदेवोल्लिखितमस्ति ते बुद्धवचनानां नेयार्थताया नीतार्थतानां च विभाजनं कुर्वन्ति। एवमदीर्य तत्र सौत्रान्तिका आचार्या: शुभगुप्तस्य मतानां खण्डनमपि कृतमस्ति।

संक्षेपतोऽस्माभिरेतदपि वक्तुं शक्यते यत् नागार्जुनात् पूर्ववर्तिन: सौत्रान्तिका आचार्या: सर्वबुद्धवचनानां नीतार्थमेव स्वीकुर्वन्ति। भद्रचर्या-प्रणिधानसूत्रं, षडायतनं, आदीनिसूत्राणि एव तदाधारभूतानि प्रमुखानि सूत्राणि सन्ति। महायान सूत्राणि ते बुद्धवचन स्वीकरणस्य पक्षे न आसन् । परवर्तिन: सौत्रान्तिका: अन्येषां निकायवादिनां समानं बुद्धवचनानां नेयनीतार्थतोपरि विचारं कुर्वन्त: दृग्पथमवतरन्ति । अस्यां प्रक्रियायां तेषां प्रमुखा युक्तय: का आसन्, अस्योल्लेखो नोपलब्धोऽस्ति। आचार्य-शुभगुप्तस्य धर्मकीर्त्यादे: युक्तय: एव प्रधानत्वेन प्रतीयन्ते। एतावताऽपि एवं प्रतीयते यत् नेयार्थनीतार्थविषयकचार्चाया: सौत्रान्तिकमते नाधिकं महत्त्वमस्ति, यथा योगाचार मते माध्यमिक मतेषु।

निष्कर्ष:—सौत्रान्तिक निकायस्यास्तित्वं तु तृतीय संगीतेरवसरे सम्राज: अशोकस्य काले विद्यमान आसीत्, किन्तु दार्शनिकप्रस्थानरूपे तस्य विकास: सम्भवत: ईशा-पूर्व प्रथम शतके सम्पन्नोऽभवत्।

निकायेन सह सौत्रान्तिक शब्दस्य प्रयोगस्तु सम्भवतस्तदाप्रारम्भोऽभूत्, यदा अन्य निकायानां तथा तन्मान्यतानां मध्ये विभाजनरेखा अधिकं सुस्पष्टाऽभवत्। सप्तानां अभिधर्म-ग्रन्थानां संग्रहः परवर्ती वर्तते।

अतः बुद्धवचनानां रूपे सौत्रान्तिकाः तेभ्यो मान्यतां न प्रदत्तवन्तः। सूत्रपिटकं विनयपिटकं च प्रमाणिकं बुद्धवचनं मत्वा सौत्रान्तिकाः स्वसिद्धान्तानां अन्य निकायेभ्यः पृथक् स्थापनां कृतवन्तः। तदारभ्य सौत्रान्तिक निकायस्य परम्परा प्रारम्भिता। एवं प्रतीयते यदन्ये यदा बुद्धवचनानां अभिधर्म पिटकरूपे संग्रहंचक्रुः, तथा बुद्धवचनरूपे स्वीकृतवन्तः, तदा प्रारम्भे सौत्रान्तिकैर्विरोधः कृतः स्यात्, किन्तु अन्यनिकायवन्तः तेषां विरोधं अस्वीकुर्वन्, तदाविवशीभूय तैः पृथक्-निकायः स्थापितः। इयं घटना द्वितीये बुद्धाब्दे घटिता स्यात् । सम्राज्यस्य अशोकस्य काले सर्वनिकायानां त्रिपिटकाः-अस्तित्वे आसन् । एतदर्थं अशोक-काले कथावत्थु-नाम्नि ग्रन्थे अन्यमतानां समालोचना संभवा स्यात्। अत एव निश्चितं भवति यदभिधर्मस्य बुद्धवचन सम्बन्धि विवादस्तथा सौत्रान्तिक निकायस्य गठनं तत्पूर्ववर्ती वर्तते। अयमेव विवादः अन्ततोगत्वा अन्यनिकायेभ्यः सौत्रान्तिक निकायस्य पृथग् भाव रूपे परिणतो जातः।

निकायार्थं सौत्रान्तिकं नाम अत्यन्तं सार्थकमस्ति। श्रवणमात्रेण तस्य विचार-सिद्धान्तयो स्थूलावबोधः संजायते । समये समये अन्य—नामान्यपि प्रयुक्तानि जातानि, यथा—कदापि हेतुवादिनः, कदापि उत्तरापथिकादयः। दार्ष्टान्तिकमपि तेषां प्रचलित नामास्ति। यशोमित्रः सौत्रान्तिकानां कृते 'दार्ष्टान्तिक विशेष, शब्दस्य प्रयोगं चकार। अस्य नैवं तात्पर्यं दार्ष्टान्तिक नाम्नः सौत्रान्तिकेषु कोऽपि सम्प्रदाय आसीत्, अपितु एवं कथनस्य विषये यशोमित्रस्यायं अभिप्राय आसीत यदिदं मतं केषांचिद् विशिष्टानां सौत्रान्तिकाचार्याणां वर्तते। यतोह्येते बुद्धवचनानां अभिप्रायं जनतामध्ये दृष्टान्तमाध्यमेन स्पष्टयन्तिस्म। अतोऽस्माद् विशेषता-कारणात् तेषां नाम 'दार्ष्टान्तिक' इति जातम्। एतदुचितमप्यासीत्। यतो हि भगवता बुद्धेनापि अधिकतरं दृष्टान्त द्वारा एव स्वाभिमतं प्रकाशितम्। एतद्विधिना जनाः अतिसरलतया तत्त्वावबोधं कुर्वन्ति। सौत्रान्तिकैरस्या एव बुद्धशैल्या अनुकरणं कृतम्। इयमेव शैली अग्रे बौद्धन्यायशास्त्रस्य विकासस्य आधारशिला जाता। बौद्धन्याय शास्त्रस्य विकासे सौत्रान्तिकानां योगदानं विद्वत्समक्षं सुस्पष्टमस्ति। दार्शनिक प्रस्थान रूपे तद्विकासः चतुर्थे पञ्चमे वा बुद्धाब्दे सम्पन्नमभवत्।

सारांशः—भगवतो बुद्धस्याविर्भावः एवं भूतपरिस्थितौ समभवत्, यदा मानवीय मूल्यं पतितमासीत् तथा सांस्कृतिक दृष्ट्या समाजः संकटापन्न आसीत्। बुद्धत्व

प्राप्त्यनन्तरं ४५ वर्षाणि यावत् सः ग्रामे-ग्रामे, नगरे-नगरे च चारिकां कृत्वा अनाथ-अनाश्वस्तदुःखैः परिपीडितजनान् स्वामृतोपदेशेन तृप्तान-आश्वस्तान् चकार। ८० वर्षात्मकावस्थायां जगतः एक मात्रं शरणः तथा जगतः एकः मात्रं हितैषी बुद्धः परिनिर्वाणमगच्छत्। तदनुयायिनः स्व-स्व सामर्थ्यानुसारं तदुपदेशानां संग्रहं चक्रुः, संरक्षणं चक्रुः, तथा देशे-विदेशे तद्विचाराणां प्रसारं प्रचारं च चक्रुः।

मानवकल्याणस्य यल्लक्ष्यं बुद्धस्य सम्मुखमासीत्, तत्पूर्तिमेव ते शताब्दीं यावत्-अकुर्वन्। एवमद्यापि स्वशक्तिमनुसृत्य सम्पादयन्ति। तस्यानुयायिषु महान्तो विद्वांसः, साधका अर्हताश्चाभवन् , यांश्च जनाः सूत्रधरं, विनयधरं, धर्मधरं तथा मातृकाधरमिति व्याहरन्तिस्म। कालक्रमे तदनुयायिनां सा परम्परा अनेक निकायेषु विभक्ता। तत्क्रमो सूत्रधराणां परम्परा प्रथमं सौत्रान्तिक निकायरूपे अग्रे च सौत्रान्तिक दर्शनप्रस्थान रूपे विकसिता जाता । अस्याः परम्परायाः प्रमुखाचार्येषु आचार्य कुमारलातः, आचार्य—भदन्तः, आचार्य दिङ्नागः, आचार्य शुभगुप्तादयः प्रमुखाः सन्ति । सौत्रान्तिक दर्शनस्य १० प्रमुखाः विशेषताः सन्ति।

यथा—१. क्षणभङ्गासिद्धिः, २. सूत्र प्रमाण्यम् ३. परमाणुवादः, ४. द्रव्यसत्त्व-प्रज्ञप्तिसत्वः, ५. ज्ञानस्य साकारता, ६. कार्यकारणयोभिन्नकालिकता, ७. प्रहाणः प्रतिपत्तिश्च, ८. ध्यानांगानां विशेषता, ९. प्रामाण्यादिसम्यग्ज्ञानम्, १०. बुद्धः, बोधिसत्त्वः, बुद्धकायश्चेति । अनेन प्रकारेण संक्षेपेण सौत्रान्तिक दर्शनस्य विमर्शोजातः।

✱

सहायक ग्रन्थ-सूची :

१. अट्ठसालिनी धम्मसंगणि-अट्ठकथा
२. अर्थविनिश्चय महायान सूत्र
३. अभिधर्मकोश भाष्य (आचार्यवसुबन्धु)
४. अभिधर्मकोश भाष्य-टीका (आचार्य यशोमित्र)
५. कथावत्थु अट्ठकथा (आचार्य बुद्धघोष)
६. प्रमाणवार्तिकम् (आचार्य धर्मकीर्ति:)
७. प्रमाणसमुच्चय (आचार्य दिङ्नाग)
८. बोधिचर्यावतार: (आचार्य शान्तिदेव)
९. मूलमाध्यमिक कारिका (आचार्य नागार्जुन)
१०. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि: (विंशतिका एवं त्रिंशिका आचार्य वसुबन्धु:)
११. सौत्रान्तिक दर्शनम् (प्रो० रामशंकर त्रिपाठी)
१२. बौद्धधर्म दर्शन (आचार्य नरेन्द्र देव)
१३. बौद्धदर्शन मीमांसा (आचार्य बलदेव उपाध्याय)
१४. बौद्धदर्शन प्रस्थान (प्रो० रामशंकर त्रिपाठी)
१५. पालि साहित्य का इतिहास (डॉ० भरतसिंह उपाध्याय)
१६. बौद्ध दर्शन और मार्क्सवाद (डॉ० रमेश कुमार द्विवेदी)
१७. बौद्ध धर्म दर्शन एवं धर्म निरपेक्षता (डॉ० रमेश कुमार द्विवेदी)
१८. तत्त्वसंग्रह: (आचार्य शान्तरक्षित)
१९. रत्नावली (आचार्य नागार्जुन)
२०. बौद्ध धर्म के इतिहास का विकास (डॉ० जी० सी० पाण्डेय)
२१. लङ्कावतार सूत्रम् ।

✱

बौद्धधर्म एवं सामाजिक सद्‌भाव

डॉ० हर प्रसाद दीक्षित

उपाचार्य एवं अध्यक्ष, पालि एवं थेरवाद विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२

ईसापूर्व छठीं शताब्दी मानव इतिहास में सर्वदा महत्त्वपूर्ण स्थान रखेगी, क्योंकि उस काल में भगवान बुद्ध का अवतरण इस जम्बूद्वीप में एक अत्यन्त विस्मयकारी एवं महत्वपूर्ण घटना थी। उनके समय का समाज एक प्रकार की विश्रंखलता से जूझ रहा था, रूढ़िवादी संस्कृति से जर्जर होकर सत्यान्वेषण से सम्बन्धित दर्शन और उसके अनुरूप आचार-विचार का परित्याग कर, कर्मकाण्ड की परम्पराओं से ग्रस्त हो गया था। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मन्त्र-तन्त्र एवं यज्ञों का आश्रय लिया जाने लगा था, गुण-कर्म आधारित वर्णव्यवस्था जन्मगत हो गयी थी तथा समाज में ऊँच-नीच की भावना पर आधारित विघटन प्रत्यक्ष रूप से व्याप्त हो गया था। जब समाज के श्रेष्ठ लोग भोग विलास में लिप्त हों, ऐसे समय में समस्त वैभव से युक्त राज-सुख तथा भोग विलास की सुविधाओं को छोड़कर उस प्रमादी समाज से अलग होकर तप-साधना में लीन होना असाधारण घटना थी और जो पूर्व से चली आ रही वैराग्य एवं अपरिग्रह की साधना लुप्त हो रही थी, उसे भगवान बुद्ध ने पुनः आत्मसात कर तथा अनुपम सम्बोधि का साक्षात्कार कर सम्पूर्ण मानव को एक सुखमय दिशा प्रदान की।

उस समय वर्णव्यवस्था एवं भेदभाव से युक्त समाज में कोई भी नैतिक बल प्रदान करने वाला मानव नहीं था, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच के विभेद को दूर करने के दृढ़ संकल्प से संकल्पित हो। ऐसे समय में समाज एक ऐसे महापुरुष की प्रतीक्षा कर रहा था, जो सम्पूर्ण सामाजिक बुराइयों एवं विषमता को दूर करके समाज में ऐक्य उत्पन्न कर सामाजिक सद्भाव जागृत करें। अन्ततः वे एक ऐसे समाज-सुधारक सिद्ध हुए कि उन्होंने जातिवाद[१] का प्रबल विरोध कर यह देशना दी कि मानव मात्र समान है सभी का जन्म-मरण समान होता है। केवल उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्ति ही श्रेष्ठ नहीं हो सकता। उन्होंने इस कुरीति को चुनौती देकर 'शील को वर्ण के स्थान

पर प्रतिष्ठित करने का' भरपूर प्रयास किया, क्योंकि वर्णव्यवस्था सामाजिक विभेद उत्पन्न करने की प्रमुख कारक है। उन्होंने वर्ण एवं गोत्र के विभेद को मिटाकर चारित्रिक विशुद्धि पर विशेष बल दिया।

बौद्ध संघ तथा श्रमणों में भी जाति का विभेद नहीं था, संघ की स्थापना का उद्देश्य भी इसी विभेद को समाप्त करना था; क्योंकि बौद्ध संघ में प्रविष्ट व्यक्ति की अपनी जाति, गोत्र, कुल, नाम आदि सभी कुछ मिट जाता था। इसी कारण से नापित पुत्र 'उपालि'[२] तथागत का प्रमुख शिष्य होकर श्रेष्ठ संघ का भी प्रधान भिक्षु हुआ, 'श्वपाक' नामक चाण्डाल भी प्रब्रजित होकर महान स्थविर बना था। शास्ता कहते थे, कि संध का अत्यन्त परिशुद्ध आदर्श है, कि इसमें जाति-भेद का कोई स्थान नहीं है। जिस प्रकार गंगा-यमुना-सरयू एवं अचिरवती आदि महानदियाँ अपना नाम भूलकर महासमुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र भगवान द्वारा उपदिष्ट विनय में दीक्षित होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर केवल शाक्य पुत्रीय श्रमण ही कहलाते है।[३] बौद्ध संघ में प्रव्रजित स्त्रियां भी उन श्रमणों के समान श्रद्धा की पात्र थीं तथा उनका स्थान भी पुरुषों के बराबर था। जैसा कि सोमा[४] भिक्षुणी का यह उद्गार दर्शाता है। पापी मार जब उसे साधना से च्युत करना चाहता है, तब वह भिक्षुणी कहती है, कि जिसका चित्त भलीभाँति समाहित है, तब वह स्त्री हो या पुरुष इसमें क्या अन्तर है, यदि उसने धर्म का साक्षात्कार कर ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तो ऐसे सम्यक् रूपेण धर्म जानने वाले मनुष्य के लिए निर्वाण मार्ग में स्त्रीत्व कैसे बाधक हो सकता है। 'राहुलोवाद[५] सुत्त' में भगवान श्रमण धर्म के पालन के सम्बन्ध में कहते हैं कि श्रमण को पाप कर्म से बिल्कुल विरत रहना चाहिये तथा जो श्रमण झूँठ बोलने में लज्जा नहीं करता, वह अत्यन्त पापी है और उसे औधे बर्तन के समान (जो रीता है) समझना चाहिये। अत: हे राहुल, तुम ऐसा अभ्यास करो कि मैं हँसी वगैरह में भी झूँठ नहीं बोलूँगा। दर्पण की उपमा देते हुए तथागत कहते हैं, कि जिस प्रकार दर्पण प्रत्यवेक्षण के लिए होता है, उसी प्रकार राहुल! तुम्हें कायिक, मानसिक एवं वाणी से कोई भी कर्म करने के पूर्व प्रत्यवेक्षण करना चाहिये तथा परिणामत: जो कर्म दु:खकारक है तथा आत्म-परहित में बाधक है उस कर्म को बिल्कुल नहीं करना चाहिये। क्योंकि अतीत में भी श्रमणों ने पुन: पुन: प्रत्यवेक्षण करके ही अपने कर्मों को परिशुद्ध रखा था तथा वर्तमान में भी ये श्रमण प्रत्यवेक्षण के आधार पर ही अपने कर्मों को परिशुद्ध रखते हैं।

जाति विभेद के सम्बन्ध में ही राजा अशोक से सम्बन्धित 'दिव्यावदान' में एक प्रसंग अत्यन्त प्रेरणास्पद है, कि जब सम्राट अशोक संघ को श्रेष्ठ मानते हुए सभी श्रमणों के चरण स्पर्श करता था, तो एक बार उसके 'यश' अमात्य ने यह कहकर रोका, कि संघ में सभी जाति के लोग प्रविष्ट हुए हैं और आप सबको प्रणाम करें यह उचित नहीं हैं। तो अशोक ने कोई उत्तर न देकर बकरों, भेढ़ों एवं प्राणियों के शिर मँगाकर बिक्री करवायी तथा खुद अमात्य को मुनुष्य का शिर बेचने को कहा, परिणाम स्वरूप अन्य जीवों के शिर की कीमत भी कुछ प्राप्त हुई, किन्तु मनुष्य के शिर को कोई विना मूल्य के भी लेने को तैयार नहीं हुआ। जब राजा ने पूछा कि लोग क्यों नहीं ले रहे हैं तो अमात्य ने कहा कि लोग घृणा करते हैं, राजा ने फिर कहा कि सिर्फ इसी शिर से या अन्य से भी, तो उसने जबाव दिया कि राजन! सभी मनुष्यों के शिरसे लोग घृणा करते हैं। तब राजा ने कहा कि यदिसभी मनुष्यों के शिर लेने में लोग एक जैसा घृणा करते हैं तो मैं सभी श्रमणों के चरण-स्पर्श करूँ, तो उसमें क्या बुरा है।[६] इस प्रकार बौद्धकाल में समाज के सभी मनुष्यों के प्रति राजा का समानभाव, सामाजिक सद्भाव का एक महत्वपूर्ण प्रेरक प्रसंग है, जब समाज का श्रेष्ठ व्यक्ति या राजा जातिगत विभेद को मिटाकर समाज में ऐक्य स्थापित करता है, तो स्वाभाविक है, कि प्रजा उसका अनुसरण करेगी और समरस समाज का निर्माण होगा।

श्रमणों के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'समचरिया समणो ति वुच्चति' अर्थात् इस लोक की सम्पूर्ण आसक्तियों को त्यागकर जो सभी प्राणियों के प्रति समता का व्यवहार करता है, वही श्रमण कहलाता है—

'वाहित पापो ति ब्राह्मणो, समचरिया समणो ति वुच्चति[७]।'

तथा जो श्रमण असत्य बोलता है एवं आचार-विचार परिशुद्ध नहीं रखता है, साथ ही जो भिक्षु के लिए विहित सम्पूर्ण आचारों का पालन करते हुए भी आसक्तिवान है, तो भी वह भिक्षु केवल मुण्डन कराकर साधुवेष धारण करने से श्रमण नहीं हो सकता है। जो श्रमण छोटे-बड़े सभी प्रकार के पापों का शमन कर देता है, वह पापों का शमन करके ही श्रमण कहलाने का अधिकारी होता है। इस प्रकार भगवान् द्वारा उपदिष्ट सभी धर्मवचन समाज को परिशुद्ध रखने एवं समाज में समता का वातावरण निर्माण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

'यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो ।
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति[८] ।।''

पालि निकायों से ज्ञात होता है, कि बौद्ध कालीन समाज में जहाँ ऊँच-नीच, धनी-निर्धन एवं जाति कुल, वंश गोत्र के आधार पर वैदिक समाज की तरह असमानता भी पायी जाती थी, उसी बौद्धकाल में समय-समय पर जन-समुदाय किसी विशिष्ट पर्वपर एकत्रित होकर आपस में अनेक प्रकार के मनोरंजक खेल खेलते हुए सामाजिक समानता का भी महत्व पर्याप्त रूपेण देते थे, दीघनिकाय[९] में उन विभिन्न मनोरंजक खेलों की विस्तृत चर्चा है। लोक में पर्व, उत्सव भी उस समय के समाज में एक विशिष्ट स्थान रखते थे, जिसमें 'कौमुदी महोत्सव' जैसे बड़े पर्व एक सप्ताह तक चलते थे। इस महोत्सव में समाज के सभी वर्ग के नर-नारी आपस में मिलते हुए आनन्दोल्लास पूर्वक एक दूसरे के साथ समान व्यवहार करते हुए सामाजिक कटुता मिटाने तथा समाज में समरस प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान करते थे। 'महापरिनिब्बान[१०] सुत्त' में अजातशत्रु द्वारा वज्जियों के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए उद्यत विचार को विफल करने हेतु भगवान आनन्द से सामाजिक एकता एवं समता के बारे में उपदेश देते हुए कहते हैं कि जब तक वज्जी लोग एकत्रित होकर एक साथ बैठक करेंगे, विहित कार्य करेंगे, बड़ों का सत्कार करना, कुलस्त्रियों की रक्षा करना आदि धर्म मिलकर पालन करते रहेंगे, तबतक उन्हें कोई भी पराजित नहीं कर सकता।

जब कुछ वैदिक ऋषि एवं ब्राह्मण समाज में विभेद उत्पन्न करने हेतु जातिभेद के महत्व को स्वीकार करते थे, तो भगवान् बुद्ध से जब इन प्रश्नों पर संवाद होता था और वे अपनी तार्किक बुद्धि से उनके मतों का पूर्णरूपेण खण्डन कर देते थे, तो अन्त में ब्राह्मण ऋषि भी अपने जाति कुल, वर्ण एवं संस्कार भूलकर बौद्ध शासन में प्रब्रजित हो सद्धर्म का प्रचार करने लगते थे। वासेट्ठ[११] सुत्त में भगवान कहते हैं कि मनुष्यों में भेद सिर्फ संज्ञा का है, जो जिस कर्म को करता है, वह वही कर्मकारक कहलाने लगता है। यथा—

''यो हि कोचि मनुस्सेसु, पुथु सिप्पेन जीवति ।
एवं वासेट्ठ जानाहि, सिप्पिको सो न ब्राह्मणो'' ।।

इसी प्रकार 'आश्वलायन ब्राह्मण'[१२] जब कहता है, कि ब्राह्मण वर्ण ही श्रेष्ठ है और अन्य वर्ण हीन हैं, ब्राह्मण को ही मोक्ष मिलता है, अन्य वर्ण को नहीं, तो

भगवान कहते हैं, कि किसी भी वर्ण का मनुष्य यदि पाप करेगा, तो उसे उसका प्रायश्चित करना पड़ेगा तथा किसी भी वर्ण का मनुष्य पुण्य करेगा, तो वह मोक्ष का अधिकारी होगा।

बौद्ध विचार धाराओं में चित्त की शान्ति ही सर्वोच्च जीवन मूल्य है, इसमें चित्त को परिशुद्ध रखने के लिए प्रज्ञा एवं शील का सामञ्जस्य अति आवश्यक है। भगवान बुद्ध ने शील एवं आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों को ही अपने विचारों में मुख्य केन्द्र मानकर प्रचार किया, जो समाज के लिए उचित एवं हितकर था। किन्तु जो मनुष्य दुराचारी होता है वह अपना ही अहित करता है—

यो पाणमतिपातेति, मुसावादञ्च भासति ।
लोके अदिन्नं आदियति, परदारञ्च गच्छति ।।
सुरामेरयपानं च यो नरो अनुभुञ्जति ।
इधे व मेसो लोकस्मिं मूलं खनति अन्तनो ।।[१३]

अविद्या एवं तृष्णा से आवृत्त होने के कारण ही प्राणी पाप कर्म करता है और इसी अविद्या से ही सांसारिक जीवन में पुनः-पुनः फँसकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता है, भगवान बुद्ध कर्म के सम्बन्ध में कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणी जरा, व्याधि, मरणधर्मी है कर्म ही उसका स्वकीय है, कर्म ही दायाद है, कर्म योनि अर्थात कर्म से ही जन्म हुआ, कर्म ही उसका वन्धु एवं प्रतिशरण (रक्षक) है[१४]। प्राणी कर्म से आवद्ध है कर्म ही सुख-दुःख का करण है[१५]। मनुष्य अपने गोत्र या धन से परिशुद्ध नहीं होता, बल्कि कर्म से ही परिशुद्ध होता है।

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं ।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा ।।[१६]

आचरण की परिशुद्धता के प्रसंग में मज्झिम निकाय के 'सालेय्यक सूत्र' में जब शालाग्रामवासी ब्राह्मण भगवान से पूछते हैं कि हे गौतम आप बतायें कि मरने के बाद कुछ प्राणी विघ्नदायक, कष्टदायक एवं नरक योनियों में उत्पन्न होते हैं, तथा किस कारण से सुख-प्रद एवं स्वर्ग तुल्य योनियों में उत्पन्न होते हैं तो भगवान कहते हैं कि धर्म-अधर्माचरण से ही प्राणी कष्टप्रद एवं सुगति प्राप्त करने वाला होता है तथा इतना ही नहीं, वह धर्माचरण कर्ता यथेच्छ लोक में भी उत्पन्न हो सकता है[१७]। इस प्रकार बुद्ध ने आचरण की परिशुद्धता को समाज में प्रस्थापित कर मनुष्य के लिए ऐहिक एवं पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति कराने का

प्रयास किया जो सिद्धान्त सामाजिक सद्भाव का नियामक बनकर विकसित एवं परिपुष्ट हुआ।

भगवान बुद्ध ने अपने समय में समाज को नवीन सार्थक दिशा प्रदान कर त्याग, अनुशासन एवं शान्ति के मार्ग का पाठ पढ़ाया जिससे समाज में एक दूसरे के प्रति वैर, क्रोध, द्वेष आदि कुत्सित धर्म त्याज्य हुए, तथा सामाजिक सद्भाव विकसित हुआ क्योंकि बौद्धधर्म के सर्वोत्तम आदर्शों में सद्धर्म, सदाचार, दया, करुणा, अहिंसा, सत्य परोपकार इत्यादि सिद्धान्त मुख्य है मैत्री पारमिता में कहा गया है, कि शत्रु एवं मित्र के प्रति समान भाव से मैत्री करना चाहिये।[१८] जो प्राणियों को कष्ट दिये विना संसार में विचरण करता है परनिन्दा से भय खाता है तथा किसी भी प्रकार का पापकर्म नहीं करता, वही व्यक्ति समाज में प्रशंसनीय एवं सज्जन कहलाता है—

यो पाणभूतानि अहेठयं चरं, परूपवादा न करोति पापं ।
भीरुं पसंसन्ति हित तत्थ सूरं, भया हि सन्तो न करोन्ति पापं[१९] ।।

सज्जन एवं ज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है, कि मैं किसी के बराबर हूँ, ऊँचा हूँ, या किसी से नीचा हूँ ऐसे विचारो एवं विवादो से दूर रहकर इनसे विपरीत तीनों अवस्थाओं में जो अपने चित्त को निगृहीत रखता है वही समाज में श्रेष्ठ कहलाता है।

"समो विसेसी उद वा निहीनो, यो नत्रती सो विवदेथ तेन[२०]।"

क्योंकि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो आहार, निद्रा, भय एवं कामभोग के अतिरिक्त एक विशेष विवेक शक्ति रखता है[२१]।

भगवान बुद्ध श्रमणों को समाजोपकारक धर्म अपनाने के लिए क्रोध, म्रक्ष, ईर्ष्या, शठता, पापेच्छा एवं मिथ्या दृष्टि ये छः प्रकार के विवाद कारक धर्मो से पृथक् रहने के लिए शिक्षा प्रदान करते थे तथा उन्होंने इन पापधर्मो के शमन के लिए सात विवाद शामक उपायों, यथा—सम्मुख विनय, स्मृति विनय, अमूढ़ विनय, प्रतिज्ञाकराना, यद्भूयसिका, तत्पापीयसिका एवं तृणावस्तारक का भी उपदेश दिया था।[२२] जिससे समाज उनका अनुकरण करे। इस लिए प्राणी के लिए संसार से विषमता दूरकर सभी के साथ समान आचरण करना ही श्रेयकर है, क्योंकि मनुष्य का जीवन

अत्यल्प है[२३]। संसार में सुख प्राप्ति तो बड़े प्रयत्न से होती है, किन्तु दु:ख तो विना प्रयत्न के सुलभ है तथा उसी दु:ख से निकलने के लिए मुक्ति के लिए मनुष्य को सर्वदा दृढ़ रहना चाहिये। यथा—

"कथंचिल्लभ्यते सौख्यं दुःखं स्थितमयत्नतः ।
दुःखेनैव च निःसारः चेतस्तस्माद् दृढ़ीभव[२४] ।।"

जब मनुष्य अत्यधिक सुख की कामना करता है, तो उसका सुख से विमोहित मन जहाँ जहाँ आसक्त होता है, वहीं-वहीं उसकी आसक्ति सहस्रगणित दु:ख होकर उपस्थित होती है। यथा—

"यत्र यत्र रतिं याति, मनः सुखविमोहितम् ।
तत्तत्सहस्रगुणितं दुःखं भूत्वोपतिष्ठति[२५] ।।

संक्षेप में प्रस्तुत प्रसंग में हम यह कहना चाहते हैं कि बौद्धधर्म में बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा सामाजिक सद्भाव का ही संबर्द्धन करती है, जो भी मानव तथागत की अष्टाङ्ग मार्ग जैसी अमृतवाणी को आत्मसात करेगा, या इस मध्यममार्ग पर चलने का प्रयत्न करेगा, वह प्राणी आत्महित की अपेक्षा परहित-सुख की कामना में ही अपना जीवन समर्पित करेगा। ऐसी शिक्षाओं से एक स्वस्थ समाज का विकास होगा, जहाँ "वसुधैव कुटुम्बक" की भावना फलीभूत होगी। बुद्ध बुद्धिवादी व्यक्ति थे उन्होंने भाग्य और ईश्वर पर विश्वास रखने की जगह पर युक्ति और तर्क का प्रबल प्रख्यापन किया, मानवता के प्रति लोगों के हृदय में आदर का भाव बढ़ाया तथा मानव होना देवताओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बतलाया, क्योंकि निर्वाण की प्राप्ति मनुष्यों के यत्नों से ही साध्य है, देवलोग निर्वाण से रहित हैं। इस प्रकार सम्यक सम्बुद्ध की सम्पूर्ण कायिक, वाचिक एवं मानसिक साधना का सुपरिणाम यही था, कि संसार के सभी सत्व सुखी एवं कल्याण मार्ग में अग्रसर हों।

"सुखिनो वा खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता[२६]"

*

सन्दर्भ-सूची :

१. वसल सुत्त, सुत्तनिपात ।
२. विनय पिटक ।
३. उदान, ५, उपोसथसुत्त ।
४. संयुत्तनिकाय, भिक्खुनी संयुत्त ।
५. मज्झिम निकाय, राहुलोवाद सुत्त ।
६. दिव्यावदान ।
७. धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो ।
८. धम्मपद, धम्मट्ठवग्गो ।
९. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त ।
१०. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त ।
११. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त ।
१२. म० नि०, आश्वलायनसुत्त ।
१३. धम्मपद, मलवग्गो ।
१४. अंगुत्तर निकाय, पञ्चकनिपात ।
१५. सुत्तनि०, वा० सु० ।
१६. वि० म०, सीलनिर्देश ।
१७. म० नि०, सालेय्यक सूत्र ।
१८. निदान कथा—पृ० ६१ ।
१९. सं० नि० ।, पृ० ३८
२०. सं०नि०, देवता संयुक्त, पृ० २१
२१. म० नि०, १-१
२२. म० नि०, ३, सामगाम सुत्त ।
२३. सु० नि०, गुहट्ठकसुत्त ।
२४. बोधिचर्यावतार, पृष्ठ १२
२५. बोधिचर्यावतार, अष्टम १८
२६. विसुद्धिमग्ग, ब्रह्मविहारनिर्देश ।

*

जैन अर्द्धमागधी आगमों में गीत कला

डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
उपाचार्य-प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

मानवीय जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं व्यक्तित्व को समुज्ज्वल बनाने वाले तत्वों में गीतकला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीत शब्दातीत है। यह कला आत्मा की विभूति और ऐश्वर्य प्रतिष्ठापन सामर्थ्य से संबलित होती है। इसकी भाषा शाश्वत और सार्वभौम होती है। भौगोलिक सीमाओं के बन्ध से परे रहती है और प्राणियों को कौन कहे वनस्पतियों को भी गीतकला हर्षोत्फुल्ल एवं रोमांचित करती है। सुप्रसिद्ध संगीताचार्य पं० ओंकारनाथ ठाकुर को सर जगदीशचन्द्र वसु ने अपनी प्रयोगशाला में बुलाकर उनसे भैरवी राग का गान कराया तो वनस्पतियों में एक नयी चेतना का प्रत्यक्ष अनुभव किया गया था।

गीत की महत्ता—प्राचीन काल से ही कवि, मनीषि, गीतकार, योगीश्वर आदि धृतिमान् पुरुषों ने गीत की महत्ता को स्वीकार किया है। इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी जाती है—

सामवेदादिदं गीतं सञ्जग्राह पितामहः[1]

गीत से सभी देवता प्रसन्न होते हैं। भवानीशंकर एवं श्रीकृष्ण को गीत प्रिय है—

गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः[2]
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशंगतः ।।

न केलव देवगण अपितु बालक, पशु-पक्षी आदि सबके सब प्रसन्न होते हैं—

अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यङ्किकागतः ।
रुदन् गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ।।
वनेचरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः ।
लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम् ।।

तस्य गीतस्य महात्म्यं के प्रशंसितुमीशते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम् ।।[३]

याज्ञवलक्य स्मृति में गीत या संगीत को मोक्ष साधक माना गया है। संगीत विद्या का ज्ञाता सहज मोक्ष मार्ग को साध लेता है—

वीणावादन-तत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ।।[४]

भगवान् भी वही विराजते हैं, जहाँ पर उनके भक्त गीत गाते हैं। स्वयं भगवान् की उक्ति है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।।[५]

नाट्यशास्त्र के अनुसार गीत की उत्पत्ति सामवेद से मानी गई है—

सामभ्यो गीतमेव च (ना. शा. १.१७)

संगीतराज में विस्तार से संगीत की महत्ता वर्णित है। संगीत से सारे कषाय-कल्मष समाप्त हो जाते हैं, इन्द्रियां विषयों से परावर्तित हो जाती हैं। लोकातीत चमत्कार की उत्पत्ति होती है। संगीत सबकी विश्रान्तभूमि है—

जीवातुर्गदिनां प्रियाविरहिणां ध्येयं परं योगिनां,
दीनानामतिदुःखिनाममपि नृणां विश्रान्तिभूमिः परा ।
निःस्वानां परशेवधिर्नवनवो भोगोत्करो भोगिनां ।
गीतं किंचिदमेयरूपमहिमाप्राग्भारमुजृम्भते
गीतमेव वशीकारकार्मणं वशिनामपि ।
त्यक्तान्यकार्यसम्भारा मुनयो यदुपासते ।।
स्वर्गगतं पुनरानेतुं शक्तिर्यस्य जगत्रये ।
अगोचरः कविगिरां तद् गीतं केन वर्ण्यते ।।[६]

इस प्रकार भारतीय परम्परा में अनेक स्थलों पर गीतविद्या के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है।

प्रस्तुत शोधनिबन्ध में गीत की व्युत्पत्ति, स्वरूप आगम साहित्य में गीत तथा गीत से सम्बद्ध विषयों—स्वर, स्वरस्थान, ग्रामं, मूर्च्छना, तान आदि का तुलनात्मक विवेचन विन्यस्त है।

गीत व्युत्पत्ति

स्वादिगणीय गै-शब्दे धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'गीत' शब्द निष्पन्न होता है। कोशकारों ने 'गीतम्' या गीत शब्द के निम्नलिखित अर्थों की ओर निर्देश किया है—

१. गाया हुआ, अलापा हुआ।

२. घोषणा किया हुआ।

३. गाना, भजन।[७]

मोनीयर विलियम्स के अनुसार 'गीत' शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं—

1. Sung, chanted, praised in songs,
2. Singing, song,
3. a song, sacred song or poem[8]

गीत की परिभाषा

गीत नादात्मक होता है, स्वर मूर्च्छनाओं से सम्पन्न होता है। इसकी अनेक परिभाषाएं आचार्यों ने दी है—

१. धातुमात्रासमायुक्तं गीतमित्युच्यते बुधैः ।[९]
तच्च नादात्मको धातुर्मात्रारक्षरसञ्चयः ।।

अर्थात् धातु और मात्रा से युक्त गीत है, ऐसा विद्वानों ने कहा है। धातु नादात्मक होता है और मात्रा अक्षर सञ्चय को कहते हैं।

अर्द्धमागधी आगम साहित्य में गीत

अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य देनों प्रकार के आगमों में 'गीत' शब्द एवं उससे सम्बद्ध अन्य शब्द जैसे—गीतस्थान, गीतरति, गीतकार आदि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। प्रथम एवं सबसे प्राचीन आगम आचारांग में गीत शब्द का प्रयोग मिलता है—

आघाय णट्ट गीताइं दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ।।[१०]

सूत्रकृतांग में एक स्थल पर 'गीतशब्द' प्रयुक्त है :

महयाहय-णट्ट-गीय-वाइय ।[११]

भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, प्रश्नव्याकरण, अन्तकृद्दशांग एवं विपाकसूत्र में अनेक स्थलों पर कला के अर्थ में गीत शब्द का प्रयोग हुआ है।

अंगबाह्य सूत्रों में भी अनेक स्थलों पर गीत शब्द का प्रयोग मिलता है।

स्वर की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

व्युत्पत्ति—

१. भ्वादिगणीय 'स्वृ शब्दोपतापयो:' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर स्वरशब्द बनता है। 'स्वरतीति स्वर:' जो शब्दायित होता है, ध्वनित होता है, वह स्वर है। शब्द, कोलाहल ध्वनि, आवाज, संगीत से सुर, लय, सात की संख्या, अक्षर, स्वराघात आदि स्वर शब्द के अर्थ हैं।

२. स्व उपपद पूर्वक 'राजृ-दीप्तौ' भ्वादिगणीय धातु से भी स्वर शब्द की निष्पत्ति मानी गई है। मतंगमुनि कृत 'बृहद्देशी' नामक संगीत ग्रंथ में ऐसा निर्देश मिलता है—

राजृदीप्ताविति धातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च ।[१२]
स्वयं यो राजते यस्मात् तस्मादेष स्वरः स्मृतः ।।

अर्थात् 'स्व' उपपदपूर्वक 'राजृदीप्तौ' धातु से स्वर शब्द निष्पन्न होता है। वह स्वयमेव उच्चरित होता है, इसलिए इसे स्वर कहते हैं।

३. ई. सन् ३०० वर्ष पूर्व के आचार्य पतञ्जलि ने भी स्वर को पारिभाषित किया है—

'स्वयं' राजन्ते इति स्वराः[१३]

गीतशास्त्र में सात स्वरों के अर्थ में 'स्वर' शब्द का प्रयोग होता है। गीताचार्यों ने इसे विभिन्न रूप से पारिभाषित किया है। आचार्य कोहल ने रागजनक ध्वनि को स्वर कहा है 'ध्वनिरक्त: स्वर: स्मृत:'[१४] 'रागजनकोध्वनि: स्वर इति'[१५] अर्थात् रागजनक ध्वनि ही स्वर है। वह संगीतोपयोगी ध्वनि जो स्थिर गूंजदार, स्पष्ट और श्रुतिमधुर हो, स्वर कहलाती है।

नान्यदेव के अनुसार—'स्वयमात्मानं रञ्जयति'[१६] इति अर्थात् स्वयं आत्मरंजक होने से स्वर है।

पं० शार्ङ्गदेव ने स्वर की परिभाषा सारगर्भित रूप से दी है—

श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर स्वर उच्यते ।।[१७]

अर्थात् श्रुतियों के बीच का अंतर, जो स्निग्ध हो तथा अनुरणन सहित हो और सुनने वालों को प्रसन्न करे, उसे स्वर कहते हैं।

'संगीत समयसार' में स्वर के रञ्जकत्व गुण को उट्टंकित किया गया है— रागरंजको ध्वनि: स्वर:।[१८] संगीतसारसंग्रहकार ने भी स्वर को हृदयरंजक कहा है— स स्वरो य: श्रुतिस्थाने स्फुरन्हृदयरंजक: ।[१९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो हृदयरंजक, मनोवेधक, श्रुतिमधुर हो उसे स्वर कहते हैं। जिस ध्वनि से चित्त की प्रसन्नता और प्रफुल्लता हो उसे स्वर कहते हैं। स्वर प्रकाशमान, इष्ट, आह्लादक अनुरणनयुक्त, स्पष्ट, स्निग्ध और रंजक ध्वनि है।

आगम साहित्य में स्वर

आगम साहित्य में स्वरशब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है लेकिन इस शब्द की सैद्धान्तिक व्याख्या नहीं मिलती है। स्थानांग एवं अनुयोग द्वार में 'सत्तसरा' (सप्तसरा) सामासिक पद का प्रयोग मिलता है—

सत्तसरापण्णत्ता ।[२०]

सत्तसरापण्णत्ता ।[२१]

स्थानांग में 'सत्तसरसीहरं[२२]' शब्द का प्रयोग है। स्थानांग के सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार आचार्य महाप्रज्ञ जी ने संगीतरत्नाकर के आधार पर स्वर को पारिभाषित किया है—'जो ध्वनि अपनी अपनी श्रुतियों के अनुसार मर्यादित अन्तरों पर स्थित हो, जो स्निग्ध हो, जिसमें मर्यादित कम्पन हो और अनायास ही श्रोताओं को आकृष्ट कर लेती हो, उसे स्वर कहते हैं। स्वर की चार अवस्थाएँ है'—

१. स्थानभेद (Pitch)
२. रूप भेद या परिणाम भेद (Intensity)
३. जातिभेद (Quality)
४. स्थिति (Duration)[२३]

सात स्वर

आगमसाहित्य एवं संगीताचार्यों ने स्वर के सात भेद बताएं हैं। स्थानांग एवं अनुयोगद्वार की एक समरूप गाथा में सातों स्वरों का नाम निर्देश है—

सज्जे रिसभे गंधारे
मज्झिमे पंचमे सरे।
धेवए चेव नेसाए,
सरा सत्त वियाहिया ।।[२४]

अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद आदि सात स्वर कहे गये हैं। इनकी ज्ञेय संज्ञाएं हैं—सा रे ग म प ध नि । इनमें षड्ज और पंचम अचल स्वर हैं, शेष के दो-दो रूप हैं—शुद्ध और विकृत। ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत और निषाद शुद्ध और विकृत दोनों हैं। इस प्रकार शुद्ध और विकृत मिलाकर स्वरों की संख्या १२ हो जाती है।

षड्ज

यह मूल स्वर है। नासा, कण्ठ, छाती, तालु, जिह्वा और दन्त इन छः स्थानों में उत्पन्न होने वाले स्वर को षड्ज कहते हैं। इसका संबंध सप्तक (सात स्वर) के शेष छः स्वर से बराबर बना रहता है। इसको एक दृष्टि से छः स्वरों का जनक और छः स्वरों से जन्य भी कहा जाता है। जनक इसलिए कहा जाता है कि किसी ध्वनि के षड्ज के रूप में स्थिर किए जाने पर ही शेष स्वरों की कल्पना की जा सकती है। जन्य इसलिए कि अन्य स्वरों के विशिष्ट संबंध के कारण ही वह षड्ज कहलाने योग्य होता है। षड्ज अथवा स्थायी स्वर की परिकल्पना अन्तराल (Vacuam) में नहीं की जा सकती। रिषभ, गान्धार आदि स्वर नहीं हो तो षड्ज की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

ऋषभ (रिषभ)

'ऋषी गतौ' धातु से उणादिसूत्र 'ऋषिवृषिभ्यां कित्[२५] से अभच् (अभ) प्रत्यय होकर ऋषभ शब्द बना है। ऋषति वलीवर्द-कृत्स्वरसादृश्यं गच्छति इति अर्थात् वृषभ (बैल) के स्वर समान जिसका स्वर हो उसे ऋषभ कहते हैं। इसके उत्पत्ति के विषय में संगीतदामोदर की पंक्ति है—

नाभिमूलाद्यदावर्ण उत्थितः कुरुते ध्वनिम् ।[२६]
वृषभस्येव निर्याति हेलया ऋषभः स्मृतः ।।

नाभि से उठा हुआ वायु कंठ और शिर से आहत होकर वृषभ की तरह गर्जन करता है, उसे ऋषभ कहा जाता है।

गान्धार

नाभि से उठा हुआ कण्ठ और शिर से आहत होकर व्यक्त होता है और इसमें एक विशेष प्रकार का गन्ध होता है, उसे गान्धार कहते हैं। यह भैरवराग का पुत्र है। इसके गान का समय प्रात:काल है—

प्रत्यूषोऽस्यगानसमयः ।[२७]

तत्त्वार्थचिन्तामणि में इसके स्वरूप के बारे में एक प्राचीन श्लोक उधृत है—

जटां दधानः कृतभूमिभूषणः काषायवासास्तनुदेहयष्टिः[२८]
संयोगपट्टःकृतनेत्रमुद्रो गान्धारराग: कथित तपस्वीति ।।

अर्थात् जटाधारण किए विभूति को भूषण बनाये हुए कषायवस्त्रधारी तनुशरीरवाला, सिले हुए वस्त्र को धारण कर आंखों को मुद्रित कर जो राग गाया जाता है उसे गान्धार राग कहते हैं।

मध्यम

मध्य शब्द से तद्धित सूत्र 'मध्यान्म:'[२९] से 'म' प्रत्यय होकर मध्यम बना है। 'मध्ये भव;' 'मध्यम:' अर्थात् जो मध्य (नाभि) में उत्पन्न होता है उसको मध्यम स्वर कहते हैं। नाभि से उठा हुआ, वायु वक्ष और हृदय में आहत होकर फिर नाभि में जाता है, इसलिए इसे मध्यम कहते हैं।

पंचम

जो पांच स्थानों से उत्पन्न होता है, पंचम स्वर कहते हैं। पंच शब्द से मट् (म) प्रत्यय होकर पंचम शब्द बनता है। एक प्रसिद्ध श्लोक है—

वायुः समुद्गतोनाभेरुरोहृत्कण्ठमूर्द्धसु ।
विचरन् पंचमस्थान प्राप्त्यापंचम उच्यते ।।[३०]

अर्थात् नाभि से उठा हुआ वायु, हृदय, कण्ठ और सिर से आहत होकर व्यक्त होता है, उसे पंचम स्वर कहते हैं। एक अन्य श्लोक में इसे पांच शारीरिक पवनों के समवाय से उत्पन्न माना गया है—

प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यान एव च ।
एतेषां समवायेन जायते पंचमो स्वरः ।।[३१]

अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान पवनों के समवाय से पंचम स्वर की उत्पत्ति होती है। यह रुचिर एवं मनोरम होता है।

धैवत

सप्तक में यह छठा स्वर है। यह पूर्वोत्थित स्वरों का अनुसंधान करता है, इसलिए इसे धैवत कहते हैं। नारदीय शिक्षा के अनुसार यह ललाट से उत्पन्न होता है—ललाटाद्धैवतं विद्यात् ।[३२]

निषाद

नि उपसर्ग पूर्वक 'षद्लृ' 'विशरणगत्यावसादनेषु' धातु से 'धञ्' प्रत्यय करने पर निषाद शब्द निष्पन्न होता है। 'निसीदति अस्मिन्' अर्थात् जिसमें मन निवास करें। जिसमें सातों स्वर रहते हैं उसको निषाद कहते हैं।

स्वरस्थान

स्थानांग सूत्र एवं अनुयोगद्वार सूत्र में सात स्वरों के निर्देश के बाद सात स्थानों का भी वर्णन है। यथा—

एएसिं ण सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पण्णत्ता ।[३३]

स्वरस्थान

स्वरों की उत्पत्ति में जो स्थान सहायक होता है उसे स्वरस्थान कहते हैं। कंठ के ऊपर का वह भाग, जिससे स्वर की उत्पत्ति होती है, उसे स्वरस्थान कहते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने स्थानांग के हिन्दी टिप्पणी में लिखा है—'स्वर के उपकारी-विशेषता प्रदान करने वाले स्थान को स्वरस्थान कहा जाता है। षड्ज स्वर का स्थान जिह्वाग्र है। यद्यपि उसकी उत्पत्ति में दूसरे स्थान भी व्यापृत होते हैं और जिह्वाग्र भी दूसरे स्वरों की उत्पत्ति में व्यापृत होता है, फिर भी जिस स्वर की उत्पत्ति में जिस स्थान का व्यापार प्रधान होता है, उसे उसी स्वर का स्थान कहा जाता है।[३४] तात्पर्य है कि जिस स्थान से प्रमुखतया जो स्वर उत्पन्न होता है, उसी स्थान को उसी स्वर का स्थान कहते हैं।

स्वरस्थानों की संख्या

स्थानांग और अनुयोगद्वार में सात स्वरों के सात स्थानों का निर्देश है—

सज्जं तु अग्गजिब्भाए उरेणरिसभंसरं ।
कंठुग्गतेण गंधारं मज्झजिब्भाए मज्झिमं ।।
णासाए पंचमं बूया दंतोट्ठेण य धेवतं ।
मुद्धाणेण य णेसादं सरट्ठाणा वियाहिता ।।[३५]

अर्थात् जिह्वाग्र भाग से षड्ज स्वर, वक्षःस्थल से रिषभ, कंठ से गांधार, जिह्वा के मध्यभाग से मध्यम, नासिका से पंचम, दंतोष्ठ के संयोग से धैवत तथा निषाद का मूर्धा से उत्पत्ति होती है इसलिए जिह्वाग्रादि को सात स्वर स्थान कहा जाता है।

नारदीय शिक्षा[३६] में और आगमिक परम्परा में मतभिन्नता दृष्टिगत होती है। निम्नलिखित रूप से अन्तर को समझा जा सकता है—

स्वरनाम	स्वरस्थान	
	स्थानांग एवं अनुयोगद्वार	नारदीय शिक्षा
षड्ज	जिह्वाग्र	कण्ठ
ऋषभ	वक्षःस्थल	शिर

गान्धार	कण्ठ	अनुनासिका
मध्यम	जिह्वा का मध्यभाग	उर (वक्षः स्थल)
पंचम	नासिका	उर, शिर और कण्ठ
धैवत	दंतोष्ठ	ललाट
निषाद	मूर्धा	सर्वसन्धि स्थान

स्वर के अन्य भेद

आगमकार ने स्वरों की उत्पत्ति के आधार पर दो भेद—१. जीवनिश्रित एवं अजीव निश्रित के रूप में किया है।

१. जीव निश्रित

मयूरादि जीव बोलते हैं उन्हें जीव निश्रित कहा जाता है। मयूर षड्ज स्वर में बोलता है, कुक्कुट-ऋषभ, हंस-गांधार, गवेलक (भेड़) में यम स्वर, कोयल-पंचम, क्रौच और सारस-धैवत और हाथी निषाद स्वर में बोलता है।[३७]

२. अजीव निश्रित

मृदंगादि अजीव वाद्ययंत्रों से उत्पन्न होने वाले स्वर अजीवनिश्रित स्वर कहलाते हैं। मृदंग-षड्ज, गोमुखी (नरसिंहा)-ऋषभ, शंख-गान्धर, झल्लरी (झांक) मध्यम, चार चरणों पर प्रतिष्ठित गोधिका-पंचम, ढोल-धैवत तथा महाभेरी से निषाद स्वर निकलता है।[३५]

सात स्वरों के स्वर-लक्षणफल

आगमकार ने स्वर-विचारणा अत्यन्त सूक्ष्मता से की है। स्वरों के आधार पर पुरुष का लक्षण बताया है। अमुक स्वर के गान में निपुण पुरुष कैसा होगा—इसका उल्लेख स्थानांग एवं अनुयोगद्वार दोनों स्थलों पर किया गया है। दोनों स्थलों पर प्रायः एक ही तरह की गाथाएं उधृत हैं।

१. षड्ज स्वर वाला मनुष्य आजीविका प्राप्त करता है, उसका प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता है। वह गोधन, मित्र एवं पुत्रादि से सम्पन्न होता है वह स्त्रियों का प्रिय भी होता है।[३९]

२. ऋषभ स्वर वाले व्यक्ति को ऐश्वर्य, सेनापतित्व, धन, वस्त्र, गंध, आभूषण, स्त्री, शयन और आसन प्राप्त होते हैं।

३. गान्धार स्वर वाले व्यक्ति गाने में कुशल, श्रेष्ठ जीविका वाले, कला में निपुण, कवि, प्राज्ञ और विभिन्न शास्त्रों के पारगामी होते हैं।

४. मध्यम स्वर वाले व्यक्ति सुख से जीते हैं, खाते-पीते हैं और दान देते हैं।

५. पंचम स्वर वाले व्यक्ति राजा, शूर, संग्रहकर्त्ता और अनेक गुणों के नायक होते हैं।

६. धैवत स्वर वाला व्यक्ति कलहप्रिय, पक्षियों एवं पशुओं—हिरणों, सुअरों तथा मछलियों को मारने वाला होता है।

७. निषाद स्वर वाले व्यक्ति चाण्डाल, फांसी देने वाले, मुट्ठीबाज विभिन्न पापकर्म करने वाले, गोघातक और चोर होते है।[४०]

ग्राम

'ग्रसु अदने' धातु से 'ग्रसेरा च[४१]' से मन् प्रत्यय एवं अ - आ होकर ग्राम शब्द बनता है, जो स्वर, वस्ती, समूह आदि का वाचक है। 'ग्रामः स्वरे संवसथे वृन्दे शब्दादिपूर्वके'।[४२]

प्रस्तुत संदर्भ में स्वरों के समूह ग्राम है। ग्रामः स्वरसमूहस्यात्मूर्च्छनादेः समाश्रयः।[४३]

अर्थात् ग्राम स्वरों का वह समूह है, जो मूर्च्छनादि का आधार है।

मुनि मतङ्ग ने 'ग्राम' को पारिभाषित किया है—

समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसंयुतौ
यथा कुटुम्बिनः सर्वः एकीभूत्वा वसन्ति हि ।
सर्वलोकेषु स ग्रामो यत्र नित्यं व्यवस्थितः ।।[४५]

ग्राम मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम अलंकार आदि का आश्रय होता है।

ग्राम की संख्या

प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में भरत के नाट्यशास्त्र में दो ग्रामों का उल्लेख है—षड्ज और मध्यम ग्राम । संगीतपारिजात में तीन ग्रामों का निर्देश है—षड्ज, मध्यम और गान्धार-अथ ग्रामास्त्रयः प्रोक्ताः स्वरसन्दोहरूपिणः।[४५] संगीताचार्यों का अभिमत है कि प्रथम दो ग्राम ही मृत्युलोक में हैं। गान्धार ग्राम देवलोक (स्वर्ग) में विद्यमान है। चतुर्दण्डिप्रकाशिका के अनुसार—

ग्रामेष्वेतेषु गान्धारग्रामो नास्ति महीतले ।
स्वर्गलोके वर्ततेऽसौ सर्वेषामेव सम्मतम् ।।[४६]

अर्थात् इन तीन ग्रामों में से गान्धार ग्राम इस पृथ्वी पर नहीं है। सभी यह मानते हैं कि गान्धार ग्राम स्वर्ग लोक में विद्यमान है। आगमकार ने तीन ग्रामों को निर्देश किया है—एतेसि णं सत्तण्हं सराणं तओ गामा पण्णत्ता, तं जहा, सज्जगामे मज्झिमगामे गंधारगामे।[४७]

अर्थात् सात स्वरों के तीन ग्राम होते हैं—१. षड्जग्राम, मध्यम ग्राम और गान्धार ग्राम।

ग्रामों का स्वरूप

संगीत रत्नाकर एवं कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार षड्ज और मध्यम ग्राम ही धरती पर विद्यमान हैं, गान्धार ग्राम की अवस्थिति स्वर्ग में है। षड्ज ग्राम—पंचम स्वर जब अपनी चतुर्थ श्रुति पर स्थिर होता है, तब 'षड्ज ग्राम' कहलाता है। तथा उसके अपनी उपान्त्य श्रुति पर होने पर उस ग्राम को मध्यम ग्राम कहा जाता है। षड्जग्राम में धैवत त्रिश्रुतिक होता है, किन्तु मध्यम ग्राम में चतु:श्रुतिक हो जाता है। जब गान्धार ऋषभ और मध्यम की एक-एक श्रुति ले लेता है और धैवत पंचम की तथा निषाद धैवत और षड्ज की एक-एक श्रुति ले लेता है, तब महर्षि नारदोक्त गान्धार ग्राम बन जाता है, जो स्वर्ग में विद्यमान है, इस पृथ्वी पर नहीं है। आगमकार ने तीन ग्रामों को स्वीकार किया है।

मूर्च्छना

भ्वादिगणीय मूर्च्छा मोह समुच्छ्राययो: धातु से णिच् एवं ल्युट् करने पर मूर्च्छना और स्त्रीलिंग में मूर्च्छना शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—स्वर-विन्यास स्वरों का नियमित आरोहण-अवरोहण, सुखद स्वर संधान, लय परिवर्तना, स्वरसामंजस्य एवं स्वर माधुर्यादि । सात स्वररों के क्रम पूर्वक आरोह और अवरोह को मूर्च्छना कहते हैं। आचार्य भरत ने सात स्वरों के क्रम युक्त प्रयोग को मूर्च्छना कहा है—

क्रमयुक्ताः स्वराः सप्तमूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिताः ।[४८]

तीनों ग्रामों की सात-सात मूर्च्छनाएं होती हैं। स्थानांग सूत्र में इस प्रकार निर्देश मिलता है—

१. षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाएं—मंगी, कौरवीया, हरित, रजनी, सारकान्ता, सारसी, शुद्धषड्जा।

२. मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाएं—उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरा, उत्तरायना, अश्वक्रान्ता, सौवीरा, अभिरुद्गता।

३. गान्धार ग्राम की मूर्च्छनाएं—नंदी, क्षुद्रिका, पूरका, शुद्धगांधारा, उत्तरगांधारा, सुष्ठुतर आयामा एवं उत्तरायता कोटिमा।[४९]

भरतनाट्यशास्त्र, संगीतदामोदर, नारदीय शिक्षा आदि ग्रंथों में मूर्च्छनाओं का उल्लेख है, लेकिन अभिधान में काफी भिन्नता है। निम्नोक्त तालिका में यह भेद देखा जा सकता है—

स्थानांग सूत्र एवं अनुयोगद्वारसूत्र	भरतनाट्यशास्त्र	संगीतदामोदर	नारदीय शिक्षा

षड्जग्राम की मूर्च्छनाएं

मंगी	उत्तरमंद्रा	ललिता	उत्तरमंद्रा
कौरवीया	रजनी	मध्यमा	अभिरुद्गता
हरित	उत्तरायत्ता	चित्रा	अश्वक्रान्ता
रजनी	शुद्धषड्जा	रोहिणी	सौवीरी
साराक्रान्ता	मत्सरीकृता	मतंगजा	हृष्यका
सारसी	अश्वक्रान्ता	सौविरी	उत्तरायता
शुद्धषड्जा	अभिरुद्गता	षण्मध्या	रजनी

मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाएं

उत्तरमंद्रा	सौवीरी	पंचमा	नंदी
रजनी	हरिणाश्वा	मत्सरी	विशाला
उत्तरा	कलोपनता	मृदुमध्यमा	सुमुखी
उत्तरायता	शुद्धमध्यमा	शुद्ध	चित्रा
अश्वक्रान्ता	मार्गी	अन्द्रा	चित्रवती
सौवीरा	पौरवी	कलावती	सुखा
अभिरुद्गता	कृष्यका	तीव्रा	बला

गान्धार ग्राम की मूर्च्छनाएं

नंदी	—	सौद्री	आप्यायनी
क्षुद्रिका	—	ब्राह्मी	विश्वचूला
पूरका	गान्धार ग्राम	वैष्णवी	चन्द्रा
शुद्धगांधारा	का अस्तित्व	खेदरी	हैमा
उत्तरगांधारा	नहीं माना गया	सुरा	कपर्दिनी
सुष्ठुतर आयाम	—	नादावती	मैत्री
उत्तरायता कोटिमा	—	विशाला	बार्हती

इस प्रकार तीन ग्रामों की २१ मूर्च्छनाओं का निर्देश आगमकारों ने किया है।

तान

तान शब्द तनादिगणीय 'तनु-विस्तारे'[५०] धातु से 'धञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—विस्तार। संगीतशास्त्र में स्वरों का विस्तार करना तान कहलाता है।

तनोति विस्तारयतीत्यस्मात् धञि तान इति स्मृतः ।[५१]
रागा यैस्तन्यते प्रायः स्वरास्ते तानका मताः ।।

नान्यदेव ने इस प्रकार लिखा है यथा—

षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पंचम-धैवत-निषादाः ।
परस्परेण तन्यत्र इति तान संज्ञा लभन्ते ।।[५२]

तात्पर्य है कि जिसके द्वारा स्वरों का विस्तार हो जाता है उसे तान कहते हैं—

येन विस्तार्यते रागः स तानः कथ्यते बुधैः ।[५३]

तानों की संख्या में मतभिन्नता है। आगमकार ने केवल ४९ संख्या का निर्देश किया है।

गीत के गुण दोष

स्थानांग में गीत के आठ एवं गेयपदों के आठ गुण बताये गये है—गीत के आठ गुण निम्नलिखित हैं—(स्थानांग ७.४८.६)

१. पूर्ण—स्वर के आरोह-अवरोह का पूर्ण होना।

२. रक्त—गाए जाने वाले राग से परिष्कृत।

३. अलंकृत—विभिन्न स्वरों से सुशोभित होना।

४. व्यक्त—स्पष्ट स्वर वाला होना।

५. अविघुष्ट—नियत या नियमित स्वर से युक्त होना।

६. मधुर—मधुर स्वर युक्त होना।

७. सम—ताल, वीणा आदि का अनुगमन करना।

८. सुकुमार—ललित, कोमल एवं लययुक्त होना।

स्थानांगसूत्र[५४] में ही गीत के और आठ गुणों का उल्लेख मिलता है—

१. उरोविशुद्ध—जो वक्षस्थल में विशाल होता है।

२. कण्ठविशुद्ध—जो स्वर कण्ठ में नहीं फटता है।

३. शिरोविशुद्ध—जो स्वर सिर से उत्पन्न होकर भी नासिका से मिश्रित नहीं होता है।

४. मृदु—जो राग कोमल स्वर से गाया जाता है।

५. रिभित—घोलना-बहुत अलाप के कारण खेल सा करते हुए स्वर।

६. पदबद्ध—गेयपदों से निबद्ध रचना।

७. समताल पदोत्क्षेप—जिसमें ताल, झांक आदि का शब्द और नर्तक का पादनिक्षेप—ये सब सम हों—एक दूसरे से मिलते हों।

८. सप्तस्वर सीभर—जिसमें सातों स्वर तन्त्री आदि के सम हों।

गेयपदों के गुण—गेयपदों के आठ गुणों का वर्णन स्थानांग में मिलता है[५५]—

१. निर्दोष—दोष रहित।

२. सारवत्—अर्थयुक्त होना।

३. हेतु युक्त

४. अलंकृत

५. उपनीत

६. सोपचार

७. मित

८. मधुर

गीत के दोष

स्थानांगसूत्र एवं अनुयोगद्वार में गीत के छ: दोषों का वर्णन मिलता है[५६]—

१. भीत—भयभीत होते हुए गाना।

२. द्रुत—शीघ्रता से गाना।

३. ह्रस्व—शब्दों का लघु बनाकर गाना।

४. उत्ताल—ताल भंग कर गाना।

५. काकस्वर—कौए की भांति कर्ण कटुस्वर से गाना।

६. अनुनास—नाक से गाना।

इस प्रकार आगम-साहित्य में गीतकला का विस्तार से विवेचन मिलता है। आगमकार ने इस गीतकला को स्वरमंडल (सरमंडल) के रूप में वर्णन किया है।

✱

सन्दर्भ-सूची

गीतकला

१. संगीतरत्नाकर
२. तत्रैव १.१.२६
३. तत्रैव १.१.२८-३०
४. याज्ञवल्क्य स्मृति ३.११५
५. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ९४.२३
६. संगीतराज १.१.२-५
७. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ ३४५
८. संस्कृत-अंग्रेजी कोश, पृष्ठ ३५६
९. वाचस्पत्यम्, भा. ४ पृष्ठ २५९१ तत्त्वार्थचिन्तामणि, भाग १
१०. आचारांगसूत्र १.९.१९
११. सूत्रकृतांग २.२.३१
१२. बृहद्देशी १५.५४
१३. महाभाष्य
१४. भरत भाष्यम्, श्रुत्यध्याय, पृष्ठ ८७
१५. बृहद्देशी, अनुवाक् १६, पृष्ठ ६
१६. भरतभाष्यम् पृष्ठ २३
१७. संगीत रत्नाकार, प्रथम स्वरगताध्याय ३, श्लोक २४-२५
१८. संगीत समयसार, प्रथमाध्याय, पृष्ठ १०
१९. संगीत सारसंग्रहकार, श्लोक ५१, पृष्ठ ७
२०. स्थानांग सूत्र ७.३९ (जै. वि. संस्करण)
२१. अनुयोगद्वार ८.२९८, (जै. वि.भा.), पृष्ठ १८७
२२. स्थानांग ७.४८.७ पृष्ठ ७२८
२३. स्थानांग (जै.वि.भा.), पृष्ठ ७५८ टिप्पण संख्या-१०
२४. स्थानांग ७.३९, अनुयोगद्वार ८.२९८
२५. उणादिसूत्र ४१०
२६. तत्त्वार्थचिन्तामणि भाग-१ पृष्ठ ४२३

२७. तत्रैव, पृष्ठ ८०२
२८. तत्रैव, पृष्ठ ८०२
२९. पाणिनिसूत्र ४.३.८
३०. तत्त्वार्थचिन्तामणि, भाग-३ पृष्ठ १०
३१. तत्रैव, पृष्ठ १०
३२. नारदीय शिक्षा १.५.७
३३. स्थानांग सूत्र ७.४०, अनुयोगद्वार ८.२.९९ (जै.वि.भा. संस्करण)
३४. तत्रैव, पृष्ठ ७५९
३५. तत्रैव, ७.४० पृष्ठ ७२५
३६. नारदीय शिक्षा १.५, ६-७
३७. स्थानांग ७.४१, पृष्ठ ७२५
३८. तत्रैव ७.४२
३९. तत्रैव ७.४३.१, अनुयोगद्वार ८.३२०.१
४०. तत्रैव ७.४३.१-७, अनुयोगद्वार ८.३२०.१-७
४१. उणादिसूत्र १४८
४२. सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी टीका, पृष्ठ ५२६
४३. श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम् , पृष्ठ ४२
४४. तत्रैव, पृष्ठ ४५
४५. बृहद्देशी, श्लोक ८९-९०, पृष्ठ १७
४६. श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्, पृष्ठ ४७
४७. स्थानांग ७.४४ पृ. ७२६
४८. नाट्यशास्त्र, अ. २८, श्लोक ३२
४९. स्थानांगसूत्र ७.४५.४७, अनुयोगद्वार ८.३०४-३०६
५०. संस्कृत हिन्दी धातुकोष
५१. भरतभाष्यम् चतुर्थअध्याय, खण्ड १, श्लोक ६५, पृष्ठ १२०
५२. भरतभाष्यम् चतुर्थअध्याय, खण्ड-१, श्लोक ६५, पृष्ठ १२०
५३. श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्, पृष्ठ १४५
५४. स्थानांगसूत्र ७.४८.७
५५. तत्रैव ७.४८.८
५६. स्थानांग ७.४८.५ अनुयोगद्वार ८.३०७.५

*

काशी और बौद्ध धर्म की ऐतिहासिकता

डॉ. सोमनाथ त्रिपाठी

उपाचार्य इतिहास विभाग

सं.सं.वि.वि. वाराणसी

पौराणिक ग्रन्थों से स्पष्ट है कि वाराणसी एवं काशी क्षेत्र का इतिहास प्राचीन होते हुये भी प्राचीन ग्रन्थों की रचना से सम्बद्ध ऐतिहासिक काल की गणना, स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि आज भी वेदों की रचना, रामायण एवं महाभारत के काल तथा पौराणिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों की रचना का काल विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न निर्धारित किया है। इतना अवश्य है कि उनका कालक्रमिक रूप स्पष्ट होता है। वैदिक काल, रामायण, काल, महाभारत काल तथा पुराणों की रचना काल आदि काल क्रमिक हैं। इसी प्रसंग में यह कहा जा सकता है। कि प्राचीन भारतीय साहित्य साम्यता के साथ वैदिक एवं वाह्य साहित्यों के अवधारणात्मक साम्यता के अनुरूप १२वीं शताब्दी तक आते है। उनमें दिये गये राजाओं के वंशानुक्रम भी समरूप से साहित्य में पाये जाते है। वैदिक धर्म के कठोर धार्मिक सामाजिक एवं सांस्कृतिकस्वरूप के विरोध में तथा ब्राह्मण संस्कृति की कठोर जप तप बलि आदि से ऊबकर ई.पू. पाँचवीं शताब्दी के करीब बुद्ध ने जन सामान्य में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और बौद्ध धर्म तत्कालीन परिस्थितियों में अति लोकप्रिय हुआ। बौद्ध धर्म की लोकप्रियता से प्रभावित होते हुये बुद्ध को भी विष्णु के दशावतार में गणना की गई है। अब बौद्ध धर्म से सम्बद्ध अनेक साहित्यिक ग्रन्थों की रचना हुई, जिसमें काशी क्षेत्र एवं वाराणसी के साथ ही भारतवर्ष की प्राचीन ऐतिहासिक स्थिति का ज्ञान होता है। काशी षोडश महाजनपदों[१] में एक थी और यहाँ ब्रह्मदत्त वंश का राज्य था। ब्रह्मदत्त वंश के सौ राजाओं ने काशी में राज्य किया। ब्रह्मदत्त वंश[२] के सौ राजाओं द्वारा काशी पर शासन करने का विवरण मत्स्यपुराण में भी उपलब्ध हैं। जातक युग में काशी और कोशल में युद्ध का विवरण भी प्राप्त होता है।[३] काशी के ब्रह्मदत्त ने

---

१. अंगुत्तर निकाय, १/२१३

२. जातक २/६०, गंगमाल जातक, ३/४५२

३. जातक, ३/२११, विनय पिटक १/३९३, धम्मपद अट्ठकथा १/५६ इत्यादि।

उनपर विजय प्राप्त कर लिया, साथ ही कालान्तर में घटना क्रम में कोशल राज, ब्रह्मदत्त ने कोशल कुमार दिधिति के साथ अपनी कन्या ब्याह दी। काशी और कोशल के मध्य युद्ध लूटपाट आदि के विवरण जातकों में उपलब्ध हैं।[४] स्पष्टत: कोशल एवं काशी में समय-समय पर युद्ध होता रहा और कोशल राज्य भी सशक्त होने पर आधिपत्य जमाता रहा है।[५] बाद में चलकर ई.पू. शताब्दीं के आरम्भ में कोशल राज कंश ने वाराणसी पर विजय प्राप्त कर आधिपत्य कर लिया।[६] काशी को कोशल में मिला लिया गया। सोननन्द जातक में काशिराज की विजय यात्रा का वर्णन करते हुये लिखा है कि काशिराज ने क्रमश: कोशल, अंग, मगध, अस्त्रद और अवन्ति को जीत लिया और उसके समय वाराणसी का नाम ब्रह्मवर्धन पड़ा। इसी प्रकार संयुक्त निकाय[७] आदि में भी काशी का विवरण प्राप्त होता है। बुद्ध के समय काशी की स्वतन्त्रता नष्ट हो चुकी थी और वाराणसी एक स्वतन्त्र महाजनपद की राजधानी नही रही। फिर भी आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से काशी एक अति प्रकाशमान क्षेत्र रहा और यह स्पष्टत: देखने में आया है कि किसी भी धर्म के प्रवर्तक ने काशी में ही सबसे पहले यहाँ के ऋषियों एवं विद्वानों से अपने धर्म की सम्पुष्टि कराते रहे हैं और इसी के बाद वह धर्म सम्पुष्ट होकर जन-सामान्य द्वारा संग्रहणीय होता रहा है। काशी शैव धर्म मानने वालों से संव्याप्त थी। बुद्ध के समय में धम्मपद अट्ठ कथा[८] के अनुसार वाराणसी में नागपूजा प्रचलित थी और आज भी नाग कूप एक पवित्र स्थान के रूप में है और यह स्थल नाग पूजा का प्रमुख स्थल है। वाराणसी तन्त्र मन्त्र के लिये तथा ज्योतिष के लिये एक प्रसिद्ध स्थल था।[९] उल्लेखनीय है कि सामाजिक सम्मिश्रण के लिये धार्मिक, तत्त्वों का समावेश करके जनसामानय के विरोध को कम करके समरसता लाकर ही कोई भी नयी विचारधारा प्रफुल्लित एवं पल्लवित होती है। बौद्ध धर्मावलम्बियों ने भी वैदिक विचारधारा को प्रश्रय देते हुये अपने धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया, जिसमें वेदाध्ययन, कर्मकाण्ड एवं दान दक्षिणा विहीन

---

४. जातक ३/११५

५. जातक १/४०९

६. जातक २८२/५२१, वाराणसिग्गहो जातक २/४०३, जातक ४२३४२

७. संयुक्त निकाय १ पृ. ८२-८५ दीघ निकाय १,२३८, २२९, विनय पिटक पृ. १९२ आदि में भी

८. धम्मपद अट्ठ कथा ३/२३०

९. धम्मपद अट्ठकथा १/१५१

ब्रह्मज्ञान पर अधिक जोर दिया गया। महाबोधि जातक में महाजनपद युग की दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख उपलब्ध है।

बौद्ध के साथ ही जैन धर्म का भी वैदिक धर्म से इतर उद्भव एवं विकास हुआ। जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ का जन्म महावीर से करीब ढ़ाई सौ वर्ष पहले हुआ था। महावीर स्वामी के समय तक पार्श्वनाथ के अनुगामी होते थे। महावीर के जैन धर्म में और पार्श्वनाथ के जैन धर्म में मात्र यही अन्तर था कि पार्श्वनाथ का धर्म अहिंसा मूलक था और जाति-पाँति का भेद नहीं था तथा स्त्रियाँ भी उनके संघ में शामिल हो सकती थी। यह भी सत्य है कि जैन सम्प्रदाय भी वाराणसी के विद्वानों द्वारा अपने मुहर लगवाकर ही समाज में प्रचार एवं प्रसार करते हुये अपनी पैठ बनाया। वाराणसी में बौद्ध धर्म का प्रमुख स्थल इसिपत्तन (सारनाथ) बना, जहाँ बुद्ध ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया और ईसा पूर्व ५३५-४८५ के मध्य बुद्धत्व प्राप्त करके गौतम बुद्ध ने अपने भिक्षुओं के साथ सारनाथ में अपना प्रथम व्याख्यान दिया और बहुजन हित, बहुजन सुख और लोकानुकम्पा का संदेश देते हुये बुद्ध ने वाराणसी में कई बार रूककर बहुत से सूत्रों का उपदेश करते हुये बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया।[१०] प्रारम्भ में बौद्ध धर्म में मूर्तिपूजा नहीं थी पर बाद में चलकर सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बुद्ध की प्रसिद्धि के अनन्तर उनके अनुयायियों ने बुद्ध एवं बौद्ध धर्म से सम्बद्ध मूर्तियों को निर्माण एवं उत्कीर्णन प्रारम्भ कर दिया और उनकी मूर्तियों एवं उत्खननों से प्राप्त सामग्रियों से बौद्ध मूर्तिकला का अभिज्ञान होता है। सारनाथ में मिले अशोक स्तम्भोत्कीर्ण लेख तथा बौद्ध मन्दिरों में प्राप्त उनकी मूर्तियाँ अपनी कलात्मक सुन्दरता एवं शैली के लिये आज भी साक्षी हैं।

सारनाथ

जैसा कि इतिहासविदों ने स्पष्ट किया है सारनाथ में धर्मराजिक स्तूप का निर्माण अशोक ने कराया था, जिसे वारासणसी के जमींदार जगत सिंह ने १७९४ में ध्वस्त करके इसमें प्रयुक्त ईटों द्वारा जगतगंज मुहल्ले का निर्माण किया अशोक स्तम्भ के बारे में अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रकट करते हुये लिखा है कि इस स्तूप के गर्भ-गृह में १८ हाथ की गहराई पर एक संगमरमर की मंजूषा में[११] प्राप्त

१०. थेरीगाथा अट्ठकथा, पृ. ३०-३१ विनय, ३/३६० नौ. ३, वि. पृ. १९५-९६ नो. ३

११. एशियाटिक रिसर्चेज ५ पृ. १३१, १३

हड्डियों, सुवर्णपत्र आदि को गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। यहाँ पुरातत्व विभाग ने उत्खनन करके यह पाया कि अशोक द्वारा बनवाये गये स्तूप का व्यास ४४' ३" था और इसमें प्रयुक्त ईटें कीलाकार थीं, जिनका माप १९.११ इंच × १४ इंच × २.११ इंच और १६.११ इंच × १२.११" × ३.११" था[१२] कुषाण काल में इसमें ईटों का एक आवरण चढ़ाया गया, जिसमें ईटों का माप १७" × १०" × २ १/४" रहा। पाँचवीं एवं छठी शताब्दी में इसके चारों ओर १६ फीट चौड़ा प्रदक्षिणापथ बना दिया गया और चारों ओर दिवार बनाकर चार दरवाजे लगाये गये हैं। सातवीं शदी में प्रदक्षिणापथ को पाटकर स्तूप तक पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बना दी गयी आगे इसमें कुछ फेर बदल नवीं एवं दसवी शताब्दियों में हुआ। इसी समय राजघाट की खुदाई में मिली कतिपय यूनानी मूर्तियाँ प्राप्त हुयीं, जिसे डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने लेख 'ए स्टडी ऑफ राजघाट सील्स' में वर्णित किया है।

बौद्ध धर्म

मृगदाव या सारनाथ कम से कम अशोक के समय से बौद्धों का पवित्र तीर्थ रहा है और इस बात का भी प्रमाण है कि मौर्य युग से ही यहाँ बौद्ध भिक्षु रहते थे। गुप्तकाल में मूलगंध कुटी बिहार बन चुका था क्योंकि इस सम्बन्ध में चौथी या पाँचवी शताब्दी का एक लेख दीवार पर मिला है।[१३] छठी या सातवी शताब्दी की सारनाथ से मिली मुद्राओं पर भी मूलगंध कुटी का नाम आता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि गुप्तयुग में सद्धर्म-चक्र बिहार का यह प्रधान मंदिर था।

गुप्त युग के आरम्भ में (करीब ३२० ईस्वी) सारनाथ में सर्वास्तिवादियों का जोर था क्योंकि इनके तीन लेख सारनाथ की खुदाईयों से मिले हैं। सर्वास्तिवाद स्थविरवाद की एक शाखा है और कुषाण युग में जैसा कि पेशावर, मथुरा और बनारस से मिले लेखों से पता चलता है इसका उत्तर भारत में काफ़ी जोर था। अशोक स्तम्भ पर हमें सम्मितियों का एक लेख मिलता है। सम्मितिय वात्सीपुत्रों की एक शाखा थी और सर्वास्तिवादियों की तरह हीनयान से सम्बन्धित थी। यह लेख चौथी शताब्दी का है और सर्वास्तिवादियों के लेखों के थोड़े बाद का मालूम पड़ता है।

---

१२. एस. आर. एन. रिपोर्ट, १९७४, ७५ पृ. ६५

१३. केटलाग, पृ. ३

गुप्तयुग में सारनाथ से मिली बौद्ध मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बोधिसत्वों की पूजा यहाँ बढ. रही थी। कुषाण युग में महायान ने अपने सम्प्रदाय में तमाम हिन्दू देवी-देवताओं को लेकर अपने को पुष्ट बनाने का प्रयत्न किया। सारनाथ से मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की अनेक मूर्तियाँ इस युग की प्राप्त हुयी हैं। पद्मपाणि, तारा, प्रज्ञापारमिता और दूसरे महायानी देवी-देवताओं की पूजा भी इस युग में बढ़ी; परन्तु आरम्भिक गुप्त युग में सारनाथ में हीनयान का ही अधिक प्रभाव था सारनाथ जिस तरह बौद्ध धर्म का केन्द्र बन रहा था, उसे देखते हुये बनारस शहर में बौद्ध धर्म का उतना अधिक प्रचार नहीं था।

राजघाट से मिली मुद्राओं के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि बनारस शहर में बौद्ध धर्म का बहुत कम प्रचार था। धर्मस्वामी और बुद्ध की मुद्राओं से पता चलता है कि बनारस में बौद्ध भी थे पर इसमें सन्देह नहीं कि शहर में गुप्तकाल में प्रधान धर्म शैव था और उसके बाद वैष्णव।

ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद मौखरियों का कन्नौज से लेकर बनारस तक का राज्य हर्ष के अधिकार में आ गया। हर्ष के राज्यकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत-यात्रा की और इस प्रसंग में उन्होंने बनारस भी देखा। सातवीं सदी के आरम्भ में बनारस की धार्मिक और सामाजिक स्थिति पर ह्वेनसांग के वर्णन से काफी प्रकाश पड़ता है। उस समय सारनाथ में हीनयान का ही अधिक प्रभाव था। सारनाथ जिस तरह बौद्ध धर्म का केन्द्र बन रहा था, उसे देखते हुये बनारस शहर में बौद्ध धर्म का उतना अधिक प्रचार नहीं था।

राजघाट से मिली मुद्राओं के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि बनारस शहर में बौद्ध धर्म का बहुत कम प्रचार था। धर्मस्वामी और बुद्ध की मुद्राओं से पता चलता है कि बनारस में बौद्ध भी थे पर इसमें सन्देह नहीं कि शहर में गुप्तकाल में प्रधान धर्म शैव था और उसके बाद वैष्णव। ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद मौखरियों का कन्नौज से लेकर बनारस तक का राज्य हर्ष के आधिकार में आ गया। हर्ष के राज्यकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत-यात्रा की और इस प्रसंग में उन्होंने बनारस भी देखा। सातवीं सदी के आरम्भ में बनारस की धार्मिक और सामाजिक स्थिति पर उनके वर्णन से काफी प्रकाश पड़ता है। वे कुशीनारा से (१०० मील) चलकर वाराणसी जनपद पहुँचे।[१४] वाराणसी का अर्थ यहाँ देश बोधक है राजधानी

---

१४. वाटर्स, युवान च्वांगङ् भाग २ पृ. ४६-४७

बोधक नहीं। गुप्तयुग में बनारस शहर और जनपद दोनों का बोध वाराणसी से होता था। आज भी बनारस शब्द का व्यवहार शहर और जिला दोनों ही के लिए होता है।

इस चीनी यात्री के अनुसार बनारस जिला ८०० मील के घेरे में था। इसकी राजधानी का पश्चिम किनारा गंगा तक पहुँचता था। शहर ३ ३/५ मील लम्बा और १ १/२ मील चौड़ा था। शहर के मुहल्ले सटे हुये थे। बनारस की आबादी घनी थी, लोग बहुत धनवान थे और उनके घर बहुमूल्य वस्तुओं से भरे रहते थे। बनारस के नागरिक बहुत शिष्ट थे और शिक्षा के प्रति उनका अनुराग था। उनमें से अधिकतर दूसरे मतों के मानने वाले थे और बहुत थोड़े से बौद्ध धर्मानुयायी थे। बनारस की जलवायु सुखकर थी और फसल अच्छी होती थी। फलों के और दूसरे वृक्ष खूब घने होते थे और जमीन पर हरियाली छायी रहती थी। बनारस जिले में करीब तीस बौद्ध बिहार थे जिनमें सम्मितिय निकाय के तीन हजार से अधिक भिक्षु रहते थे। शहर में देव मन्दिर सौ के ऊपर थे और इनके धर्मों के अनुयायियों की संख्या दस हजार से ऊपर थी। इनमें अधिकतर शैव थे। इनमें से कुछ अपने बाल कटवा डालते थे, कुछ जटाजूट बाँधते थे, कुछ नंगे फिरते थे और कुछ भस्म रमाते थे। घोर तपश्चर्या में निरत होकर ये भव बाधा से मुक्ति पाने के लिये सतत प्रयत्न-शील रहते थे। बनारस में बीस देव-मन्दिर थे और इन मन्दिर के खण्ड और छज्जे नक्काशीदार पत्थर और लकड़ी के बने होते थे। मन्दिरों में पेड़ों के झुरमुट चारों ओर छाया करते थे और वहाँ साफ पानी के सोते होते थे। एक मंदिर में देव की काँसे की बनी सौ फूॅट ऊँची मूर्ति थी जो अपनी सजीवता और भयोत्पादक कांति से लोगो को प्रभावित करती थी। यात्रा-विवरण के मूल को इकट्ठा करने वाले फांड्चि का कहना है कि इस देव-मन्दिर में १०० फुट ऊँचे शिवलिंग की पूजा होती थी।

बनारस शहर के वर्णन के बाद सारनाथ का वर्णन करता है। राजधानी के उत्तर पूर्व में और वरुना नदी के पश्चिम में अशोक निर्मित १०० फुट ऊँचा स्तूप था। इसके सामने हरे पत्थर का एक पालिशदार स्तम्भ था। वरुना नदी के दो मील उत्तर-पूर्व में मृगदाव बिहार था। इसमें आठ भाग थे और वह एक ऊँची दिवार से घिरा हुआ था। इस विहार में सम्मीतीय निकाय के १५०० सौ भिक्षु रहते थे। दिवार के अन्दर २०० फुट ऊँचा, स्वर्णमंडित आमलक से अलंकृत एक मन्दिर था जिसकी कुरसी और सीढ़ियाँ पत्थर की थीं और जिसके ईटों के बने भाग में निषीदिकाओं की पंक्तियाँ थीं और हर निषीदिका में बुद्ध की सुवर्णमंडित प्रतिमा थी। मन्दिर के अन्दर

काँसे की बनी धर्म चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की एक आदमकद मूर्ति थी।[१५] बौद्ध मन्दिर के दक्षिण-पश्चिम भाग में अशोक निर्मित पत्थर का स्तूप था। इसका जमीन के ऊपर का सौ फुट हिस्सा तब भी बचा हुआ था। इसके सामने उस जगह, जहाँ बुद्ध ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया थ एक तीस फुट ऊँचा खम्भा था। इस लाट के आस पास एक स्तूप अज्ञात कौण्डिन्य और उसके चार शिष्यों के उस जगह तपस्या के उपलक्ष्य में बना था जब वे बुद्ध की तपस्या न छोड़ने पर उन्हें छोड़कर इसिपत्तन चले आये थे। यह स्तूप उसी जगह पर था जहाँ ५०० प्रत्येक बुद्धों को एक ही समय में निर्वाण मिला। वहाँ तीन बिगत बुद्धों के बैठने और घूमने की जगहों पर भी तीन स्तूप थे। ह्वेनसांग पुनः उस स्तूप का वर्णन करते हैं, जहाँ बुद्ध ने मैत्रेय के भविष्य में बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी।

ह्वेनसांग पुनः मृगदाव के बौद्ध बिहार के दक्षिण-पश्चिम दो या तीन ली पर एक स्तूप की चर्चा करते हैं। यह स्तूप ३०० फुट ऊँचा था और इसकी चौड़ी और ऊँची कुरसी बहुमूल्य वस्तुओं से सजी थी। इस स्तूप में निषिदिकाओं के खण्ड थे और गुम्बज के ऊपर शिखर था, उस पर गोल घंटिया नहीं लगी हुयी थी। इस स्तूप के पास ही एक दूसरा स्तूप उस घटना की याद दिलाता था जब आज्ञात कौंण्डिन्य और उसके चार शिष्यों ने बुद्ध का अनादर करने का निश्चय छोड़ दिया और उनके महान व्यक्तित्व के अनुरूप उनका आदर किया। मृगदाव से पूर्व में दो या तीन ली पर एक सूखे तालाब के किनारे एक स्तूप था। तालाब के दो नाम 'बीर' और प्राणरक्षक थे। उनके वर्णन से सातवीं सदी के सारनाथ का पूरा खाका खिंच जाता है। परन्तु उनके समय से लेकर आजतक सारनाथ के नक्शे में इतना परिवर्तन हो गया है कि हम उसके द्वारा वर्णित स्तूपों को पहचान नही सकते। सारनाथ से मिली गुप्त कालीन मूर्तियों मिें सबसे सुन्दर बुद्ध की एक मूर्ति हैं नीचे पीठ पर दो हिरनों के बीच में धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में बैठे हैं, पीछे प्रभामण्डल हैं नीचे पीठ पर दो हिरनों के बीच में एक चक्र है और उसके दोनों ओर पंचर्गीय भिक्षु और एक दाता अंकित है। मूर्ति में एक अपूर्व आध्यात्मिक सौन्दर्य की झलक मिलती है और गढ़न में तो यह अपूर्व ही है। गुप्त युग में बुद्ध मूर्ति का प्रभाव बढ़ जाने के फलस्वरूप पहले जो बुद्ध जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अर्द्धचित्र बुद्ध प्रतिमा के साथ होते थे, वे क्रमशः छोटे होने

१५. वही, पृ. ४७-४८

लगे और उनका प्रयोग केवल यह बनाने के लिये होने लगा कि किसी विशेष घटना से मूर्ति का क्या सम्बन्ध था।

गुप्तयुग में सारनाथ में बोधिसत्व-पूजा का बहुत चलन था और इसके फलस्वरूप मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की सुन्दर प्रतिमायें मिलती हैं। अवलोकितेश्वर की एक बड़ी ही सुन्दर मूर्ति के मुकुट में अमिताभ की मूर्ति बनी हुयी हैं। कभी-कभी उनके फैले हुये हाथ के नीचे सूचीमुख प्रेत होता है जो अवलोकितेश्वर की अंगुलियों से झरती हुयी अमृत की बूँदें ग्रहण करता है। इस मूर्ति पर गुप्ताक्षरों में एक लेख है जिससे पता चलता है कि मूर्ति किसी विषयपति ने बनवायी थी।[१६] गुप्तयुग की तारा को भी एक बहुत सुन्दर मूर्ति सारनाथ से मिली है।

सारनाथ से गुप्तकालीन बहुत से बौद्ध अर्द्धचित्र भी मिले हैं। एक उर्ध्वपट्ट पर जिसमें चार खाने हैं बुद्ध के जीवन की चार मुख्य घटनाओं के यथा—जन्म, बोधि, धर्म-चक्र प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण के दृश्य अंकित हैं। इस पर एक लेख के अक्षरों से पता चलता है कि इसका समय पांचवीं सदी हैं एक दूसरे उर्ध्वपट पर तीन खण्ड हैं। पहले खण्ड में मायादेवी का स्वप्न बुद्ध जन्म और सद्य:जात शिशु बुद्ध की नागनन्द और उपनन्द तथा इन्द्र ब्रह्मा द्वारा अभ्यर्थना है। दूसरे खण्ड में महाभिनिष्क्रमण और गया में बुद्ध के तप के दृश्य हैं, तीसरे खण्ड में मारविजय और महाभिनिष्क्रमण के दृश्य हैं।

सारनाथ से बुद्ध के जीवन की और भी घटनाओं का चित्रण मिला है। श्रावस्ती का चमत्कार जिसमें बुद्ध ने प्रसेनजित के सामने विधर्मियों को छकाने के लिये अपना चमत्कार दिखलाया तथा त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अपनी माता को उपदेश देने के लिये बुद्ध का उतरना वैसे ही दृश्य हैं। सारनाथ में जातक के अंकन बहुत कम आये हैं, लेकिन क्षान्तिवादिन जातक का गुप्तकालीन अंकन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा हैं इसमें बोधिसत्व के द्वारा कलाबु की नर्तकियों को उपदेश देने पर उनपर कलाबु का अत्याचार दिखलाया गया है।

सारनाथ से मिली हुयी मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य युग में सारनाथ में तन्त्रयान का काफी जोर था। इस युग में हमें सारनाथ में मंजुश्री,

---

१६. केटलाग, पृ. १४८-४९

अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, यमारि, अमोघसिद्धि इत्यादि की मूर्तियाँ मिलती हैं। देवियों में तारा, वसुन्धरा और मारीचि की मूर्तियाँ मिली हैं। वज्रवाराही मारीचि की मूर्ति के तीन सिर होते हैं जिनके एक सिर बराह का होता है। इसके हाथों में भिन्न-भिन्न आयुध होते हैं। एक धर्नुधारी की मुद्रा में यह देवी सप्त वराहवाल रथ पर सवार दिखलायी जाती हैं। सारनाथ से मिली मौर्यकालीन मूर्तियों में सबसे प्रसिद्ध और कला की दृष्टि से सबसे सुन्दर अशोक स्तम्भ का शीर्षक है। इस स्तम्भ की ऊँचाई सात फुट है और इसका आकार उत्फुल कमल जैसा है जिसे घंटाकृति भी कहा गया है। कमल की पंखुड़ियाँ खरबूजियाँ आकार की हैं। कमलनाल के स्थान पर गोल कंठा है और उसके ऊपर एक गोल पटिया है। इसके ऊपर गोल शीर्षपट्ट (फलक) है जिसके ऊपर पृष्ठासक्त चार सिंह आकृतियाँ धर्मचक्र को वहन करती थीं, जो अब टूट गया है। इन सिंहों के मुख खुले है और जिह्वायें बाहर निकली हुयी हैं। इनकी सुगठित शिरायें तथा अयाल बहुत ही सुन्दर बनाये गये हैं। शीर्षपट्ट पर एक हाथी, एक वृषभ, एक भागता हुआ घोड़ा और एक सिंह के अर्धचित्र बने हुये हैं। कला और कारीगरी की दृष्टि से यह स्तम्भ शीर्षक भारतीय कला के क्षेत्र में बेजोड़ है।

*

शिवमहापुराणे भक्तानां वर्णनम्

डॉ. आशुतोष मिश्र

उपाचार्योऽध्यक्षश्च पुराणेतिहासविभागः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्विविद्यालयः, वाराणसी

शिवमहापुराणे भक्तिभक्तयोः सम्बन्धविषये महत्त्वपूर्णं दिग्दर्शनमत्र विहितमस्ति। साधकाः शिवभक्त्या शिवपूजनं कुर्युः शिवशक्तिपूजनेन भगवतः शिवस्य महती प्रीतिर्भवति।

यतोहि भक्त्या प्रभावाच्छिवेन भक्तशिवयोर्न कश्चन् भेदो दृश्यते, तथाहि शिव भक्तस्तु साक्षात् शिव एव विराजते—

''साधकः पंचलक्ष्यान्ते शिवप्रीत्यर्थमेव हि ।[१]
महाभिषेकनैषधं कृत्वा भक्तांश्च पूजयेत् ।।
पूजया शिवभक्तस्य शिवः प्रीतितरो भवेत् ।
शिवस्य शिवभक्तस्य भेदो नास्ति शिवो हि सः ।।''

वेदाक्ताः सर्वाः क्रियाः शिवभक्तास्तु शिवमन्त्रं यावद् यावज्जयन्ति तावत्तावच्छिवं प्रति सन्निकटतां प्राप्नुवन्ति—

''शिवस्वरुपमन्त्रस्य धारणाच्छिव एव हि ।[२]
शिवभक्त शरीरे हि शिव तत्परमो भवेत् ।।
शिवभक्ताः क्रिया सर्वा वेद सर्वक्रियां विदुः ।
यावद् यावच्छिवं मन्त्रं येन जप्तं भवेत् क्रमात् ।।
तावद् वै शिव सानिध्यं तस्मिन् देहे न संशयः ।।''

भक्तिसदृशोऽन्यो मार्गो भगवत्प्राप्तेर्नासीत्। भक्तिप्रभावादेव भगवान् शिवो भक्तेर्वश्योऽस्ति तथा सा भक्तिः शिवप्रिया इव प्रियास्ति—

---

१. शिव वि.सं. १७/१३०-१३१

२. शिव वि.सं. १७/१३२-१३३,५

"सर्वकर्मफलोत्पत्तिः सर्वदा त्वत्समप्रिया ।[३]
यच्चित्ते सा स्थिता नित्यं सर्वदा सोऽति मत्प्रियः ।।
त्रैलोक्ये भक्तिसदृशः पन्था नास्ति सुखावहः ।
चतुर्युगेषु देवेशि कलौ तु सुविशेषतः ।।

अपि च यद्यपि सर्वेषु युगेषु शिवभक्तिः प्रत्यक्षफलदासीत् तथापि कलौ तु सुष्ठुरुपेण सकलफदप्रदाता वर्णितास्ति यया भक्त्या भगवान् शिवः सदैव तद्वशे भवति। तद्यथा—

"कलौ प्रत्यक्ष फलदा भक्तिः सर्वयुगेष्वपि ।[४]
तत् प्रभावादहम् नित्यं तद्वशे नात्र संशयः ।।"

भक्तिवतो जनस्य रक्षां भगवान् शिवः सततं करोति भक्ताय विघ्नदातारं भगवान् शिवः सततं तद्दण्डदाता भवति—

"यो भक्तिमान् पुमान् लोके सदाहं तत् सहायकृत् ।[५]
विघ्नहर्त्ता रिपुस्तस्य दण्ड्यो नात्र च संशयः ।।"

भगवान् शिवो भक्तजनरक्षणायैव शरीरं धारयति। यद्यपि स परमो दयालुः शिवस्तु सर्वभूतान्तरात्मा निर्विकारो इच्छाचारी इच्छारहितश्चास्ति—

"सर्वेषामिह भूतानां अहमात्मा सुमध्यमे ।[६]
निर्विकारी निरीहश्च भक्तेच्छोत्पात्त विग्रहः ।।"

अपि च भगवतः शिवस्य सम्पूर्णं वैशिष्ट्यमत्र विवेचितमस्ति। भगवतः शिवस्य द्वेरुपे स्तः एकः सगुणरुपो द्वितीयो निर्गुणरुपो च।

तत्परमात्मा भगवान् शिवो भक्तोद्धरणाय निर्गुण रूपं परित्यज्य सगुणरूपमाधारयति यतोहि स परमात्मा शिवः स्वतन्त्र परमेश्वरश्च वर्तते—

"त्वं ब्रह्म परमात्मा हि निर्गुणः प्रकृतेः परः ।[७]
निर्विकारी निरीहश्च स्वतन्त्रः परमेश्वरः ।।
तथापि सगुणोपीह भक्तोद्धारपरायणः ।।"

---

३. शिव रू. सं. २३/३७-३८
४. शिव रू. सं. २३/४०
५. शिव रू. सं. २३/४१
६. शिव रू. सं. २३/४६
७. शिव रू. सं. २९/२५द्ध३३,३४,५

जगत्यस्मिन् यदि नीचो जीवो भगवन्तं शिवं प्रति भक्त्या स्वगृहे स्मरति तदा भगवान् शिवो स्वभक्तवश्यो भूत्वा तद्गृहे सहसायाति—

"भक्त्याधीनस्सदाहं वै तत् प्रभावाद् गृहेष्वपि ।[८]
नीचानां जातिहीनानां यामि देवि न संशयः ।।"

एषो जगदीश्वरो भगवान् शिवो भक्त्यैव दृश्यते भक्तः शिवं प्रति भगवति भक्तिं विधाय संसारसागरान्मुच्यते। शिवस्य प्रसादो भक्त्यैव जायते तथा प्रसादादेव भक्तिर्भवति—

एष देवो महादेवः सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।[९]
अयन्तु परमया भक्त्या दृश्यन्ते नान्यथा क्वचित् ।।
बहुनात्र किमुक्तेन शिवे भक्त्या प्रमुच्यते ।।
प्रसादात् देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः ।।"

भगवान् शिव एव त्रैलोक्यस्य परमं तत्त्वमस्ति तत् तत्त्वमेव ज्ञानमस्ति तद्ज्ञानमस्मिन् ब्रह्माण्डं दुर्लभं वर्तते। किन्तु भगवतः शिवस्य भजनं अतीव सुलभमस्ति।

शिवभजनेन मुक्तिः करतलायते अतो मुक्तेच्छुकाः जनाः शिवं भजेयुः। अतः शिवस्तु भजनाधीनो विद्यते शिवभजनमेव भक्तिरुच्यते। तच्छिवभक्ता एव बहवः सिद्धाः जनाः सिद्धिं प्रापुः—

"तत्प्राप्तिश्च भवेदत्र शिवज्ञानोदयाद् ध्रुवम् ।[१०]
भजनाद्वा शिवस्यैव सूक्ष्ममत्याः सतां द्विजाः ।।
ज्ञानन्तु दुष्करं लोके भजनं सुकरं मतम् ।
तस्माच्छिवं तु भजत मुक्त्यर्थमपि सत्तमा ।।
शिवोहि भजनाधीनो ज्ञानात्मा मोक्षदः परः ।
भक्त्यैव बहवः सिद्धाः मुक्तिं प्रापुः परां मुदा" ।।

तज्ज्ञानमाता शिवभक्तिरस्ति। यथा भुक्तिः मुक्तिश्च हस्ते समायाति सा भक्तिस्तु शिवप्रसादादेवावाप्यते—

"ज्ञानमाता शम्भुभक्तिर्भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ।[११]
सुलभा मत्प्रसादादिध् सत्प्रेमांकुरलक्षणा ।।"

---

८. शिव रू. सं. २३/१७
९. शिव रू. सं. ३/१२-१४
१०. शि० को सं. ४१/१६-१/-१९
११. शि० को सं. ४२-२६

अत: सर्वै: भगवत: शिवस्य भक्ति: करणीया यया शिवभक्त्या सर्वा: सिद्धय: सिद्धा भवन्ति।

" तस्माद् भक्तिः महेशस्य साधनीया मुनीश्वरा ।।[१२]
तथैव निखिलं सिद्धं भविष्यति न संशयः ।।"

भक्तो भक्त्या पत्रं पुष्पं फलं तोयं च यत् किंचदपि मां प्रयच्छति अहं तस्य तत्सर्वं प्रेम्णा गृह्णामि तथा तस्य भक्तस्य न कदापि विनष्टिर्भवति तथा अहमपि तदरिक्तो न भवामि—

"न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचोऽपि यः ।[१३]
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथाह्यम् ।।
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो भक्त्या प्रयच्छति ।
तस्याहं न प्रणस्यामि स च मे न प्रणस्यति ।।"

अपि च ये जना: सततं भगवन्तं शिवं स्मरन्ति भगवत शिवस्य भक्तिं कुर्वन्ति ते जगति दु:खभागिनो न भवन्ति—

"भवभक्तिपराये च भवप्रणतचेतसः ।[१४]
भवसंस्मरणा ये च न ते दुःखस्य भागिनः ।।"

अत्र शिवमहापुराणेऽनेकेषां भक्तानां चरित्राणि वर्णितानि सन्ति। यन्निशम्य पठित्वा च भवगति परमात्मनि शिवे महती प्रीतिरुदेति भक्तानां उपरि यदा यदा आपद: समागतास्तदा तेषां सर्वास्ता विपत्तयो भगवान् दूरीकृतवान्—

"यदा यदा विपत्तिर्हिभक्तानां भवति क्वचित् ।[१५]
तदा तदा हरमयासु तत्क्षणात् सर्वशः सदा ।।"

सर्वेषां प्राणिनां कृते भगवत: शिवस्य माया ज्ञातुं न शक्या वर्तते यया भगवत: शिवस्य मायया सर्वमेतत् जगन्मोहितमस्ति भक्त एव शिवमायां ज्ञातुमर्हति—

"दुर्गेया शाम्भवी माया सर्वेषां प्राणिनामिह ।[१६]
भक्तं विनार्पितात्मानं तया सम्मोह्यते जगत् ।।"

---

१२. शि० वा०उ० ४२/२६
१३. शि० रू० सं० १२/२१
१४. शि० रू० पा० २५/७०
१५. शि० रू० पा० २५/७०
१६. शि० रू० सं० २/२५

भगवान् शिवो अल्पसमय एव भक्तानां उपरि भक्त्या प्रसीदति प्रसन्नः शिवो भक्तेभ्यः सर्वं ददाति—

"शिवः स्वल्पेन कालेन सम्प्रसीदति भक्तितः।[१७]
सुप्रसन्नो महेशो हि भक्तेभ्यः सकलप्रदः।।
मुक्तिंभुक्तिमिहामुत्र यच्छतीति सुनिश्चितम्।
तस्मात् सेव्यः सदा शंभुः भुक्तिमुक्तिफलेप्सुभिः।।"

स्वयं भगवता शिवेन स्वश्रीमुखेन भक्तस्य वैशिष्ट्यं सतीं शिवां प्रति उक्तमस्ति—

"यो भक्तान् पुमान् लोके सदाहं तत्सहायक कृत्।।[१८]
विघ्नहर्ता रिपुस्तस्य दण्ड्यो नात्र च संशयः।।"

भक्तहेतोः शिवेनानेके विजिताः सन्ति, अस्य वैशिष्ट्यं प्रतिप्रादितमस्ति—

"भक्तहेतोरहं देवि कालं क्रोधपरिप्लुतः।[१९]
अदहं वह्निना नेत्रभवेन निजरक्षकः।।
भक्तहेतोरहं देवि रब्युपर्य भवं किल।
अति क्रोधान्वितः शूलं गृहीत्वान्वजयं पुरा।।
भक्त हेतोरहं देवि रावणं स गणं क्रुधा।
त्यजति स्म कृतो नैव पक्षपातो हि तस्य वै।।
भक्तहेतोरहं देवि व्यासं हि कुमतिग्रहम्।
काश्या न्यसारयत् क्रोधाद् दण्डयित्वा च नन्दिना।।"

भगवता शिवेन तत्रैव शिवां प्रति कथितमस्ति। यद् हे! देवि तेऽधिकं किं कथयामि भक्ताधीनश्चास्मि अत्र कश्चन् सन्देहो न वर्तते। पुराणेऽस्मिन् शिव भक्तानां यादृशं वर्णनं विहितमस्ति तावन्नान्यत्रोपलभ्यते। अत्र शिवभक्तः शिवस्वरुपेण वर्णितोऽस्ति।

ये प्राणिनः शिवभक्तिपूर्वकं शिवभक्तानां पूजां कुर्वन्ति तदा तेषामुपरि भगवान् शिवः स्वभक्तभक्त्या आशु प्रसीदति यतोहि शिवभक्तः साक्षात् शिव एवास्ति। अत्र तयोः कश्चन् भेदो न दृश्यते—

---

१७. शि० सत०सं० ३७/५७.५-५८
१८. शि० सत० सं० २३/४१
१९. शि० रू० सं० २३/४२-४५

"पूजया शिवभक्तस्य शिवः प्रीतितरो भवेत् ।[२०]
शिवस्य शिवभक्तस्य भेदो नास्ति शिवोहि सः ।।"

एकदा कृष्णः उपमन्युं मुनिं प्रति अपृच्छत् हे मुने! जगत्यस्मिन् के के शिवभक्ताः शिवं समाराध्य तद्भक्तया स्वस्व कामानापुः।

तथा तान् सर्वान् वदतु भवान् उपमन्युर्मुनिः कृष्णस्य तद्वचनं निशम्य प्रहस्य च प्रोवाच हे कृष्ण! सावधानतया तान् तान् भक्तान् प्रवक्ष्यामि त्वं शृणं—

"यैर्यैर्भवानाराधनतः प्राप्तो हृत्काम काम एवहि ।[२१]
तांस्तान् भक्तान् प्रवक्ष्यामि शृणुत्वं वै यदूद्वहः ।।"

पूर्वं एको हिरण्यकशिपुमर्व भक्तस्य चन्द्रशेखरश्च् भक्तिं पूजां च विधाय दसलक्षवर्षेषु सर्वदैवैश्वर्यमलभत—

"शर्वात् सर्वामरैश्वर्यं हिरण्यकशिपुः पुरा ।[२२]
वर्षाणां दशलक्षाणि सोऽलभच्चन्द्रशेखराद् ।।"

तत् पुत्रस्तु नन्दन नाम्ना जगत्यस्मिन् प्रसिद्ध सन् भगवतः शिवस्य पूजां कृत्वा दससहस्त्रवर्षेषु इन्द्रपदमवाप—

"तस्याथ पुत्रप्रवरो नन्दनो नाम विश्रुतः ।[२३]
स च शर्ववरादिन्द्रं वर्षायुतमधोऽनयत् ।।"

जगत्यस्मिन् याज्ञवल्क्य इति नाम्ना प्रसिद्धः सन् य मुनिर्वेदेषु गीतोऽस्ति स भगवन्त महादेवं शिवमहर्निशं समाराध्योत्तमज्ञानमवाप—

"याज्ञवल्क्य इति ख्यातो गीतो वेदेषु यः मुनिः ।[२४]
आराध्य स महादेवं प्राप्तवान् ज्ञानमुत्तम् ।।"

भगवतो विष्णोरंशावतीर्ण वेदव्यासोऽपि भगवन्तं शिवमाराध्य त्रिकालज्ञानमवाप—

"वेदव्यासस्तु यो नाम्ना प्राप्तवानतुलं यशः ।[२५]
सोऽपि शंकरमाराध्य त्रिकालज्ञानमाप्तवान् ।।"

---

२०. शि० वि० सं० १७/१३१
२१. शि० उ० सं० २/४
२२. शि० उ० सं० २/५
२३. शि० उ० सं० २/६
२४. शि० उ० सं० २/१४
२५. शि० उ० सं० २/१५

तथेन्द्रेण तिरस्कृता: वालखिल्यादय: ऋषय: शिवप्रभावेण तत्पूजनेन च दुर्जयं सोमहर्त्तारं गरुणमवापु:—

"इन्द्रेण बाल्यखिल्यास्ते परिभूतास्तु शंकरात् ।।[२६]

लेभिरे सोमहर्त्तारं गरुणं सर्वदुर्जयम्" ।।

भगवत: शिवस्य रोषेण सर्वा आपो नष्टा अभवन् तदा सर्वै: देवै: शिवस्य समकपालेन यज्ञं विधाय जलं प्रवर्तितम्—

"आपः प्रनष्टाः सर्वाश्च पूर्वरोषात् कपर्दिनः ।[२७]

शर्वं समकपालेन देवैरिष्ट्वा प्रवर्तितम् ।।"

अत्रिमुने: भार्या अनुसूया त्रीणि वर्षशतानि च निराहारा भूत्वा मूसलेषु सूत्वा भगवत: शिवस्यानुकम्पया स्वपुत्रं दुर्वाससं मुनिं चन्द्रमसं दत्तात्रेयं चार्वाकं तथा चित्रकूटपर्वताद् गंगां प्रकटितवती—

"अत्रेर्भार्या चानुसूयया त्रिणि वर्षशतानि च ।[२८]

मुसलेषु निराहारा सुप्त्वा शर्वाः ततः सुतान् ।।

दत्तात्रेयं मुनिं लेभे चन्द्रं दुर्वाससं तथा ।

गंगा प्रवर्तयामास चित्रकूटे पतिव्रता ।।"

परमशिवभक्तो विकर्णश्च भक्तसुखवहं भगवन्तं शिवं प्रसाद्य महतीं सिद्धिमवाप—

"विकर्णश्च महादेवं तथा भक्तसुखावहम् ।[२९]

प्रसाद्य महतीं सिद्धिमाप्तवान् मधुसूदन ।।"

पिंगला नाम्नी वेश्या तथा मदरनाम्ना प्रसिद्ध: पापी ब्राह्मणो भगवन्तं शिवं मनसा भक्त्या च सम्पूज्य तौ सद्गतिं प्राप्नुत: स्म—

"पिंगला गणिका ख्याता मदराह्वो द्विजाधमः ।[३०]

शैवमृषधमभ्यर्च्य लेभाते सद्गतिं च तौ ।।"

महानन्दा नाम्नी काचिद् गणिका शिवचरणयोस्तत्परा भूत्वा शिवस्य दृढ भक्त्या भगवन्तं परमात्मानं शिवं प्रसाद्य परमां सद्गतिमवाप्ता—

---

२६. शि० उ० सं० २/१६

२७. शि० उ० सं० २/१७

२८. शि० उ० सं० २/१८-१९

२९. शि० उ० सं० २/२०

३०. शि० उ० सं० २/३०

"महानन्दाभिधा काचिद् वेश्या शिवपदादृता।[३१]
दृढात्पणात्सुप्रसाद्य शिवं लेभे च सद्गतिं।।"

गाधितनयो विश्वामित्रस्तु भक्त्या भगवन्तं शिवं सम्पूज्य ब्रह्मदेव ब्रह्मणा क्षत्रियोऽभूत्—

"कौशिकश्च समाराध्य शंकरं लोकशंकरं।[३२]
ब्राह्मणोऽभूत् क्षत्रियश्च द्वितीय इव पद्मभूः।।"

अखिललोकसृष्टिकर्ता ब्रह्मा भगवन्तं शिवं श्रद्धया परमया भक्त्या चाराध्य सृष्टिकरोऽभूत्—

"शिवमभ्यर्च्य सद्भक्त्या विरंचिश्शैवसत्तमः।[३३]
अभूत्सर्गकरः कृष्णो सर्वलोकपितामहः।।"

एवंप्रकारेण शिवमहापुराणे स्थले-स्थले भक्तानां विवेचनमेव दृश्यते। येषां प्राणिनां भगवन्तं शिवं प्रति शिवभक्तिं प्रति वा स्वाभाविकी श्रद्धा भक्तिश्च भवियति ईदृशाः जनाः इह लोके सर्वविधं सुखमुपभुज्य ते परलोके शिवसामीप्यं लभन्ते।

✻

---

३१. शि० उ० सं०२/३१
३२. शि० उ० सं० २/३८
३३. शि० उ० सं० २/३९

सामाजिक पर्यावरण में पातञ्जल योग की भूमिका

डॉ० श्रीमती बीना श्रीवास्तव
उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विद्याविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रतिवर्ष ५ जून को विश्वपर्यावरण दिवस मनाया जाता हैं ताकि लोगों का ध्यान इस समस्या के प्रति आकृष्ट किया जा सके। 'पर्यावरण-संरक्षण के लिये पर्यावरण को प्रदूषण से बचाना अत्यावश्यक हैं। आज पर्यावरण का ही एक रूप सामाजिक पर्यावरण भी एक 'समस्या' बन गई है। 'अहिंसा', सत्य, अपरिग्रह 'अस्तेय' ब्रह्मचर्य की कमी, शुचिता का ह्रास, असंतोष एवं रागद्वेषादि व्यक्तिगत जीवन के साथ सामाजिक जीवन पर भी कुप्रभाव डाल रहे हैं, जिससे सामाजिक पर्यावरण की समस्या बढ़ती जा रही हैं। उक्त स्थिति में सामाजिक पर्यावरण के संरक्षणार्थ पातञ्जलयोग की महती भूमिका हैं। आज पातञ्जल योगसूत्रों एवं विद्वानों के योग सम्बन्धी विचारों के तात्पर्य को सामाजिक पर्यावरण के सन्दर्भ में समझने की आवश्यकता है। एतदर्थ मैंने प्रस्तुत शोधपत्र में प्रयास किया है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्रों का प्रणयन किया हैं, जिसके अध्ययन से हमें 'सामाजिक पर्यावरण का बोध होता हैं। 'वितर्कबाघने प्रतिपक्षभावनम्' (२/३३) वितर्का हिंसादय: कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दु:खाज्ञानान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् (२/३४) 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् (१/३३), 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि' (२/२९) एवं 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा: (२/३०), जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम् (२/३१) इत्यादि— पातञ्जलयोगसूत्रो में सामाजिक-पर्यावरण के बीज स्पष्टत: दृष्ट होते हैं। अवधेय हैं कि 'पातञ्जलयोग' में प्रतिपादित 'अष्टाङ्ग योग' विशेषत: 'यम' एवं नियम सामाजिक-पर्यावरण के संरक्षण एवं पल्लवन में एक विशिष्ट भूमिका का निर्वहण करते है।

सामाजिक-पर्यावरण में 'पातञ्जलयोग' की भूमिका विषय पर विचार करने के सन्दर्भ में यह भी जानना आवश्यक होगा कि—'पर्यावरण' क्या है?

सामाजिक पर्यावरण क्या है? योग का क्या अर्थ है? अष्टांग-योग का क्या तात्पर्य है? एवं सामाजिक पर्यावरण में इनकी क्या भूमिका है? उक्त सन्दर्भ में विद्वानों का क्या मन्तव्य हैं एवं हम किस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं? यह भी विचारणीय हैं। 'पर्यावरण' पर विचार करते समय यह ज्ञात है परि उपसर्गपर्वूक 'आवरण' शब्द से 'पर्यावरण' बना हैं। आवरण शब्द आङ् पूर्वक वृधातु से ल्युट् प्रत्यय करने से होता है—जिसका अर्थ है—आच्छादन। परि का अर्थ है—चारों ओर से अर्थात् व्यापक। इस प्रकार पर्यावरण का अर्थ हुआ व्यापक आच्छादन। इस प्रकार जो कुछ भी हमारे चारो ओर स्थित हैं और जो रहन-सहन की दशाओं तथा मानसिक क्षमताओं को प्रभावित करता है, वही पर्यावरण हैं। पर्यावरण आंग्ल शब्द (Environment) का हिन्दी रूपान्तर है। 'पर्यावरण' जिसको हम 'इकोलाजी भी कहते है—यूनानी शब्द 'ओइकोस' से विकसित हुआ है—जिसका अर्थ है। 'घर' । व्यापक अर्थ में समाज भी एक घर है अत: 'पर्यावरण' का अर्थ सामाजिक पर्यावरण भी है मनुष्य एक सामाजिक प्राणी हैं। चूँकि हम समाज से घिरे हुए हैं। सामाजिक-पर्यावरण का प्रभाव हमारे ऊपर अवश्यमेव पड़ता हैं।

पर्यावरणाविद् डगलस और हालैण्ड के अनुसार पर्यावरण या वातावरण वह शब्द है जो समस्त बाह्य शक्तियाँ, प्रभावों और परिस्थितियों का सामूहिक रूप से वर्णन करता है जो जीवधारी के जीवन, स्वभाव, व्यवहार और अभिवृद्धि, विकास तथा प्रौढ़ता पर प्रभाव डालता हैं।

विद्वान् सी०सी० पर्क के अनुसार—"Environment is everything, that affects the individual except his genes". इस प्रकार सामाजिक-पर्यावरण का तात्पर्य मनुष्य एवं समाज का परिचय, उनके विचार एवं आचरण हैं। कर्मनिष्ठा, सत्यनिष्ठा, मनुष्य एवं जीवमात्र के प्रति संवेदनशीलता तथा भावात्मकता सामाजिक पर्यावरण के लिये स्वीकृत 'नैतिक गुण' हैं। इन नैतिक गुणों के अनुरूप आचरण करने से 'सामाजिक-पर्यावरण संरक्षित रहता हैं।

मनुष्य के अनैतिक आचरण से जहाँ 'सामाजिक-पर्यावरण' में ह्रास हुआ हैं। वही सदाचरण एवं सामाजिक-स्वीकृति से किये जाने वाले व्यावहारिक क्रियाकलापों से आशातीत उत्थान की किरणें भी प्रस्फुटित हुई हैं। प्राचीन समाज में ऐसी परम्परायें थीं, जो 'सामाजिक-पर्यावरण' को कोई क्षति न पहुँचाने के लिये मनुष्य को प्रेरित करती थी। लेकिन आज सामाजिक-परिवर्तन के कारण प्राचीन मूल्यों की

उपेक्षा हुई है, जिसके कारण सामाजिक पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। अत: 'सामाजिक-पर्यावरण का तात्पर्य नैतिकतापूर्ण ढंग से सामाजिक विकास हैं।

अब हम यह विचार करेगें कि—पातञ्जलयोग में 'योग' शब्द का क्या अर्थ है 'पातञ्जल योग' में योग शब्द का तात्पर्य समाधि है। योगभाष्यकार ने भी योग शब्द का अर्थ 'समाधि' माना हैं। योग: समाधि: समाध्यर्थक युज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर योग शब्द की निष्पत्ति हुई हैं। महर्षि पतञ्जलि ने 'योग' शब्द का लक्षण बतलाते हुए 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' कहा है इसका आशय यह हैं कि 'चित्तवृत्तियों का निरोध' 'योग' हैं।

'अविद्या', 'अस्मिता', 'राग', द्वेष, एवं अभिनिवेश इत्यादि क्लेशों की उत्पादिका वृत्तियों के आविर्भाव एवं चित्त की एकाग्रता का कारण योग है। अवधेय है कि क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध 'सामाजिक पर्यावरण' को अवश्यमेवं दृढ़मूल बनाता हैं। योग 'मन:क्षोभ' (जो कि शरीरिक क्षोभ का भी कारण है) का उपशमन करता हैं। यहाँ Paul dukes[१] महोदय का विचार द्रष्टव्य है—"It Should never be forgotten that the aim of Yoga is to establish a state of equilibrium between the body and mind so that they shall work together in harmcny"

एतत्पश्चात् हम पातञ्जल अष्टांगयोग (यमनियमादि) का क्या तात्पर्य है? एवं सामाजिक-पर्यावरण में यमनियमादि की क्या भूमिका हैं? इस तथ्य पर प्रकाश डालेगे। पातञ्जल योगसाधना के आठ अंग-यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानं एवं समाधि हैं। यथा अष्टाङ्ग योग का निर्देश करते हुये महर्षि पतञ्जलि ने कहा—'यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहर धारणाध्यानसमाधयोष्टावङ्गानि—(२/२९)। 'यम' 'अष्टाङ्गयोग' के प्रथम अंग के रूप में वर्णित हैं। महर्षि पतञ्जलि ने 'अहिंसा' 'सत्य', अस्त्रेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह—ये पांच 'यम' बतलाये हैं। भोजवृत्तिकार के मत में हिंसा सभी अनर्थों का मूल हैं। यहीं कारण है कि 'यम' के पञ्चरूपों में अहिसा का निर्देश सर्वप्रथम किया गया है।

अहिंसा का पालन करने के लिये हिंसा के स्वरूप को सम्यक् जान लेना परमाश्वयक हैं, क्योंकि हिंसा से बचना ही अहिंसा हैं। स्वयं की हुई हिंसा के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा कराये गये हिंसक कार्य अथवा अन्य द्वारा किये जाते हुये दुष्कृत्यों का अनुमोदन करना भी 'हिंसा' की श्रेणी में ही आता हैं। योगभाष्य[२] में कहा गया है—तत्र हिंसा सर्वथा सर्वदा सर्व भूतानामऽभिद्रोह: मनसा, वाचा एवं

कर्मणा किसी भी प्रकार से हिंसा नहीं करनी चाहिये। 'अहिंसा' में दूसरों के प्रति सद्भावना रखना अपेक्षणीय हैं। श्री विज्ञानभिक्षु[३] ने आश्रमविहित नित्यकर्म के अविरोधी अहिंसा के परिपालन का समर्थन किया हैं। निश्चित ही अहिंसा से सामाजिक पर्यावरण की नींव सुदृढ होगी।

'यम' की प्रतिष्ठा का फल योगसूत्रकार ने बतलाया हैं—'अहिंसा' प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। (२-३५) 'अहिंसा' के पालन से व्यापक प्रेम एवं विश्ववन्धुत्व की भावना का विकास होता हैं। अहिंसा वैरत्याग के साथ स्वस्थ सामाजिक पर्यावरण के संरक्षण में सहायता प्रदान करता हैं।

'यम' के दूसरे रुप सत्य को स्पष्ट करते हुये योगभाष्यकार[४] व्यास ने कहा है—'सत्य' यथार्थे वाङ्मनसे यथा दृष्टं यथानुमितं यधाश्रुतं तथा वाङ्मनसश्चेति परत्र स्वबोध संक्रान्तये वागुक्ता। तत्त्वैशारदीकार श्रीवाचस्पति मिश्र[५] का सत्य के विषय में वक्तव्य है 'स्वबोधसदृशबोधजननाय'। (Wood E[6]) का मन्तव्य हैं कि— Truthfulness in speech as the cement of friendship and social cortidence and whoever breaks that causes wide suspici on.

'सत्य' की प्रतिष्ठा होने पर 'क्रियाफलाश्रयत्व' होता हैं। महर्षि पतञ्जलि ने सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् (२/३६) कहा है। 'क्रियाफलश्रयत्व' का अर्थ बतलाते हुये भोजवृत्तिकार ने कहा है—क्रिया के न करने पर भी योगी उसके फल का उपयोग कर लेता हैं। इसी प्रकार जिसको भी वह किसी फल की प्राप्ति का आशीर्वाद देता हैं उसको भी उस फल की प्राप्ति हो जाती है—चाहे उसने उसकी अपेक्षित क्रिया की हो या नहीं।

वस्तुतः समाज में सत्य का जितना अधिक पालन किया जाता हैं, तो वहाँ उतनी ही समुन्नति परिलक्षित होती है। पारस्परिक विश्वास एवं प्रतिज्ञापालन से सामाजिक पर्यावरण निश्चित ही संरक्षित रहता हैं। यदि इस बात का निश्चय न रहे कि सम्बद्ध व्यक्ति अपने वचन का पालन करेगा या नहीं तो सामाजिक पर्यावरण असंतुलित हो जाता हैं। महात्मा गाँधी का जीवन दर्शन भी सत्य एवं अहिंसा पर प्रतिष्ठित था। अतः सामाजिक पर्यावरण में सत्य का भी विशेष अवदान हैं।

'यम' का तृतीय रूप 'अस्तेय' (चोरी न करना) भी सामाजिक पर्यावरण को संरक्षित करता हैं। 'भोजवृत्ति' के अनुसार 'स्तेयं पर स्वापहरणम् तदभावोऽस्तेयम्। अर्थात् दूसरे के धन को हरण करना 'स्तेय' हैं और उसका अभाव ही 'अस्तेय' है।

व्यासभाष्य[७] के अनुसार—'स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेध पुनरस्पृहारुपमस्तेयमिति।

महर्षि पतञ्जलि ने 'अस्तेयप्रतिष्ठायां। सर्वरत्नोपस्थापनम्—(२.३७) में बतलाया हैं कि 'अस्तेय' की पूर्ण प्रतिष्ठा (सिद्धि) होने पर साधक के समक्ष सभी रत्नों की उपस्थिति हो जाती हैं। भोजवृत्तिकार ने भी उक्त बात को ही स्पष्ट किया हैं। व्यासभाष्य[८] में भी स्पष्टत कहा गया है कि—'सर्वं दिक्स्थानस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि'।

वस्तुतः अस्तेय से दूसरे के धन, वस्तु इत्यादि को चोरी करने का भाव 'मन' से निर्गत हो जाता हैं। 'अस्तेय' से व्यक्तिगत चित्तशुद्धि के अतिरिक्त व्यापक सामाजिक तनाव भी न्यूनीकृत हो जाता हैं। अस्तेय से सामाजिक पर्यावरण स्वस्थ एवं संरक्षित रहेगा।

'यम' का चतुर्थ रुप ब्रह्मचर्य-मनुष्य को कायिक एवं मानसिक दृष्टि से सबल रखता हैं। भोजवृत्ति में 'ब्रह्मचर्य' को ब्रह्मचर्यमुपस्थस्य संयमः बतलाया गया है। 'योगसूत्र' में 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' (२/३८) प्रतिपादित किया गया हैं। तत्त्ववैशारदी[९] में स्पष्टतः कहा गया हैं—'वीर्यं सामर्थ्यं यस्य लाभादप्रतिघातान्गुणा-नमणिमादीनुत्कर्षमुपचिनोति।

वस्तुतः 'ब्रह्मचर्य' के पालन से संच्चरित्र, पवित्रता, धर्मपतिष्ठा, निर्भयता, सामाजिक प्रतिष्ठा, व्यक्तिगत सम्मान इत्यादि सद्गुणों का विकास होगा। इससे सामाजिक पर्यावरण प्रदूषण रहित होकर संरक्षित रहेगा।

'यम' का पञ्चम रुप 'अपरिग्रह' हैं। अपने स्वार्थ के लिये आवश्यकता से अत्यधिक 'धन' एवं भोग सामग्री का सञ्चय करना परिग्रह हैं। परिग्रह के त्याग का ही नाम अपरिग्रह हैं। 'तत्त्ववैशारदी' में श्रीवाचस्पति मिश्र ने कहा है—अशास्त्रीयाणामयत्नोपनतानामपि विषयाणां निन्दितप्रतिग्रहादिरुपदोषदर्शनात् ।

'योगसूत्र' में बतलाया गया हैं—'अपरिग्रहप्रतिष्ठायां जन्मकथन्तासंबोध' (२/३९)। 'अपरिग्रह' की प्रतिष्ठा होने पर पूर्वजन्मों का ज्ञान होता हैं। वस्तुतः अपरिग्रह का आचरण 'सामाजिक-पर्यावरण' को संतुलित एवं संरक्षित रखता हैं। मनुष्य अपनी सम्पत्ति पर अधिकार रखकर उसका उपयोग करता रहे—इसमें कोई आपत्ति नही हैं, पर उसे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अन्य व्यक्तियों को भी 'सामाजिक सम्पत्ति' में उचित भाग मिल सके और वे भी अपने जीवनोपयोगी वस्तुओं को आवश्यकता के अनुरूप प्राप्त कर सकें।

अवधेय हैं कि उक्त पांच यमों का परिपालन 'सार्वभौम' अर्थात् सबके साथ सब जगह और सब समय किया जाता है तो ये यम महाव्रत हो जाते हैं। यथा महर्षि पतञ्जलि ने जाति देश कालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्' (२/३१) .... को प्रतिपादित किया हैं।

वस्तुत, उक्त पांच प्रकार के 'यम' 'सामाजिक-पर्यावरण' को संरक्षित रखने की आधारशिला हैं।

'यम' के पश्चात् अष्टांग-योग का द्वितीय अंग 'नियम' हैं। सामाजिक-पर्यावरण के संतुलन में इनकी भी महती भूमिका हैं। 'शौच, 'सन्तोषं, तप, स्वाध्याय और 'ईश्वरप्रणिघान'—ये पांच नियम हें। यथा—'योगसूत्र' है—शौचसंतोषतप: स्वाध्यायेश्वखरप्रणिधानानिनियमा (२/३२)। इनमें से नियमान्तर्गत शौच का प्रथम स्थान हैं। 'शौच' का तात्पर्य हैं—जीवन के शारीरिक एवं मानसिक क्रियाकलापों के प्रत्येक क्षेत्र में 'शुद्धता' का अभ्यास। शरीर वस्त्र एवं आवासादिकी मलिनता का अपाकरण 'बाह्य शुद्धि' हैं। शुद्ध भोजनादि करना एवं सबके साथ यथायोग्य पवित्र व्यवहार (सदाचरण) करना भी 'बाह्यशुद्धि' ही हैं। जप, तप तथा शुद्ध विचारों तथा 'मैत्री आदि की भावना से अन्त:करण के रागद्वेषादि मलों को दूर करना आभ्यन्तर शौच हैं। श्रीवाचस्पतिमिश्र[१०] का कथन है—'चित्तमलामदमानासूयादय' महर्षिपतञ्जलि ने 'शौच' का फल बतलाया है—'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्ग: (२/४०) अन्त: एवं बाह्य शौच 'स्वास्थ्य का प्रमुख आधार हैं। स्वस्थ व्यक्तियों से ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता है और सामाजिक पर्यावरण सरक्षित रहता हैं। अन्त: शौच से चित्त के मल 'राग' 'द्वेष' 'मोह' इत्यादि भी दूर होते हैं। अत: 'सामाजिक-पर्यावरण' को स्वस्थ रखने का आधार 'शौच' भी हैं।

नियमान्तर्गत संतोष भी सामाजिक-पर्यावरण के सहायक तत्त्वों में अन्यतम हैं भोग की प्रवृत्ति मानव में स्वाभाविक रुप से पाई जाती हैं और वह 'जीवनरक्षा के लिये आवश्यक भी हैं। यदि हमारे में 'संतोष' की भावना न हो तो हम पर्याप्त से भी अधिक प्राप्त करके प्रसन्न नहीं हो सकते हैं। अतएव मनुष्य को अपनी तृष्णा को सीमित रखना चाहिये। वस्तुत: 'सुख प्राप्त करने का उपाय अपनी आवश्यकताओं को घटाना और अल्पप्राप्ति में भी संतोष करना हैं।

संतोष का फल सुख हैं। यथा—'योगसूत्र में कहा गया है—'संतोषादनुत्तमसुखलाभ: (२/४२) वस्तुत: कर्त्तव्यों का पालन करते हुये उनका जो परिणाम हो तथा जिन परिस्थितियों में रहना हो, उसी से संतुष्ट रहना ही 'संतोष' हैं। स्वामी अभेदानन्द[११]

का विचार द्रष्टव्य है। निश्चित ही 'संतोष' मनुष्य की चौर प्रवृत्ति का उपशमन करके सामाजिक-पर्यावरण में सहायता प्रदान करता है।

नियमान्तर्गत 'तप' स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान—'क्रियायोग' कहे जाते हैं। यथा 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग (२/१) योगसूत्र हैं। 'तप' से शक्ति और 'ज्ञानदीप्ति' प्राप्त होती है। जीवन में 'संघर्ष' आते हैं। ऐसी अवस्था में अपने अस्तित्व को स्थिर रखने और सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये दृढ़ता एवं सहिष्णुता की अपेक्षा हैं। तप से उक्त गुण की प्राप्ति हो सकती हैं। इससे 'सामाजिक-तनाव' में भी न्यूनता आती है। अतः 'तप' भी सामाजिक पर्यावरण के संरक्षण में सहायक है।

नियमान्तर्गत स्वाध्याय भी आत्मोन्नति एवं सामाजिक उत्कर्ष में सहायक हैं। प्रणवादि मन्त्रों का जप एवं शास्त्रों तथा धर्म ग्रन्थों इत्यादि का अध्ययन भी मन को शान्ति प्रदान करता हैं। 'जप' की 'अलौकिक शक्ति के द्वारा 'मन' में सामाजिक सद्भावना की चेतना भी आती हैं। अतः सामाजिक पर्यावरण के बीज के वपन एवं पल्लवन में 'तप' का भी योगदान हैं। व्यासभाष्य (२/३२) में कहा गया है—स्वाध्याय मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा।

योगसूत्रं में कहा गया है—'स्वाध्यायादिष्ट-देवतासंप्रयोग (२/४४) व्यासभाष्य। (२/४४) में कहा गया हैं—'देवाऋषय सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्त्तन्त इति।

नियमान्तर्गत ईश्वरप्रणिधान भी सामाजिक पर्यावरण में सहायक हैं। ईश्वर भक्ति से 'सुख' एवं शान्ति की प्राप्ति होती हैं। ईश्वर-प्रणिधान से व्याधि स्त्यान' संशय प्रमाद 'अविरति', रागद्वेषादि, दुर्गुणों का अपाकरण होता हैं एवं सामाजिक पर्यावरण का संरक्षण भी होता हैं। एक धार्मिक व्यक्ति मिथ्याभाषणं, हिंसा स्त्रोयादि नहीं करता हैं। वह सर्वे भवन्तु सुखिनः की भावना से प्रयुक्त रहता हैं। व्यासभाष्य (२/३२) में स्पष्ट किया गया है—ईश्वर प्रणिघानतस्मिन्परमगुरै सर्वकर्मार्पणम् ।

इस प्रकार नियम भी सामाजिक-पर्यावरण के संरक्षण में अपनी भूमिका का निवर्हण करते हैं।

इसी प्रकार 'अष्टांग-योग' के अन्य अंग 'आसन', 'प्राणायाम', 'प्रत्याहार' 'धारणा' ध्यान एवं 'समाधि' भीं प्रकारान्तर से 'सामाजिक-पर्यावरण' को संरक्षित करते हैं।

'आसन का लक्षण बतलाते हुये योग सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने कहा हैं— 'स्थिरसुखमासनम्' (२/४६)। योगभाष्यकार ने पद्मासन, 'वीरासनादि-आसनों का उल्लेख भी किया हैं। आसन की सिद्धि होने का फल योगसूत्र में बतलाया गया है— 'ततो द्वन्द्वानभिघातः (२/४८)। 'आसन' से शारीरिक एवं मानसिक विश्रान्ति प्राप्त होती है। आसनों का अभ्यास दैनिक जीवन के तनाव को भी कम करने के लिये किया जाता है। इस प्रकार 'समाज' को तनावमुक्त रखने में भी 'योगासनों' का महत्त्व हैं। योगासन मन को स्थिर रखते हुये शरीर एवं मन दोनों को निरोग रखते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चित्त की एकाग्रता एवं आधि व्याधि के निवारण में योगासनों की भूमिका हैं। अतः योगासन भी स्वस्थ-समाज के निर्माण द्वारा 'सामाजिक-पर्यावरण' के संरक्षण में सहायक हैं।

अष्टांग-योग में आसन के पश्चात् 'प्राणायाम' का स्थान हैं। योगसूत्र—तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः (२/४९) योगभाष्यकार का भी विचार हैं कि आसनों की सिद्धि के उपरान्त ही 'प्राणायाम का अभ्यास करणीय हैं सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कौष्ठयस्य वायोन्निसारणं प्रश्वासः, तर्योगतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः (२/४९)

'प्राणायाम' का उद्देश्य उस जीवन-शक्ति को नियन्त्रण में रखना हैं जो कि समस्त इन्द्रियवृत्तियों को गति प्रदान करती हैं एवं जिसके नियन्त्रण से इन्द्रियां स्वतः नियन्त्रित हो जाती है। इस प्रकार साधक व्यक्ति अपने चित्त को भी क्रमशः नियन्त्रित कर सकता हैं। 'भोजवृत्ति' में उक्त बात स्पष्ट की गई हैं।

'प्राणायाम की पूर्णतः सिद्धि होने पर प्रकाशावरण क्षीण हो जाता हैं। योगसूत्रकार का कथन है—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' (२/५२)। विवेकज्ञान को आवृत्त करने वाली अविद्या नष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्राणायाम से रागद्वेषादि का उपशमन एवं सम्यक् बुद्धि का उदय होता हैं। व्यक्तिगत-हित का अतिरिक्त सामाजिक हित की भावना का भी उदय निश्चित ही सामाजिक-पर्यावरण में 'प्राणायाम' की भी उपयोगिता हैं।

'अष्टांगयोग' के अन्तर्गत 'प्रत्याहार' भी परिगणित हैं। प्रत्याहार स्वनियन्त्रण की प्रक्रिया हैं जिसमें व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से पृथक् रखता हैं। यथा योगसूत्र है—स्वविषयासं प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः, (२/५४)।

योगसूत्रकार 'प्रत्याहार' का फल बतलाते है—'ततः परमवश्यतेन्द्रियाणांम् (२/५५)। वस्तुतः प्रत्याहार से इन्द्रियों का वशीकरण होता हैं। 'प्रत्याहार' से व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त सामाजिक-जीवन में भी संयम रखता हैं। इससे भी सामाजिक पर्यावरण को बनाये रखने में सहायता मिलती हैं।

अष्टांग-योग में परिगणित धारणा, ध्यान एवं समाधि (जो कि अष्टांग-योग को अन्तिम तीन अंग है—भी व्युत्थित् चित्त को एकाग्र एवं शान्त करके 'सामाजिक-पर्यावरण का संरक्षण करते हैं। 'धारणा ध्यान' एवं समाधि को सम्मिलित रुप से संयम कहा जाता हैं। यथा योगसूत्र—'त्रयमेकत्र संयमः हैं योगसूत्रकार ने धारणा। ध्यान एवं समाधि का लक्षण बतलाते हुये सूत्रों को प्रतिपादित किया है—देशबन्ध-श्चितस्य धारणा (३/१) तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (३/९) एवं 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं समाधिः (३/३)।

वस्तुतः धारणा, ध्यान एवं 'समाधि' 'चित्त' की एकाग्रता की उत्तरोत्कर्ष अवस्थायें हैं। 'चित्त' की एकाग्रता से मनुष्य का मन शान्त एवं क्लेशरहित हो जाता हैं। इस प्रकार चित्त की एकाग्रता के उपाय योगाङ्ग धारणा, ध्यान एवं समाधि भी रागद्वेषमोहादि के उपशमन द्वारा सामाजिक-सद्भावना को प्रदर्शित करते हुये 'सामाजिक-पर्यावरण' को संतुलित एवं संरक्षित रखते हैं।

अब हम कतिपय विद्वान् दार्शनिकों के 'वक्तव्य' का अवलोकन करेगे जिनसे प्रकारान्तर से सामाजिक-पर्यावरण में 'अष्टांग-योग' की भूमिका पर प्रकाश पड़ता हैं। पं० श्रीराम शर्मा आचार्य[१२] का विचार द्रष्टव्य है—'यम, नियम की उपयोगिता मात्र योगियो। (साधकों) के लिये नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव-समाज के लिये हैं। सभी अवस्थाओं में उनका पालन मानव में प्रेमादि, भाईचारा बढ़ाकर 'विश्वबन्धुत्व' का भाव विकसित करना हैं।

'Encyclopacdia of Religion and Ethics[13] में भी कहा गया है—The yoga praxis consists in a series of stages which have to be travers in which external aids play a large part. Various bodily attitudes, named asanas are prescribed. The courting of inhalation and exhalations but especially the holding of the breath.

Dr. S.N. Dashupta[14] का कथन हैं—Like Jainism, Yoga counts ahimas as the one moral ideel, for all external conduct and all

the other virtues are subordinate to it in the sense that ahimisa includes them all."

C.D. Sharma[15] का मन्तव्य है—'Yoga advoctaes control over the body, the senses and the mind It does not want to kill the body, on the other hand it recommends its perfection. Sound mind. needs a sound body. Sensual attachment and passicns distract the body as well as the mind. They must be congured to over come them. Yoga gives us the eight fold path of discipline.

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी[१६] का विचार है—'इन अष्टांगयोगों के अनुष्ठान से चित्त के मल धुल जाते हैं। अविद्यादि क्लेशों का विनाश होता है।

डॉ० आई०पी० सचदेव[१७] का कथन है—'Rajayoga intended to bring the body and mind to the highest possible peak of health and efficiency.

विद्वान् के० दामोदर[१८] का विचार हैं—"All these were intended to overcome sensuous attachments and passions which distracted the mind. The second step. niyama meant the deepening of regular habits and servunces self culture.

M. Eliade[19] का मत है— 'Yogic practice in their less extreme forms are believed to be conducive to health, clarity of intellect. and long life.'

Dr. S.N. Dasgupta[20] का कथन अवधेय है— 'The purposes of yoga meditation is to steady the mind on the gradually advancing stages of thoughts towaras liberation. so that vicious tendencies may gradually be more andnore weakened and at last disappear altogether...... Thus the intending yogin should practise absolute non injury to all living beings (ahimsa) absolute and strict truthfulness.'

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों के विचारों से यह ध्वनित होता हैं कि सामाजिक-पर्यावरण के 'बीज' 'पातञ्जल-योग' में विद्यमान हैं। वस्तुत: सामाजिक-पर्यावरण के

संरक्षण में अष्टांङ्ग-योग की 'भूमिका' है।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि 'सामाजिक-पर्यावरण' के बीज 'पातञ्जल योग' में वर्तमान हैं।

'पातञ्जलयोग' (अष्टांङ्ग-योग-विशेषत: यमनियमादि) व्यष्टिगत-कल्याण एवं समष्टिगत-कल्याण का हेतु बनते हुये निश्चित ही सामाजिक पर्यावरण को स्वस्थ एवं संरक्षित रखता हैं। पातञ्जल-योगसाधना सामाजिक-पर्यावरण को विषाक्त करने वाले राग, द्वेष, काम क्रोधादि चित्तगत दोषों का उपशमन करता हैं। योग-साधना मन: क्षोभ एवं 'कायिक' क्षोभ दोनों का ही उपशमन करके स्वस्थ मन एवं स्वस्थ शरीर के निर्माण में सहायक होता हैं। अवधेय है कि स्वस्थ्य व्यक्तियों से ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता हैं। अत: स्वस्थ सामाजिक-पर्यावरण के निर्माण में 'पातञ्जलयोग' का अवदान है। यमनियमादि में सामाजिक-पर्यावरण को पल्लवित एवं पुष्पित करने वाले सद्गुणों एवं 'नैतिक मूल्यों' का समावेश है। वस्तुत: योगपरक विचार सामाजिक उत्थान में सहायक होते हुये 'सामाजिक-पर्यावरण' को संतुलित करते हैं। 'सामाजिक-पर्यावरण' के संरक्षण के लिये दान, दया, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच संतोष, तप, उपासना इत्यादि मूल्यों को महत्त्व देना चाहिये और इनका अपने जीवन में प्रयोग भी करना चाहिये। निश्चित ही समाज के प्रति नैतिक एव उदार विचार ही 'सामाजिक-पर्यावरण' को प्रदूषण से बचाते हैं। परिग्रह एवं असंतोष के कारण ही समाज में 'भ्रष्टाचार', स्तेय, आतंक इत्यादि व्याप्त हैं। अत: पातञ्जलयोग में प्रतिपादित यमनियमादिं के परिपालन का अत्यधिक महत्त्व हैं। वस्तुत: पातञ्जल योगसाधना चित्तशुद्धिकारक होने से मानव व्यक्तित्व में सुधार लाकर मनुष्य को रोगों से प्रभावित होने से बचाते हुये 'सामाजिक-पर्यावरण' में अपनी 'भूमिका' का निवर्हण करती हैं। अवधेय हैं कि मनुष्य एक सामाजिक-प्राणी हैं। स्वस्थ एवं सौष्ठवपूर्ण व्यक्तित्व से सम्पन्न जनसमूह ही सामाजिक-पर्यावरण को स्वस्थ एवं संरक्षित रखते हैं।

वस्तुत: पातञ्जलयोग में निहित विचार 'सामाजिक-संघर्षों' के अपाकरण के द्वारा सामाजिक-पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाते है। यहाँ डा० राममूर्ति शर्मा[२१] का कथन अवधेय है—विश्वसमाज यह अनुभव करने लगा हैं कि मनोवैज्ञानिक एवं योगवेदान्तपरक विचारों से अनेक आधुनिक मानसिक व्याधियों का निवारण किया जा सकता हैं एवं समाज के विभिन्न राजनैतिक संकटो एवं संघर्षो को दूर किया जा सकता है।

वस्तुत: महर्षि पतञ्जलि ने सामाजिक-पर्यावरण के लिये उपयोगी सिद्धान्तों को योगसूत्रों के माध्यम से सरल एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया हैं। अवधेय हैं कि एतदर्थ पातञ्जल योगसूत्रों के अध्ययन के लिये सामाजिक-पर्यावरणीय दृष्टि होनी चाहिये। अत: मेरा विनम्र सुझाव है कि—'सामाजिक-पर्यावरण' के पाठ्यक्रम में "पातञ्जलयोगसूत्रम्" को भी स्थान मिलना चाहिये, जिससे सामाजि पर्यावरण के क्षेत्र में अधिकाधिक विकास हो सके। मेरा यह भी मत हैं कि—सामाजिक-पर्यावरण (Social Environment) से सम्बद्ध योगसूत्रों का केवल सैद्धान्तिक-ज्ञान ही नहीं होना चाहिये, बल्कि उसका जीवन में प्रयोगीकरण भी होना चाहिये। वस्तुत: सामाजिक-पर्यावरण के विद्वानों का ध्यान पातञ्जलयोगसूत्रों के प्रति भी होना चाहिये।

इस प्रकार मैंने प्रस्तुत 'शोधपत्र' में सामाजिक पर्यावरणीय दृष्टि से पातञ्जल-योगसूत्रों एवं विशिष्ट दार्शनिक विद्वानों के विचारों का अध्ययन करके अपने विचारों को उपस्थापित किया हैं। हम नि:संशय कह सकते हैं कि 'सामाजिक-पर्यावरण' में 'पातञ्जलयोग' की महती भूमिका हैं। विशेषत: 'यम' एवं नियम में अन्तर्हित नैतिक उवं सामाजिक मूल्यपरक सिद्धान्तों के जीवन में उपयोग से सामाजिक-पर्यावरण को प्रदूषणरहित एवं स्वस्थ बनाने में सद्य: परिणाम परिलक्षित होंगे—ऐसा मेरा मत है।

*

सन्दर्भ-सूची

१. Paul Dukes—'The yoga of Health, youth and Joy'. P. 100

२. 'व्यासभाष्य'' (२/३० (योगसूत्र)

३. 'योगवार्त्तिक' पृष्ठ २४४

४. 'व्यासभाष्य' (२/३०)

५. 'तत्त्ववैशारदी'— पृष्ठ २४३

६. Wood E.—'Great system of Yoga'- p. 48

७. 'व्यासभाष्य' — २/३० (यो०सू०)

८. 'व्यासभाष्य' — २/३७ (,,)

९. 'तत्त्ववैशारदी' — पृष्ठ २२०

१०. 'तत्त्ववैशादी' — पृष्ठ २४८

११. Abhedanand—'Yoga-Psychology' p. 10-11

१२. पं० श्रीरामशर्मा आचार्य, माता भगवती देवी शर्मा—''योगदर्शन'' भूमिका पृष्ठ ९

१३. James Hastings — "Encyclopaedia of Religion and Ethics' Vol. XII, p. 832.

१४. Dr. S.N. Dasgupta —"Yoga philosophy in relation to other systems of Indian thought." p. 302

१५. Dr. C.D. Sharma—'A critical survey of Indian Philascpthy.' p. 171-172

१६. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी —''भारतीय-दर्शन'' पृष्ठ २४१

१७. Dr. I.P. Sachdeva—'Yoga and Depth of Psychology.' p. 122

१८. Damodaran, K, 'Indian thought : A critical servey' p. 169

१९. M. Eliade—'Yoga-Immortality and Freedom.

२०. Dr. S.N. Dasgupta—'A History of Indian Phlosophy. p. 270

२१. डॉ० राममूर्ति शर्मा—'भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा', पृष्ठ ६१६

*

वैशेषिक दर्शन दिशा परमाणु विज्ञानम्

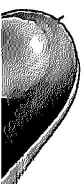
डॉ० हरेराम त्रिपाठी*

उपाचार्य सर्वदर्शनम्

श्री लाल-बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय-संकृत विद्यापीठम् नवदेहली

परपाणु: इत्यत्र मूलत: शब्दद्वयं विद्यते। परमश्च असौ अणु: इति परमाणु:। परम: सर्वचरमक: अणु: इति परमाणु:[1]। पृथिवीजलतेजवायूनां द्वयणुकानाम् अवयव:। स च नित्य: निरवयव: तत: किमपि सूक्ष्मं न विद्यते। अंणति सूक्ष्मत्वं गच्छति इति अणु:[2] (अण् + उन्) (लवलेसशकलाणव: इत्यमर:) मेदिनी कोषानुसारं तस्यार्थ: क्षुद्रं, सूक्ष्मम् इति। तस्य अन्येऽपि अर्था: भवन्ति लेश:, व्रीहिविशेष:, सूक्ष्मधान्यम्, भाषायां चिना यथा मनुस्मृतौ। न गृहीयात् शुल्कमण्वप्रि[3]।

वस्तुत: अणुशब्दस्यात्र अणुपरिमाणमर्थो विवक्षित:। परमशब्दस्य सूक्ष्मत्वमर्थ: इति। तथाच अतिशयेन सूक्ष्मत्वमिति परमाणुशब्दार्थ:। परमाणु: परमसूक्ष्म:, आदिरवयव:, स्वयं निरवयव:, अतीन्द्रिय: नित्यश्च भवति इति न्यायवैशेषिकयो: सिद्धान्त:। अत एव केनचिदुक्तम्—



जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः ।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ।।

केचित् तु 'सूक्ष्मस्य रजस: षष्ठितमो भाग: इत्यपि वदन्ति। मूर्तत्वे सति निरवयवत्वम् परमाणो: लक्षणमित्यत्र न विवादो विद्यते। बौद्धानां मते तु उत्पत्तिविना-शवन्त: क्षणभङ्गुराश्च परमाणव: सन्न समीचीनम् प्रतिभाति यतोहि परमाणु: यदि अनित्य तर्हि तस्यापि तर्हि तस्यापि केचन अवयवा: भवन्ति, सोऽपि सावयव: अनया रीत्या अनवस्थादोष: आपतति। पृथिवीजलतेजोवायव: नित्यानित्यभेदेन द्विविधा: भवन्ति।[4]

---

१. शब्दकल्पद्रुम भाग ३ पृष्ठ सं० ५०

२. ,, ,, भाग १ पृ० स० २४

३. तदेव ,, ,, २४

४. नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा।।३६।। का पृ०सं० ८८ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

नित्यास्तुपरमाणव एव सन्ति। पारिमाणुल्यम् नाम अणुपरिमाणन्तत्तु कस्यापि कारणं भवति। परमाणोः परिमाणम् अणुपरिमाणं भवति। पृथिवी परमाणौ रूपरसगन्धस्पर्शाः ये भवन्ति ते सर्वे अनित्याः भवन्ति यतोहि अग्निसंयोगात् तेषां नाशो भवति। परन्तु जलतेजोवायु परमाणुषु रुपसरसास्पर्शाः ये सन्ति ते सर्वे नित्याः भवन्ति इति । यथा जलपरमाणुषु रूपरसस्पर्शा, तेजः परमाणुषु रूपस्पर्शौ, वायुपरमाणुषु स्पर्शश्चेति नित्याः भवन्ति।

उक्तञ्च

जलादिपरमाणौ तन्नित्यमनयत् सहेतुकम्[१] ।

तैरेव परमाणुभिः आद्युपादानैः द्व्यणुकत्रसरेण्वादिक्रमेण स्थूलपृथिवीजलतेजोमरुतश्च सृजति परमेश्वरः। यथा आयोजनं परमाणुकर्म तथाच सर्गाद्यकालीनं द्व्यणुकारम्भक परमाणुकर्म यत्नजन्यं प्रयत्नवदात्मसंयोगजन्यं वा कर्म्मत्वात् अस्मदादिशरीरकर्मवत्। प्रलयेऽतिस्थूलनाशानन्तरं परमाणुक्रिया विभागपूर्वसंयोगनाशादिक्रमेण द्व्यणुकनाशात्तिष्ठन्ति परमाणवः इति। यथा—

दोधूयमानास्तिष्ठन्ति प्रलये परमाणवः ।

परमाणुषु महत्त्वगुणस्य अभावो भवति। अतः परमाणवः अतीन्द्रियाः भवन्ति। केचन कालविशेषः परमाणुः इत्यपि वदनित।

उक्तञ्च

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्तेपरमाणुताम् ।
सतो विशेषभुग् यस्तु कालः स परमो महान् ।।[२]
अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्तसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात् ।।

अस्यार्थः सतः प्रपञ्चस्य परमाणुतां परमाण्वस्थां यो भुङ्क्ते स कालः परमाणु तस्यैव अविशेषं साकल्यं यो भुङ्क्ते स परममहान् । ग्रहर्क्षताराचक्रस्य इत्यादिना यत् सूर्यपर्यटनं वक्ष्यति तत्र सूर्यो यावता परमाणुदेशमतिक्रामति तावान् कालः परमाणुः। यावता च द्वादशराश्यात्मकं सर्वं भुवनकोषमतिक्रामति स परममहान् संवत्सरात्मकः तस्यैवावृत्त्या युगमनवन्त रादिक्रमेण द्विपरार्द्धन्तत्वमिति। द्वौ परमाणू अणुः स्यात्

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० सं० ९९
नित्यवादि प्रथमवत् किन्तु देहमयोनिजम् ।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः ॥

२. शब्दकल्पद्रुम भाग ३ पृ० सं० ५१

त्रयोऽवयवाः त्रसरेणुः स तु प्रत्यक्ष इति। गवाक्षप्रविष्टेषु अर्करश्मिषु अवगतः कोऽसौ योऽतिलघुत्वेन खमेवानुपतन् आगात् गतः। पातञ्जलयोगदर्शनेऽपि परमाणुद्रव्यस्य निरूपणमुपलभ्यते। 'प्रवृत्यालोकन्यासात् सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम्[1] अत्र सूक्ष्मपदस्य भोजवृत्तिकारः अर्थं प्रतिपादयति परमाण्वादिः[2] इति। तेन इदं वक्तुं शक्यते यत् परमाणोः सत्ता योगदर्शने अपि स्वीकृता विद्यते।

वैशेषिकसूत्रे परमाणोः सत्तां निरूपयन्नाह कणादः—

सदकारणवन्नित्यम्[3] अर्थात् यः सत्, अकारणवत् अथ च नित्यं भवति स च परमाणुः। सत्त्वे सति कारणरहितत्वे सति नित्यत्वे सति अणुत्वं परमाणोः लक्षणम् । अकारणवत् इत्यनेन घटादीनां व्यवच्छेदो भवति। प्रागभावेऽतिव्याप्तिवारणाय सदिति। सदित्यस्यार्थः सत्तायोगी इति। समवायविशेषपदार्थयोः सत्तैकार्थसमनाय एव सत्तायोगः, सामान्यान्तरस्य, सत्तायाश्च सत्प्रत्ययविषयतैव सत्तायोगः। परमाणोः सिद्धिमनुमानप्रमाणेन कुर्वनाहसूत्रकारः 'तस्य कार्यं लिङ्गम्[4] अर्थात् तस्य परमाणोः कार्यं घटादिः, लिङ्गम्। अथवा त्रसरेण्वादिकार्यद्रव्यम् अनुमापकं भवति परमाणोः। तथाहि अवयवावयविधारायाः अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्गः अनन्तावयवारब्धत्वाविशेषात्, अतः, क्वचिद्विश्रामो वाच्यः[5]। न च त्रसरेणौ विश्रामः त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वाद् घटवद् इत्यनुमानेन द्व्यणुकरूपतदवयवासिद्धेः। न च एवं क्रमेण तदवयवधारापि सिद्धयेत्, अनवस्थाभयेन अनुकूलतर्का भावेन च तत्कल्पनाया असम्भवात् । मम तु अनेकद्रव्यवत्त्वप्रयोज्यं त्रसरेणोः जन्यमहत्त्वमेव अनुकूलतर्कसम्पादकम् ।

शङ्करमिश्रः परमाणोः सिद्धिं कुर्वनाह—

'अवयवायवविप्रसङ्गस्तावदनुभूयते स यदि निरवधिः[6] स्यात्तदा मेरुसर्षपयोः परिमाणभेदो न स्यात् अनन्तावयवारब्धत्वाविशेषात्'। तस्मात् निरवयवं द्रव्यमवधिः स एव परमाणुः इति। अत्र केचनाशङ्कते त्रसरेणुरेव अवधिः स्यात् इति चेन्न तस्य चाक्षुषद्रव्यत्वेन महत्त्वादनेकद्रव्यववाच्च, महत्त्वस्य चाक्षुषप्रत्यक्षत्वे कारणत्वम् अनेकद्रव्यवत्त्वमादायैव, अन्यथा महत्त्वमेव न स्यात् कस्य कारणत्वं भवेत्। न च

---

१. पातञ्जलयोगदर्शनं भोजवृत्तिसहितम् भारतीयविद्या प्रकाशनम् पृ० सं० २०८

२. ,, ,, भोजवृत्ति पृ० सं० २०८

३. वैशेषिकदर्शनम् उपस्कारहितम् पृ० सं० १७१ वै० सू० अ० ४ आ०१सू०१

४. वैशेषिकसूत्रम् पृ० सं० १७३ अ० ४ आ० १ सू०२

५. वैशेषिकसूत्रम् चन्द्रकान्तविचितवैशेषिक भाष्यम्

६. वैशेषिकसूत्रमुपस्कारः पृ० १७३

त्रसरे अवयवा एव परमाणवः, महद्द्रव्यारम्भकत्वेन तेषामपि सावयवानुमानात् तन्तुवत् कपालवच्च। तस्मात् यत् कार्यद्रव्यं तत् सावयवम् यच्च सावयवं तत्कार्यद्रव्यम्। तथाच यतोऽवयवात् कार्यत्वं निवर्तते तत्र सावयवत्वमपि इति निरवयवपरमाणुसिद्धिरिति। अत एव प्रशस्ताचार्येणोक्तं' सा च द्विविधा नित्या चानित्या च[१] इति। चन्द्रकान्तपण्डितः अत्रवदति यच्च परमं कारणं यदेतत्कार्यकारणभावप्रसङ्गस्यावधिभूतं तन्निरवयवम् । सावयवानि खलु कार्याणि भवन्ति। यथा एतल्लोष्ठस्य खलु प्रविभज्यमानावयवस्याल्पमल्पतरमल्पतममुत्तरमुत्तरं भवति। स चाल्पतरप्रसङ्गो यस्मात् नाल्पतरमपि यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्तते। सोऽयं परमाणुः इति। स खलु अयं परमाणुः मूर्तिमान् परिच्छिन्नो भवति द्वाभ्यां चाणुभ्यां पार्श्वद्वये संयुज्यमानस्तयोर्व्यवधानम् करोति। सोऽयं स्पर्शवान् अणुरण्वोर्व्यवधानहेतुरिति।

परमाण्वोः नित्यत्वानित्यत्वविषये केचन आशङ्कन्ते । परमाणुर्ननित्यः मूर्तत्वात्, घटवत् एवं रूपवत्त्वरसवत्त्वादयः प्रत्येकं हेतव उन्नेयाः, एवं षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता, तथाच सावयवत्वात् अव्याप्यवृत्तिसंयोगाश्रयत्वात् । यदि परमाणोमध्ये यदि आकाशं वर्तते तदा सच्छिद्रत्वेनैव सावयवलम्, अथ नास्ति तदाकाशस्यासर्वगतत्वप्रसङ्गः। किञ्च छायावत्त्वात् आवृत्तिमत्त्वात्। अपि च यत् सत् तत् क्षणिकमित्यादि क्षणिकत्वसाधकत्वानुमानादपि परमाणोरनित्यता तथाचैतावती चेदनुमितिपरम्परा तदा कथमुच्यते परमाणुः नित्य एव। अत एव परमाणोः अनित्यत्वविषया सर्वाप्यनुमितिः अविद्या अर्थात् भ्रमरूपा आभासप्रभवत्वात् आपाततो धर्मिग्राहकमानबाधः सर्वत्र विपक्षबाधकप्रमाणशून्यत्वाद् व्याप्यत्वासिद्धिः क्वचिद् स्वरूपासिद्धिः। अत्र विवृतिकारः वदति—

'परमाणुः नित्यः द्रव्यत्वात्, मूर्तत्वात्, रूपवत्त्वात्' अत्र प्रतिपक्षी अनुमानाकारं वदति 'परमाणुः[२] अनित्यः सावयवत्त्वात् अव्याप्यवृत्तिसंयोगाश्रयत्वात् वा घटवद् इत्याद्यनुमानात् परमाणौ अनित्यत्वं साधितं भवति।

तन्न अप्रमात्वात् । परमाणोरनित्यत्वानुमितिः दुष्टहेतुजन्यत्वात् भ्रमात्मिका[३] एव न तु प्रमात्मिका।

अत्र जिज्ञासा जायते यत् यदि परमाणोः सत्ता विद्यते तर्हि कथं न तस्य ग्रहणं भवति इति चेन्न महत्त्वे सति अनेकद्रव्यवत्त्वे सति उद्भूतरूपं च यत्र विद्यते तस्यैव

१. प्रशस्तपादभाष्यम् पृथिवीनिरूपणप्रकरणम् ।
२. वैशेषिकसूत्रं विवृत्ति टीका पृ०सं० १७६
३. 'अविद्या' वैशेषिकसूत्रम् अ० ४ आ० १ सू० ५

द्रव्यस्य प्रत्यक्षं जायते। परन्तु परमाणौ महत्त्वगुणस्याभावो विद्यते अतिशयेन अणुत्वादतः परमाणोः विद्यमानत्वेऽपि प्रत्यक्षं न जायते। न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकारः परमाणोः सिद्धिं कुर्वनाह अवयविनः 'अवयवधारायाः अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्गः अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः। यत्र तु विश्रामस्तस्यानित्यत्वेऽसमेवतभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः इति तस्य नित्यत्वम् । महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाण-तारतम्यस्यापि क्वाचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः। अर्थात् यदि मेरोः महापर्वतस्य अवयवविभागाः क्रियेरन्, अथ च ततोऽन्तनिकृष्टस्य सर्षपबीजस्यापि अवयवाः विभज्येरन्। परमुभयोः कुत्रापि अवयवविभागविश्रान्तिर्न स्वीकृता स्यात्, तदावश्यं स्वीकर्त्तव्यं भवेत्, यदुभयोः परिमाणकारणीभूता। अवयवसंख्या तुल्यैव स्यात्। अवयवसंख्यातौल्ये चोभयोः परिमाणसाम्ये तौल्यापत्तिः, ननु एवं दृश्यते। तस्मादवयवधारायाः क्वचिद्विश्रान्तिरवश्यं स्वीकार्या। यदि अवयवधारायाः यो विश्रामस्य आश्रयः असौ चेदनित्यः तर्हि तस्य किमपि समवायिकारणं वक्तव्यम्, अन्यथा भावकार्योत्पत्तिर्न स्यात्। नित्यश्चेत्तदा स एवास्माकं परमाणुः। अनया रीत्या परमाणोः सिद्धि सम्पादयितुं शक्यते। अनेकावयविजन्यद्रव्यत्वेन त्र्यणुके अपकृष्टमहत्त्वमुत्पद्यते। अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकावयविजन्यद्रव्यत्वस्य प्रयोजकत्वम् यतः। यदि तु त्र्यणुके चाक्षुषद्रव्यत्वं स्वीक्रियेत, न तु सावयवत्वम्, तदा अपकृष्टमहत्त्वानेकावयविजन्यद्रव्यत्वयोः कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्ग एव स्यात्। तस्मात् त्र्यणुके सावयवत्वम् अकामेनापि अभ्युपेयम्। त्रसरेणोः अवयवे द्व्यणुके एव अवयवत्वधाराया विश्राम स्यात् इत्युच्यते। तदपि न यो महदारम्भकोऽवयवः स घटाद्यारम्भककपालादिवत् सावयव एव भवति न तु निरवयवः। अस्ति च द्व्यणुके महतस्त्रसरेणोरारम्भकत्वम् । द्व्यणुकस्य यः अयवयवः स च परमाणुः नित्यः निरवयवः अतीन्द्रियश्च।

✵

बौद्धसंघ की जन्मस्थली : सारनाथ

डॉ० रमेश प्रसाद

वरिष्ठ प्राध्यापक, पालि एवं थेरवाद विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००२

बौद्ध इतिहास में सारनाथ एक अविस्मणीय स्थल है। किसी भी स्थल को अविस्मरणीय तभी कहा जाता है, जब वह किसी अभूतपूर्व घटनाओं से प्रभावित रहता है। यद्यपि सारनाथ हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म एवं दर्शन का केन्द्र रहा है, तथापि वह बौद्ध दृष्टि से ही विशेष रूप से आख्यात है। बौद्धों के लिए सारनाथ की महत्ता इसी से लगाई जा सकती है कि स्वयं भगवान् बुद्ध ने महापरिनिब्बानसुत्त में चार दर्शनीय स्थलों में लुम्बिनी, बोधगया तथा कुशीनारा के साथ सारनाथ को भी सम्मिलित किया है।[१]

ध्यातव्य है कि भगवान् बुद्ध का अविर्भाव मानवता के इतिहास में एक दुर्लभ घटना है। वे कभी-कभी ही लोक में उत्पन्न होते हैं।[२] वे भगवान् अर्हत् , सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या तथा आचरण से युक्त, सुगत, लोक को जानने वाले, पुरुषों को सन्मार्ग पर ले जाने वाले अनुपम सारथिस्वरूप तथा देव-मनुष्यों के शास्ता हैं।[३] वे लोककल्याणार्थ ही अपने धर्म की देशना करते हैं। तथागत बुद्ध के वैसे लोककल्याणक धर्म की देशना का आरम्भ सारनाथ से ही होता है।

ज्ञातव्य है कि बुद्धत्व प्राप्ति के अनन्तर भगवान् बुद्ध स्वयं द्वारा अर्जित गम्भीर तथा दुरज्ञेय धर्म का उपदेश करना नहीं चाहते थे, लेकिन करुण चक्षु से

---

१. 'इध तथागतेन अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितन्ति' आनन्द! सद्धस्स कुलपुत्तस्स दस्सनीयं संवेजनीयं ठानं।

दीघनिकायो, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १०६
(विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण, इगतपुरी)

२. कदाचि करहचि तथागत लोके उप्पज्जन्ति अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा।

वही, पृष्ठ १०५

३. इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।

दीघनिकायो, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४४

लोक का अवलोकन करने के पश्चात् प्राणिमात्र के दु:ख के निवारण के लिए उन्होंने उपदेश देने का निश्चय किया। इस निश्चय के पश्चात् भी उनके मन में ऐसी आशंका बनी रही कि उनके उपदेशों को कोई समझ भी सकेगा अथवा नहीं। अत: उन्होंने सर्वप्रथम वैसे ही व्यक्तियों को उपदेश देना चाहा, तो उसे समझ सके। इस दिशा में उन्हें अपने पूर्व आचार्य आलार कालाम तथा उद्दक रामपुत्त की स्मृति आई, परन्तु तब तक वे दिवंगत हो चुके थे। अतएव पंचवर्गीय भिक्षु नामक अपने तपस्या काल के पंचमित्रों के उपकारों एवं सेवाओं का स्मरण कर भगवान् बुद्ध उन्हें ही प्रथमत: उपदेश देने का निश्चय किया। फलस्वरूप उन्होंने उरुवेला (बोधगया) से क्रमश: चारिका करते हुए इसिपत्तनमिगदाव (सारनाथ) पहुँच कर उन पंचवर्गीय भिक्षुओं को लक्ष्यकर धर्मचक्रप्रवर्तन किया। यही भगवान् बुद्ध का प्रथम उपदेश था और इसी उपदेश के उपरान्त पंचवर्गीय भिक्षुओं ने भगवान् से प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा के लिए प्रार्थना की। भगवान् द्वारा उन्हें उपसम्पदा प्रदान करने के पश्चात् बौद्धसंघ अपने अस्तित्व में आया।

बौद्धसंघ के संस्थापक सदस्य के रूप में पंचवर्गीय भिक्षुओं, यथा—कोण्डञ्ञ, वप्प, भद्दिय, महानाम तथा अस्सजि को स्मरण किया जाता है। इनमें कोण्डञ्ञ उन आठ लक्षणविद्याविद् ब्राह्मणों में सबसे कनिष्ठ था, जिसे राजा शुद्धोधन ने नवजात राजकुमार के नामकरण एवं उसके भविष्य के विषय में जानकारी हेतु आमंत्रित किया था। अन्य चार भिक्षु वरिष्ठ ब्राह्मणों के पुत्र थे। ये पाँचों भिक्षु गौतम सिद्धार्थ की बुद्धत्व प्राप्ति की प्रत्याशा में उनकी दुष्कर तपश्चर्या में साथ थे। लेकिन जब उन्होंने दु:खदायक निरर्थक कायक्लेश तप को त्यागकर अपने शरीर की खोई शक्ति को प्राप्त करने के लिए भोजन ग्रहण करना आरम्भ किया था, तब उनके वे पाँचों परम अनुयायी इन्हें इन्द्रियसुखों से आवृत्त तथा साधनाभ्रष्ट समझकर इनका साथ छोड़ इसिपत्तनमिगदाव चले गये थे। इनके प्रस्थान के कुछ दिनों पश्चात् ही बोधिसत्त्व गौतम सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति हो गई।

बुद्धत्व लाभ के अनन्तर तथागत द्वारा उरुवेला से इसिपत्तनमिगदाव पहुँचने पर पंचवर्गीय भिक्षुओं ने जब भगवान् को 'आवुस' तथा 'श्रमण गौतम' कहकर संबोधित किया, तब सुगत बुद्ध ने उन भिक्षुओं को कहा—'भिक्षुओ! तथागत को नाम से अथवा आवुस कहकर मत पुकारो। भिक्षुओ! तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हैं। भिक्षुओ! इधर कान दो, मैंने जिस अमृत को पाया है, उसका मैं अनुशासन करता हूँ, धर्मोपदेश करता हूँ। उपदेशानुसार आचरण करने पर जिसके लिए कुलपुत्र घर से बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुपम ब्रह्मचर्यफल को इसी जन्म में शीघ्र ही

स्वयं जानकर साक्षात्कारकर तथा लाभकर विचरण करोगे।' तदुपरान्त पंचवर्गीय भिक्षुओं ने भगवान् को सुनने की इच्छा की तथा चित्त को ज्ञान के लिए स्थित किया। अब प्रश्न यह उठता है कि भगवान् के उस उपेदश में क्या निहित था जिससे प्रभावित होकर वे भिक्षुगण बुद्ध तथा उनके धर्म के अनुयायी बनकर बौद्धसंघ का निर्माण किया। इसके उत्तरस्वरूप सारनाथ में उपदिष्ट भगवान् बुद्ध के प्रथम प्रवचन को दो भागों में विभक्त कर स्पष्ट किया जा सकता है—प्रथम, दो अतियों का निराकरण कर मध्यम मार्ग का उपदेश एवं द्वितीय, चार आर्यसत्यों की देशना।

प्रवचन के प्रथम भाग में उन्होंने अत्यन्त ही सरल ढंग से दो अतियों को बतलाया है। ये दो अतियाँ हैं—इन्द्रियसुख में अत्यधिक लिप्त होना एवं कायक्लेश में लगा रहना। भगवान् बुद्ध के अनुसार इन दोनों अतियों अथवा अन्तों से न तो सुख मिल सकता है और न ही ज्ञान। इन दोनों अन्तों को अनर्थ युक्त एवं दुःखपूर्ण बतलाते हुए सुगत बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को इनका सेवन नहीं करने का उपदेश दिया है।

'द्वेमे, भिक्खवे, अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा। कतमे द्वे? यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो, यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो।'[1]

अर्थात् 'भिक्षुओ! प्रव्रजितों को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिए। कौन से दो? यह जो इन्द्रिय सुखों में लगा रहना है, हीन, ग्राम्य, अनार्य के लिए, पृथक्जन के लिए एवं अनर्थयुक्त है। यह जो कायक्लेश है, वह भी दुःखजनक, अनार्यों के लिए एवं अनर्थयुक्त है।' अपने उपदेश को आगे बढ़ाते हुए भगवान् बुद्ध उन भिक्षुओं को सत्य ज्ञान के लिए मध्यम मार्ग की देशना देते हैं जो चक्षुकरणी, ज्ञान देनेवाला, शान्ति प्रदान करने वाला एवं निर्वाण का साक्षात्कार कराने वाला है।

'एते खो, भिक्खवे, उभो अन्ते अनुपगम्म, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा, चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति।'[2]

यह मध्यम मार्ग उपरोक्त दोनों अन्तों का सामञ्जस्य ही है। यहाँ सामञ्जस्य का अर्थ थोड़ी मात्रा में इन्द्रिय सुख एवं कुछ मात्रा में कायक्लेश से युक्त होना नहीं है, अपितु जीवन यापन के लिए आवश्यक चार निश्रय यथा-चीवर, पिण्डपात,

१. महावग्गो (विनयपिटके), पृष्ठ १३

२. वही, पृष्ठ १३

सेनासन, गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खार से युक्त हो ध्यान की भावना से है। मध्यम मार्ग में आठ मार्ग बतलाये गये हैं जिसे आर्य अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है, जिसकी चर्चा भगवान् ने अपने प्रवचन के दूसरे भाग में किया है।

भगवान् बुद्ध एक व्यावहारिक उपदेशक थे। उनके उपदेश का विषय-बिन्दु मानव है। मानव की मूल समस्याएँ क्या हैं और उनका समाधान किस प्रकार हो सकता है, इसे ही लक्ष्य कर उन्होंने देशना की है। इसलिए उन्होंने अपने प्रथम प्रवचन के दूसरे भाग में पंचवर्गीय भिक्षुओं को चार आर्यसत्यों की देशना की, जिसके द्वारा मानव-कल्याण सम्भव है। ये सत्य हैं—दुःख आर्यसत्य, दुःखसमुदय आर्यसत्य, दुःखनिरोध आर्यसत्य तथा दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदा आर्यसत्य। प्रथम आर्यसत्य में भगवान् बुद्ध ने मानव जीवन को दुःख से परिवारित बतलाया है। उनके अनुसार मानव का सम्पूर्ण जीवन ही दुःखमय है। मानव जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख का अनुभव करता रहता है। भगवान् ने दुःख के विस्तार को पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को निम्न ढंग से बतलाया है—

'जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, ब्याधि पि दुक्खो, मरणं पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यं पिच्छं न लभति तं पि दुक्खं। सङ्खित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा।'[१]

अर्थात् 'जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, अप्रियों से मिलन दुःख है, प्रियों से बिछुड़न दुःख है, इच्छित वस्तु का नहीं प्राप्त होना दुःख है। संक्षेप में इस शरीर के प्रति आसक्ति ही दुःख है।'

दूसरे आर्यसत्य में भगवान् ने कार्य-कारण सम्बन्ध को बतलाया है। तथागत नियति में विश्वास नहीं रखते हैं। वे कर्म को प्रधान मानते हैं। उनके अनुसार दुःख किसी अलौकिक शक्ति की देन नहीं है, बल्कि स्वयं के कर्म का फल है। वे कहते हैं, अगर दुःख है तो उसका कोई-न-कोई कारण भी अवश्य विद्यमान है। दुःख का कारण वे तृष्णा को बतलाते हैं, जो अविद्या-स्वरूप उत्पन्न होती है। धर्मचक्रप्रवर्तन में बुद्ध दुःख के कारण की विवेचना करते हुए कहते हैं—

'यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दीरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी, सेय्यथीदं– कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा।'[२]

अर्थात् 'यह जो तृष्णा है बारम्बार उत्पन्न होने की राग से युक्त है एवं यत्र-तत्र

---

१. वही, पृष्ठ १४

२. वही, पृष्ठ १४

आसक्ति उत्पन्न करती रहती है, जैसे—कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा।' किसी भी विषय के प्रति आसक्ति को तृष्णा कहा गया है, चाहे वह कामवासनाओं के प्रति आसक्ति हो अथवा विषयों के प्रति शाश्वत दृष्टि से युक्त आसक्ति हो अथवा विषयों के प्रति शाश्वत दृष्टि से युक्त आसक्ति हो अथवा विषयों के प्रति उच्छेद और विनाशदृष्टि हो। भगवान् कहते हैं कि तृष्णा तथा दु:ख में सीधा सम्बन्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि तृष्णा की मात्रा जितनी अधिक होगी, दु:ख का अनुभव भी उतना ही अधिक होगा। जैसा कि प्रथम सत्य में कहा गया है कि अप्रियों से मिलन तथा प्रियों से बिछुड़न दु:ख है। यहाँ दु:ख का कारण मिलन तथा बिछुड़न को बतलाया गया है। यह मिलन तथा बिछुड़न सामान्य नहीं है, बल्कि यह रागयुक्त मिलन एवं बिछुड़न है और यह 'राग' ही दु:ख को उत्पन्न होने के लिए प्रेरित करता है। मिलना एवं बिछुड़ना तो बुद्ध का भी होता है, लेकिन वे दु:खी नहीं होते, क्योंकि वे अनासक्त हैं। तृष्णा के बन्धन में पड़ा व्यक्ति केवल इस जीवन में ही दु:ख नहीं भोगता, अपितु अगले जन्मों में भी दु:ख पाता है, क्योंकि वह तृष्णा के जाल में फँसकर जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता है।

बुद्ध निराशावादी नहीं हैं। वे केवल दु:ख एवं उसके कारण को बतलाकर ही चुप नहीं हो जाते, वरन् दु:ख से उत्तीर्ण होने का उपाय भी बतलाते हैं। उनके अनुसार तृष्णा का सम्पूर्ण निरोध, त्याग एवं मुक्ति ही दु:ख का निरोध है।[१] यह दु:ख निरोध ही बुद्ध का तृतीय आर्यसत्य है। बुद्ध कहते हैं कि व्यक्ति संसार के प्रति जितना अधिक आसक्त होते जाता है, दु:ख उतना ही बढ़ता जाता है। अत: दु:ख को क्रमश: कम करने के लिए आसक्ति को भी शनै:-शनै: कम करना पड़ता है और अन्त में जब व्यक्ति तृष्णाहीन एवं अनासक्त हो जाता है, तब उसके दु:ख का भी अन्त हो जाता है। इस दु:ख का अन्त ही निर्वाण है। अन्य स्थलों पर तथागत ने कहा है—

'सहस्सं पि पियं दुक्खं पि सहस्सं,
सतं पि पियं दुक्खं पि सतं।
एकं पि पियं दुक्खं पि एकमेव,
नत्थि पियं दुक्खं पि नत्थि ।।'

अर्थात् अगर हजार प्रिय हैं, तो दु:ख भी हजार है। अगर सौ प्रिय हैं, तो दु:ख भी सौ है। अगर एक प्रिय है, तो दु:ख भी एक है। अगर एक भी प्रिय नहीं है, तो

१. यो तस्सा येव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो।
वही, पृष्ठ १४

दु:ख भी नहीं है। स्पष्ट है कि तृष्णा का समूल विनाश ही दु:ख का अन्त है। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि तृष्णा का विनाश कैसे हो? तृष्णा कोई वाह्य पदार्थ तो है नही जिसका जब चाहे अन्त कर दें। इसलिए भगवान् ने अपने अन्तिम सत्य में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को तृष्णा के क्रमिक क्षय के लिए एक मार्ग की देशना की है। वह मार्ग आर्य अष्टांगिक है। इसके आठ अंग निम्न हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि। इस मार्ग की भावना करने पर व्यक्ति के समस्त दु:ख प्रहीण हो जाते हैं और वह परमसुख निर्वाण का साक्षात्कार कर विहार करता है।

भगवान् बुद्ध का यही सुआख्यात प्रथम प्रवचन था जिससे प्रभावित होकर पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने भगवान् से प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की तथा संघ को अस्तित्व में लाया। इस तरह सारनाथ में संघ की स्थापना से त्रिरत्न अपनी पूर्णता को प्राप्त किया। त्रिरन्त के अन्य दो रत्न—बुद्ध तथा धर्म की उत्पत्ति तो भगवान् की बोधगया में सम्बोधि के समय ही हो चुकी थी, फिर भी संघ के अभाव में बुद्ध तथा धर्म की लोककल्याणक सार्थकता सिद्ध नहीं हो पा रही थी। यही कारण है कि संघ के गठन के पश्चात् भगवान् ने भिक्षुओं को लोक पर अनुकम्पा करते हुए 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' से ओतप्रोत हो चारिका करने को कहा था।[१] चारिका के क्रम में उन पंचवर्गीय भिक्षुओं में से एक 'अस्सजि' ने आयुष्मान् सारिपुत्र को बुद्ध के धर्मसार को बतलाकर उन्हें संघ में प्रवेश के लिए प्रेरित किया। तदुपरान्त भगवान् के इस वचन 'यह धर्म सुआख्यात है, अच्छी तरह से दु:ख के अन्त के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो'[२] के साथ सारिपुत्त की संघ में उपसम्मपदा हुई एवं कालान्तर में वे बौद्ध इतिहास में धर्म-सेनापति के नाम से प्रसिद्ध हुए।

✱

---

१. चरथ, भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं ।

वही, पृष्ठ २५

२. स्वाक्खातो धम्मो, चर ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाया'ति ।

वही पृष्ठ ४८

सल्लेखना : साधना और भारतीय संविधान

डॉ० अनेकान्त कुमार जैन

जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली-१६, ई. मेल- anekant 76 @yahoo.co.in,
फोन नं० ९८६८०३४७४०

सम्पूर्ण विश्व में अनेक धर्म दर्शन व सम्प्रदाय हैं। इनके मध्य अनेक सिद्धान्तों को लेकर अनेक मतभेद हैं। जीवन को लेकर मतभेद हैं कि हमें क्या पालना चाहिए, हमें कैसे रहना चाहिए? हमें ईश्वर मानना चाहिए अथवा नहीं? हमें खुदा की हुकुमत पर विश्वास करना है या नहीं? पूजा-पाठ करना चाहिए कि नमाज पढ़नी चाहिए? इत्यादि बहुत सारी बातें ऐसी हैं जिनको लेकर सभी धर्म दर्शनों की अपनी मान्यतायें हैं। दर्शनों में इस बात पर भी मतभेद रहा है कि आत्मा है या नहीं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? पुनर्जन्म होता है अथवा नहीं? मनुष्य जन्म से पहले कहाँ था? मृत्यु के बाद स्वर्ग जाता है या जन्नत? मोक्ष है या नहीं? इत्यादि अनेक अवधारणायें सदा से चली आ रही हैं।

'जन्म से पहले और मृत्यु के बाद' इस विषय पर मतभेद हो सकते हैं क्योंकि यह विषय प्रत्यक्ष नहीं हैं। यह सारा विषय अनुमान और श्रद्धा का है। किन्तु जन्म होता है और जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है, इस विषय पर दुनिया के किसी भी व्यक्ति को कोई मतभेद नहीं है अर्थात् मृत्यु की अनादिनिधनता, सार्वभौमिकता, असांप्रदायिकता स्वतःसिद्ध है।

मृत्यु और भय

मौत का नाम सुनते ही सामान्य मनुष्य के अन्दर भय उत्पन्न हो जाता है। कहा गया है 'णत्थि भयं मरणसमं' मरण जैसा और कोई भय है ही नहीं।[१] इसके साथ ही यह भी कहा गया है—'विमोहितानां मरणं महद् भयम्' अर्थात् मोही व्यक्ति को ही मृत्यु भय दिखा पाती है।[२]

जिसको मोह नहीं है वह किसी भी चीज से भयभीत नहीं हो सकता, उसका जीवन निर्भय होता है। वे लोग 'आउक्खये मरणं'[३] अर्थात् आयुकर्म के क्षय से ही

मरण होता है। ऐसा जानकर मृत्यु की चिन्ता नहीं करते क्योंकि विवेकी, निर्मोही मनुष्यों को अच्छी तरह पता है—

'क्षणध्वंसनीकाये का चिन्ता मरणे रणे[४]

इस प्रकार का विचार करके ज्ञानीजन धर्म ध्यान एवं आत्महित में सन्नद्ध रहते हुये मृत्यु का स्वागत करने को तत्पर रहते हैं। नीति वाक्य भी है—

'यमस्य करुणा नास्ति' कर्तव्यो धर्मसंचयः'

अर्थात् मृत्यु किसी पर करुणा नहीं करती अत: मनुष्य को धर्म का संचय करना चाहिए।[५]

महाकविकालिदास ने आयु के अन्त समय में योग पूर्वक शरीर त्यागने को मुनिधर्म की परिपाटी बताया है[६]—

वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजान्

वृद्धावस्था में, आयु के अन्त समय में मुनि धर्म वाले लोग योगधारण करके स्वेच्छा से शरीर को छोड़ देते हैं। वे अपना शरीर यमराज को सौंपकर मृत्यु का महोत्सव मनाते हुये आत्मा में लवलीन हो जाते हैं।

यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक प्राणी का मरण होता है, किन्तु भारतीय चिन्तन-पद्धति में मरण को भी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भों में देखा गया तथा उसके लिए बहुत सोच विचार कर शब्दों का चयन किया गया है। 'मरण' को देहान्त या 'देहावसान' कहा गया है। चूँकि भारतीय चिन्तन धारा में आत्मा को अमर तत्व माना गया है अत: अन्त या अवसान तो देह का ही होता है आत्मा का नहीं।[७]

मृत्युमहोत्सव क्या है?

मरण तो सभी जगह स्वीकार किया गया है किन्तु मरण भी एक मांगलिक महोत्सव है तथा इसको मनाने की भी एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया है। जैनधर्म में मृत्यु महोत्सव को लेकर परम्परा के अनुरूप अत्यन्त वैज्ञानिक चिन्तन किया गया। जैनाचार्यों ने विचार किया कि यदि मृत्यु होनी ही है तो क्यों न वह सकारात्मक हो? जिस प्रकार हम जीवन में जन्म को मंगल मानते हैं उसी प्रकार क्यों न मरण को भी मंगल मानें? जैनधर्म के इसी विचार ने त्याग, संयम के चरमोत्कर्ष स्वरूप 'संथारा' 'सल्लेखना' 'समाधिमरण' को जन्म दिया। अत: मृत्युमहोत्सव भारतीय संस्कृति को जैनधर्म की मौलिक देन है।

आद्यसूत्रकार आचार्य उमास्वामि ने तत्त्वार्थ सूत्र में एक महत्वपूर्ण सूत्र दिया[८]—

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता' (७/२२)

अर्थात् जब मरणकाल निकट ही आ जावे तब प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण कर लेनी चाहिए। यहाँ जोषिता शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका एकमात्र अर्थ सेवन नहीं है बल्कि प्रीति और उत्साह पूर्वक सेवन है क्योंकि सल्लेखना कभी प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं ली जाती और न ही यहाँ किसी की जबरदस्ती चलती है। स्वयं ही प्रीतिपूर्वक सल्लेखना का सेवन करना चाहिए।[९]

वास्तव में धर्म जबरदस्ती का नाम नहीं हैं। जहाँ जोर-जबरदस्ती होती है वहाँ वास्तविक धर्म हो ही नहीं सकता। धर्म हमेशा स्वेच्छा से होता है, प्रीतिपूर्वक होता है। धर्म के लिए मनुष्य को प्रेरित किया जा सकता है उसका महत्त्व समझाकर; किन्तु उसे बलात् मजबूर नहीं किया जा सकता। इसलिए सल्लेखना जैसा महान् आत्मधर्म भी स्वेच्छा से प्रीतिपूर्वक ही सम्पन्न होता है।

सल्लेखना, संथारा और समाधिमरण

यद्यपि ये तीनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते है किन्तु यदि गहराई से देखें तो इनके अर्थ थोड़े भिन्न-भिन्न हैं। इनके क्रम प्राप्त अर्थ हैं—पहले (सत् + लेखना) अर्थात् सम्यक् रीति से क्रोध, मान, माया, लोभ को समाप्त करना तथा शरीर को अन्न जल की पराधीनता से क्रमशः मुक्त करना सल्लेखना है। यह पहली क्रिया है। संथारा शब्द संस्तारा/संस्तरण का प्राकृत रूप है। इसमें एक विशेष किस्म की शैय्या (पुआलादि की) बनायी जाती है उस पर साधक को लिटाया जाता है। यह दूसरी क्रिया है। इसके बाद साधक साधना करता हुआ आत्मध्यान पूर्वक शांतभाव से स्वतः समागत मृत्यु को निर्भय भाव से स्वीकारता है, उसे समाधिमरण कहते हैं— यह अंतिक्रिया है।

सल्लेखना लेने की भी कुछ शर्तें हैं—

सामान्य स्थिति में समाधि लेना भी उचित नहीं है। यदि कोई ऐसा करता है तो उसे धर्म विरुद्ध माना गया है।

हर साधक चाहे जब समाधि नहीं ले सकता। हमारा मरण समाधिपूर्वक हो यह भावना तो साधक जीवन भर रखता है। किन्तु जब शरीर साथ दे रहा हो और साधना की सारी अनुकूलतायें विद्यमान हों, तब कोई उत्सुक साधक समाधिमरण के लिए उद्यत हो गये तब यह निश्चित ही आत्मघात जैसा हो जायेगा। इसीलिए यह जान

लेना बहुत जरूरी है कि इस दशा में जैन शास्त्रों में उल्लेखना लेने का कड़ा निषेध हैं। शरीर तो साधन है। इसके स्वस्थ्य रहने तक इसका उपयोग साधना में करना चाहिये।

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविअ ।
संसारे अण्णवो बुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।।[१०]

अर्थात् शरीर नाव है और जीव नाविक और यह संसार समुद्र है, जिसे महर्षिजन तैर जाते हैं।

यहाँ शरीर नाव है का अर्थ है शरीर साधन है, और साध्य है किनारा। जब तक शरीर से संयम का सार निकलता है तब तक उसका भरपूर प्रयोग किया जाय। जीवन से जब तक सार निकला हो, साधना चलती हो तब तक जीवन के साथ रहना चाहिए। यदि भीतर की संपदा अभी उपलब्ध है तो जीवन जानने योग्य है। अभी इस नाव का उपयोग करना है लेकिन कभी ऐसा हो जाता है कि नाव में छेद हो जाता है नाव डूबने भी लगती है; तब धर्म कहता है नाव में आसक्त होकर बैठे मत रहना, छलांग लगाकर तैर जाना। फिर यह सोचना व्यर्थ है कि नाव को जीवन को कैसे छोड़ दे? उसी से चिपके रहें तो उसके ही साथ डूब जायेंगें, उसका छूटना निश्चित है। इसलिए अच्छा है ऐसी परिस्थिति में जब शरीर रुग्ण हो जाये, मृत्यु अवश्यम्भावी हो, तब शरीर का पालन छोड़कर आत्मा का पालन, उसकी आराधना भरसक हो जानी चाहिए। क्योंकि असली सवाल नाव का नहीं, किनारे का है। अगर नाव समर्थ हो, दूसरे किनारे तक ले जाने में तब चलते जाना। सवाल पार होने से है चाहे वह नाव से हो; चाहे तैरकर।

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा ।
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ।।
तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ।
सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो[११] **।।**

जिसका चारित्र, संयम, तप चिरकाल तक भी बिना किसी क्लेश कठिनाई या अतिचार के अच्छी तरह चल रहा है और चलने की संभावना है, दुर्भिक्ष का भी भय नहीं है और संयोग से समाधिमरण करवाने वाले आचार्य उपलब्ध हैं; तब निर्भय अवस्था में वह मुनि भक्तप्रत्याख्यान के योग्य नहीं है अर्थात् ऐसे समय में वह यदि आहार छोड़कर मरण को प्रार्थना करता है तो वह मुनिधर्म से विरक्त माना जाता है।

इसीलिए सल्लेखना की अपनी शर्तें हैं। षट्खण्डागम की धवला टीका ग्रन्थ में संयम की रक्षा करने के लिए भी यदि कोई अपना श्वासोच्छवास आदि रोककर खुद की जान देता है तो उसे भी उचित नहीं माना गया है।[१२] (धवला १/१,१,१/२५/१)

ऐसा मुनि या साधक धर्म से च्युत इसलिए हो गया क्यों कि उसमें एक नयी आकांक्षा पैदा हो गयी और वह आकांक्षा है मरने की। मरण आकांक्षा से नहीं होना चाहिए। मरने की आकांक्षा हुयी, चाहे वह किसी भी कारण से हो तब वह आत्महत्या हो गयी, (Euthanasia) (इच्छा-मृत्यु) हो गयी। वह समाधि नहीं रही, सल्लेखना नहीं रही। जीवेषणा के त्याग का अर्थ मृत्यु की एषणा कदापि नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में इसीलिए महत्त्वपूर्ण बात कही गयी।

''जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।[१३]

जीने की चाह, मरने की चाह, प्रियजनों से अनुराग, पूर्व में भोगे सुख का स्मरण, इस तपस्या के फल स्वरूप भोगों की आकांक्षा-सल्लेखनाधारी को नहीं करनी चाहिए; यदि वह ऐसा करता है तो दोषी होगा। उसकी साधना सफल होने में संदेह है।

कब लेनी चाहिए सल्लेखना ?

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायाञ्च निष्प्रतीकारे ।
धर्माय तनु विमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ।।[१४]

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार-१२२)

जिसका प्रतिकार अर्थात् निराकरण सम्भव न हो, ऐसा उपसर्ग (विपत्ति) आ जाये, दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ जाये, बुढ़ापा आ जाये अथवा रोग हो जाये तब धर्म के लिए अर्थात् अपनी आत्मा को संक्लेश परिणामों से बचाने के लिए सल्लेखना लेनी चाहिए। इसमें 'निष्प्रतिकार शब्द महत्त्वपूर्ण है।

प्रकारान्तर से यही कारण आचार्य शिवार्य ने भगवती आराधना में भी कहे हैं।[१५]

कल्पना कीजिए कि कुछ लोग हवाई जहाज से विदेश यात्रा पर जा रहे हैं। जमीन से हजारों मीटर ऊपर रास्ते में पायलट ने सूचना दी कि विमान में तकनीकी खराबी आ गयी है, कंट्रोल रूम से भी सम्पर्क समाप्त हो गया है। हम सभी किसी भी समय समुद्र में गिर सकते हैं। विमान का माहौल कैसा हो जायेगा? मृत्यु

अवश्यम्भावी है बहुत कम उदाहरण मिलेंगें ऐसे वक्त में जब विमान से कोई बचा हो। तो मरना निश्चित है। सभी यात्री रोने धोने लग गये, क्या करें? सब कुछ समझ के बाहर है। मौत सामने खड़ी है। उन्हीं यात्रियों में एक साधक है, वह हाय तौबा नहीं मचाता, रोना-धोना नहीं करता। मन ही मन मंत्रों का जाप करता है। मन ही मन संकल्प पूर्वक चारों प्रकार की आहारों का त्याग करता है, मन ही मन सभी जीवों से कृत अपराधों का क्षमा याचना करता है, मन ही मन क्षपक (सल्लेखनाधारी) बन जाता है। साथ ही पैराशूट आदि की तैयारी भी कर रहा है क्योंकि जीवन महत्त्वपूर्ण है। लोग रो रहे हैं, बिलख रहे हैं, अपने परिजनों को याद कर रहे हैं और कुछ भगवान् से मौत से बचाने की दुआ भी कर रहे हैं।

इसे क्या कहेंगे? क्या वह साधक आत्महत्या की तैयारी कर रहा है? क्या वह जिन्दगी से परेशान होकर असहनीय पीड़ा से पीड़ित होकर दु:ख मुक्ति हेतु इच्छामृत्यु चाह रहा हैं? उसका ज्ञान जाग्रत है, विवेक जाग्रत है। वह अज्ञानियों की तरह पागल होकर नहीं मरना चाहता। वस। ऐसे समय में मृत्यु पर विजय किस तरह प्राप्त की जा सकती है? जब हाथ में कुछ भी न हो।

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणण मरिदव्वं ।।
सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं ।
जइ दोहिं वि मरिदव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरिदव्वं ।।[१६]

जिसने धैर्य धारण किया है वह भी मरेगा, जिसे धैर्य नहीं है वह भी अवश्य मरेगा और जब दोनों ही स्थितियों में मरण निश्चित है तो क्यों न धैर्य पूर्वक मरा जाय? इसी प्रकार शील, संयम, चारित्र से युक्त भी मरेगा, इससे रहित भी अवश्य मरेगा और जब दोनों ही दशा में मरना निश्चित है तो क्यों न शीलपूर्वक ही मरा जाय? असंयम में मरने से क्या फायदा?

पूर्व प्रसंग को लें और कल्पना करें कि विमान के कई लोग मर गये और कई बच गये, जो बच गये उनमें वह साधक भी है। आयु शेष थी, सौभाग्य से उसकी जान बच गयी। तब वह क्या करेगा? मन में तो सल्लेखना ग्रहण कर ली थी, चारों प्रकार के आहारों के सम्पूर्ण त्याग का व्रत ले लिया था। वैसे तो भाग्य से बच गया, पर अब जरूर मरेगा। क्या अब विपत्ति टल जाने पर, स्वयं अनुकूलतायें पुन: मिल जाने पर क्या उसे अपना संकल्प तोड़ना चाहिए?

एदम्हि देसयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं ।
एदं पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा होज्जं ।।[१७]

(मूलाराधना ११२)

अर्थात् यदि उपसर्ग टल गया है, मृत्यु का संदेह दूर हो गया है तो पारणा (अन्नग्रहण) किया जा सकता है। क्योंकि ऐसे परिस्थिति में अन्नग्रहण नहीं किया तो आत्मघात का प्रसंग बनेगा।

इस प्रकार शास्त्रों के उद्धरण प्रमाण के आधार पर हम देखते हैं कि सल्लेखना की विधि में इस बात की पग-पग पर सावधानी रखी गयी है कि कहीं प्रमाद या भूलवश यह सल्लेखना आत्मघात में रूपान्तरित न हो जाये। क्योंकि उद्देश्य है आत्मसाधना न कि आत्मघात।

बिना पूर्ण तैयारी के समाधिमरण कठिन है—एक व्यक्ति घोड़े की सवारी करना चाहता है। वह चाहता है कि मैं घोड़े पर सवार होकर दौड़ प्रतियोगिता की जीत का आनन्द ले आऊँ। उसने किराये पर घोड़ा लिया और बिना उसके मालिक की सहायता के उस पर चढ़ने लगा। घोड़े ने उसे जमीन पर पटक दिया। उसने पुनः प्रयास किया, किसी तरह घोड़े पर चढ़ गया। थोड़ी दूर जाकर घोड़े ने उसे पुनः पटक दिया। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि पहले कभी घुड़सवारी सीखी नहीं, कभी घोड़े को छुआ तक नहीं, सीधे रेस के मैदान में घोड़ा दौड़ाना चाहते थे। इसी प्रकार जिसका पूरा जीवन असंयमी रहा, कभी व्रत-उपवास नहीं किये, कभी आराधना नहीं की और अन्त समय निकट आने पर होश आया कि सल्लेखना लेनी है और धर्म बुद्धि पूर्वक अन्न-जल का त्याग करके बैठ गया तो उसके लिए यह साधना कठिन होगी। समाधिमरण की प्रक्रिया असंयमी को कठिन दिखायी देती है किन्तु संयमी जीव को सहज लगती है। गहन ध्यान का उसका अभ्यास पूर्व का है, हजारों व्रत-उपवासों की साधना वह ता-उम्र करता रहा है; इसलिए समाधिमरण उसे निबन्ध का उपसंहार लगता है; ऐसी मृत्यु उसे जीवन का सार दिखायी देती है। निबन्ध लिखा ही नहीं और उपसंहार लिखने बैठ जायेंगे तो समझ में ही नहीं आयेगा कि क्या लिखें? किसका उपसंहार करें?

पुव्वमभाविदजोग्गो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई ।
खण्णुगदिट्ठंतो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ।।[१८]

मरण से पूर्व जीवन पर्यन्त ध्यान का, आराधना का अभ्यास नहीं करने वाला कोई व्यक्ति यदि अन्त समय में तीव्र आराधना करके सफल होता है, सिद्धि को प्राप्त

करता है तो यह अपवाद ही है; इसे सर्वत्र प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि किसी को अचानक कहीं गड़ा हुआ धन मिल जाता है तो भी धन प्राप्ति का यह मार्ग नहीं माना जाता, वह सर्वत्र प्रमाण नहीं है।

इसीलिए समाधि को जीवन भर सीखना पड़ता है। क्योंकि मृत्यु तो एक बार आती है, मौत की रिहर्सल का मौका नहीं मिलता। हम ऐसा नही कर सकते कि चलो मरने का अभ्यास कर लें। क्योंकि मृत्यु दुबारा नहीं आती वह सिर्फ एक बार आती है।

इसलिए मरने की कला मरते समय नहीं, जीते समय सीखी जा सकती है। परीक्षा के दिन परीक्षा होती है, परीक्षा की तैयारी नहीं। उस दिन सिर्फ इस बात की तैयारी होती है कि तैयारी कैसी की? यह जीवन परीक्षा की तैयारी के लिए है अर्थात् मृत्यु की तैयारी के लिए। जो साल भर तैयारी करता है वह परीक्षा के दिन नहीं पढ़ता, सिर्फ दुहराता है ताकि भूल न जाये। समाधिस्थ व्यक्ति भी नया कुछ नहीं सीखता सिर्फ दुहराता है ताकि भाव-परिणाम स्थिर रहें, अन्त समय तक एक से बने रहें, बस।

इसलिए मृत्यु का जीवन में अभ्यास करना पड़ता है। इसके अलावा और कोई उपाय भी नहीं है। मृत्यु तो सबकी अतिथि है बिना पूर्व सूचना के आ धमकती है; उसकी कोई तिथि नहीं होती। एक दिन अचानक द्वार पर आ खड़ी होती है, क्षण भर भी विचार का अवसर नहीं देती। तब जो तैयारी करके बैठा है। वह सहज चल देता है। अन्यथा बिना तैयारी वाला विचलित हो जाता है। अनेक लोग कहते हैं, जब मरेंगे, तब देख लेंगे, अभी क्या जल्दी है? मगर उस दिन पता भी नहीं चलेगा; हम क्या देख लेंगे? मौत देखेगी और लोग देखेंगे हमें। हमारी तो एक क्षण में आँखें बन्द हो चुकी होंगी और यदि न भी हुयीं, पलकें खुली रह गयी मौत को देखने की जिज्ञासा में, तो लोग उसे बंद कर देंगे। इसलिए जरूरी है मौत से डरा न जाय बल्कि अभ्यास पूर्वक उसका सामना किया जाय।

प्राकृतिक चिकित्सा है अन्न-जल का त्याग—

स्वाभाविक मृत्यु का समय नजदीक आ जाने पर एक समय ऐसा आता है कि व्यक्ति कुछ भी खाये या पिये, उसे सहन नहीं होता। अंत समय में अन्न-जल भी वह बाहर फेंक देता है। यह स्वाभाविक क्रिया है। उस वक्त उसे जीवन के नाम पर जबरदस्ती अन्न-जल दिया जाय तो उसे अनन्त वेदना होती है। वह इसलिए भी अन्न-जल का मोह त्याग देता है। अभिप्राय यह है कि जिस चीज का शरीर भी

इनकार कर रहा है उसके प्रति इतनी आसक्ति क्यों रखी जाय? यदि साधक को जल की इच्छा है या उसे जरूरत है तो अंतिम दिनों तक भी उसे जल दिया जाता है। जबरदस्ती का विधान कहीं नहीं है। सारी बातें आवश्यकता और जरूरत तथा अनावश्यक और गैर जरूरी तथ्यों पर आधारित है। यदि साधक को आवश्यकता और इच्छा दोनों ही नहीं है और चिकित्सक उसे वलात् अन्न-जल देता है तो ध्यान रखिये उसकी मृत्यु अनन्तवेदनावशात् अस्वाभाविक तथा समय से पूर्व भी हो सकती है। तब ऐसी स्थिति में वह आत्महत्या नहीं, बल्कि हत्या के पाप का भागी बनेगा।

क्या है इच्छामृत्यु (Euthanasia)?

वर्तमान में मृत्यु के सन्दर्भ में देश-विदेश में एक प्रमुख विवाद का विषय बना हुआ है युथानेसिआ (Euthanasia)। भारत में इसका हिन्दी अर्थ 'इच्छामृत्यु' किया जा रहा है। इसका अर्थ है सहज मुत्यु (Good death) या dying well इसे (Physician-assisted Suicide कहा जाता है। आत्महत्या अनुमति विषयक कानून जब पास नहीं हुआ, तब दया और करुणा की छद्म संज्ञा के साथ इस नयी व्याख्या का जन्म हुआ। महसूस किया गया कि व्यक्ति जब किसी लम्बी असहनीय बीमारी से ग्रसित हो और जिन्दा लाश की तरह जीवन जीने से तंग आ जाये तो उसकी स्वीकृति पूर्वक चिकित्सक की सलाह पर उसे मौत दे दी जाय, ताकि वह इस संसार के वर्तमान के सभी दु:खों से मुक्त हो जाये। इसे Sloke भी कहा जाता है।

यह Euthanasia शब्द ग्रीक cu से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है Well और Thanasia का तापर्त्य है मृत्यु। जब मनुष्य शारीरिक या मानसिक बीमारी से अत्यधिक व्यथित हो जाता है तब वह न्यायालय से मृत्यु हेतु निवेदन करता है और यदि न्यायालय इसे उचित स्वीकारता है तो न्यायाधीश उस व्यक्ति को स्वयं जहर पिलाने आता है।

उन्नीसवीं शती में इस किस्म की आत्म हत्या पर वैज्ञानिक आधार पर विचार करना शुरू किया गया। ओहियों में १९०६ में अमेरिका ने आत्महत्या के पक्ष में बिल पास कराना चाहा, किन्तु वह पास न हो सका। ब्रिटेन में भी १९३५ में एक ऐसे ही बिल के नामंजूर किया गया था। Tohnson और Repouille को क्रमश: उनकी पत्नी और पुत्र की Mercy killing करने पर दण्ड भुगतना पड़ा था।

ब्रिटेन में Euthanasia society की स्थापना हुई और Euthanasia के समर्थन में १९५० से लेकर १९६९ तक लगातार कई बार बिल रखे गये किन्तु

वे पास नहीं हो सके। अमेरिका में भी वही हालात रहे। Fletcher ने Euthanasia के पक्ष में मजबूत तर्क प्रस्तुत करके Murder को Malice ?Afortihing=th कहा और Euthaniasia को Mercy Aforethcught कहकर कनाडा, ब्रिटेन और अमेरिका में जनमत कराकर भी इस पक्ष को मजबूत बनाया। इसके बाद Death with dignity bills भी लाये गये; पर Living will को कानूनी नहीं बनाया जा सका और १९७६ में केलिफोर्निया अमेरिका में Right to die statue Bill पास हो गया। नीदरलैण्ड आदि देशों में बाद में Dutch Mecical Council Valuntary Euthanasia को मान लिया गया। America में इसे कानूनी बनाने के पूरे प्रयत्न हुये किन्तु वह सफल नहीं रहा। १९७० में Court ने Ritht to Reture Medical Trcufmint Constitution पास किया। Dr. Jack karkav के प्रयास से १९९४ में Cregon Death with Digmita A.F. पास हुआ था किन्तु इसे १९९७ में रद्द कर दिया गया और माना गया कि Physician Assisted Sucide गैर कानूनी है। ब्रिटेन में १५ फरवरी २००३ को वेलेन्टाइन डे वाले ही दिन छ: साल की Clored Cheep dotly को फेंफड़ों में खराबी आ जाने के कारण Eutnanized death से समाप्त कर दिया गया।[११]

भारत जैसे देश में भी Euthanized Death को लेकर काफी चर्चायें प्रारम्भ हो गयी हैं। लोग राष्ट्रपति को पत्र लिखकर स्वेच्छिक मृत्यु हेतु अनुमति मांग रहे हैं। कई टी०वी० सीरियलों में स्वेच्छिक मृत्यु के मसले को फिल्मा कर जनसाधारण के विमर्श का विषय बनाया जा रहा है। सीरियल निर्माता एकता कपूर अपने सीरियल 'सास भी कभी बहू थी' में नायिका तुलसी द्वारा उसी की सास को अस्पताल में इच्छा-मृत्यु दिये जाने के दृश्य में भारतीय मानस के दिलो-दिमाग पर प्रश्न चिह्न खड़े कर दिये हैं। एकता कपूर इस मुद्दे को जो कि पाश्चात्य से आयातित है, को अपने सीरियल में उठाने को लेकर काफी गर्वित भी महसूस करती हैं।

भारत में अभी आत्महत्या चाहे वह किसी भी रूप में हो, को वैधानिक नहीं माना गया है। संविधान के Article 21 और Section 309 स्पष्ट रूप से आत्महत्या को गैरकानूनी मानता है। धारा १४ और ३०६ में भी इसका उल्लेख है। यद्यपि माननीय उच्चतम न्यायालय की दो सदस्यीय खण्डपीठ ने २६ अप्रैल १९९४ को धारा ३०९ आई. पी. सी. को संविधान के मौलिक अधिकारों का हनन मानते हुये इसे अवैध घोषित किया था और इसे भारतीय दण्ड विधान से हटवाने की सिफारिश भी की थी। इससे पूर्व कि यह कानून संसद में पास होता, २१ मार्च १९९६

मानवीय उच्चतम न्यायालय की पांच सदस्यीय खण्डपीठ ने १९९४ के निर्णय को पलट दिया और निर्णय दिया कि भारतीय संविधान अनुच्छेद २१ जीने का अधिकार किसी भी रूप में मरने का अधिकार नहीं हो सकता। अत: भारतीय संविधान के अनुसार आत्महत्या चाहे वह जिस भी रूप में हो गैरकानूनी है।[२०]

चूंकि आत्महत्या गैरकानूनी है अत: इच्छामृत्यु को उससे हटकर व्याख्यापित करने का प्रयोग किया जा रहा है ताकि आत्महत्या के क्रूरपक्ष को दया या करुणा का पक्ष बनाकर उसे कानूनी जामा पहनाया जा सके। इच्छा-मृत्यु को लेकर भारत में भी जनमानस जागृत हो चुका है। सल्लेखना या संथारा को जब आत्महत्या सिद्ध नहीं किया जा सका नहीं तब अब उसकी इच्छामृत्यु से तुलना करके उसे इच्छामृत्यु सिद्ध करने की भी मुहिम कुछ लोगों ने छेड़ रखी है।

प्रश्न है कि इच्छामृत्यु की अवधारणा के बारे में धर्म की क्या राय है? धर्म की दृष्टि से इच्छामृत्यु आत्महत्या के समान ही पाप है और उसकी सामाजिक, न्यायिक स्वीकृति कभी नहीं मिलनी चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक अहिंसा विषयक संस्कृत के महान ग्रन्थ में इस समस्या को उठाया है—

बहुदु:खासंज्ञपिता: प्रयान्ति त्वचिरेण दु:खविच्छित्तम् ।
इति वासना कृपाणीमादाय न दु:खिनोऽपि हन्तव्या: ।।[२१]

इसका भावार्थ यह है कि यदि कोई जीव रोग, शोक व व्याधि से बहुत दु:खी है और यदि इसे मार दिया जाय तो यह सुखी हो जाये—ऐसी वासना से दु:खी जीवों का भी वध कभी नहीं करना चाहिए, यह हत्या है।

वर्तमान या भविष्य में यदि इच्छामृत्यु (Euthanasia) जैसा कोई कानून यदि भारत में पास होता है तो आत्महत्या तो दूर हत्या जैसे अपराध के लिए कानूनी स्वीकृति हो जायेगी। कानून की आड़ में अपराध करने वालों के लिए यह इच्छामृत्यु कानून एक बहुत बड़ा सहारा बन जायेगा। तथाकथित चिकित्सकों की प्रामाणिकता पहले से ही संदेह के घेरे में आ चुकी है। अब यदि यह कानून पास होता है तो धनलोलुप चिकित्सक भी किस हद तक चले जायेंगे? यह सोचकर ही भय होता है।

मेरी दृष्टि में इच्छामृत्यु आत्महत्या से भी बड़ा पाप है। क्योंकि आत्महत्या से तो एक व्यक्ति दोषी व पाप का भागी बनता है, किन्तु इच्छामृत्यु (Euthanasia) में दो या अधिक व्यक्ति दोषी तथा पाप के भागी बनते हैं। एक मृत्यु की इच्छा करने वाला और दूसरा उसको अंजाम देने वाला तथा तीसरे वे लोग दोषी होते हैं, जो इस

कार्य का सहयोग व समर्थन करते हैं। सल्लेखना में चूंकि मृत्यु की इच्छा है ही नहीं, अत: उसकी तुलना (Euthanasia) से करना आधारहीन है।

आत्महत्या और सल्लेखना—सल्लेखना जैसी महान् भावपरिष्कार वाली आध्यात्मिक चिकित्सा को आत्महत्या कहकर वर्तमान में ही कलुषित किया जाता हो—ऐसा नहीं है। इस विषय में स्पष्टीकरण की आवश्यकता पूज्यपाद स्वामी को नवीं शती में भी पड़ी। तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका लिखते समय उन्होंने इसे शंका (पूर्वपक्ष) के रूप में उपस्थित कर इसका समाधान भी किया। उन्होंने कहा कि चूंकि सल्लेखना के बाद आयु का स्वत: त्याग होता है। किन्तु वहाँ प्रमाद का, राग-द्वेष और मोह का अभाव है इसलिए वह आत्मघात की श्रेणी में नहीं आता। (सर्वार्थसिद्धि ७/२२/३३३/५)

इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं—

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखना तनूकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ।।[२२]

इसी प्रसंग में आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मघाती का लक्षण भी बताया है। उनका कहना है कि क्रोध, मानो माया लोक में से डूबा हुआ कोई मनुष्य श्वासनिरोध, जलमग्न, अग्निदाह, विष सेवन तथा शस्त्रघात इत्यादि तरीकों से अपने ही प्राणों को नष्ट कर डालता है तब उसे आत्मघात कहते हैं—

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमत्मवधः ।।[२३]

सल्लेखना और आत्महत्या में बड़ा फर्क है। आत्महत्या का अर्थ है कि जब जीवन से जो सुख मांगा वह नहीं मिला, जो मूल्य खोजे वह नहीं पाये जा सके। जो आशा की थी वह टूट गयी, जीवन ने अतृप्त कर दिया। जो इन्द्रधनुषी सप्तरंगी सपने जीवन के साथ बाँधे थे, वे सब बिखर गये और ऐसी हताशा में व्यक्ति स्वयं को मिटा लेता है।

सल्लेखना आत्मघात के बिल्कुल विपरीत है। सल्लेखना साधना के द्वारा अर्जित करनी पड़ती है, उसे सम्भालना पड़ता है। जो साधना में अतिकुशल है वही सल्लेखना को सही-सही उपलब्ध हो पाता है। अगर अच्छी मृत्यु ही न मिली तो समझो सारा जीवन ही हाथ से बह गया। फिर उसका यही अर्थ हुआ कि पाठशाला में गये तो लेकिन पाठ नहीं सीख पाये। विद्यालय में गये लेकिन उत्तीर्ण नहीं हो सके।

इसीलिए धर्म कहता है कि जब तक तुम उत्तीर्ण नहीं होगे तब तक तुम्हें उसी संसार की पाठशाला में भेज दिया जायेगा। जीवन से यदि मृत्यु का पाठ सीख लिया होता तो फिर संसारभ्रमण दुबारा नहीं होता। जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र पूर्वक मरता है वह फिर संसार में वापिस नहीं आता। मुक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सल्लेखना और आत्महत्या में मौलिक अन्तर—सल्लेखना व संथारा के द्वारा जो समाधि पूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में अनेक निम्नलिखित अन्तर हैं[२४]—

आत्महत्या	सल्लेखना
१. आत्महत्या वह व्यक्ति करता है जो परिस्थितियों से उत्पीड़ित है, उद्विग्न है, जिसकी मनोकामनायें पूर्ण नहीं हो पायीं। वह संघर्षों से झगड़कर जीवन पलायन करना चाहता है या किसी से अपमानित होकर, कलह होने पर, पारस्परिक मनोमालिन्य होने पर, कुएं में कूदकर, समुद्र में गिरकर, विष खाकर, फाँसी लगाकर अपना जीवन समाप्त करता है।	१. सल्लेखना व्यक्ति द्वारा किसी परिस्थिति से घबड़ाकर, निराशा में किसी निमित्त से मरने का प्रयास नहीं करता। बल्कि संयम की आराधना करते हुये स्वाभाविक मृत्यु से न भागकर उसका स्वागत करता है।
२. आत्महत्या में वीरता नहीं, वरन् कायरता का प्रयास है। आत्महत्या के मूल में भय और कामनायें रहती हैं, कषाय और वासना की तीव्रता और उत्तेजना है।	२ सल्लेखना में कषाय और वासना का इच्छा का अभाव रहता है। इसमें साधक भयभीत नहीं रहता। समाधि वीर पुरुष ही ले सकते हैं।
३. आत्महत्या करते समय व्यक्ति की मुखमुद्रा विकृत होती है, उस पर तनाव होता है, उस पर भय की रेखायें झलकती रहती हैं।	३. सल्लेखना में साधक की मुखमुद्रा पूर्ण शान्त व प्रसन्न होती है, उसके चेहरे पर किसी किस्म की आकुलता व्याकुलता नही होती है।
४. आत्महत्या करने वाले का स्नायुयन्त्र तनाव युक्त होता है।	४. सल्लेखना करने वाले का स्नायुतन्त्र तनावमुक्त होता है।

५. आत्महत्या करने वाले की मृत्यु आकस्मिक होती है।	५. सल्लेखना स्वाभाविक मृत्यु को स्वीकारने की कला है। उसका आधार जीवन दर्शन है।
६. आत्महत्या लुक-छिपकर की जाती है।	६. सल्लेखना का स्थल सभी को ज्ञात होता है।
७. आत्महत्या नकारात्मक है तथा समाज में निन्दनीय व धर्मविरुद्ध है। आत्म-हत्या की स्मृति में कोई स्थल नहीं बनाये जाते।	७. सल्लेखना सकारात्मक है। समाज में सम्माननीय है। धर्म सम्मत है। स्मृतिस्वरूप समाधि स्थल बनाये जाते हैं।
८. आत्महत्या में 'हत्या' शब्द का प्रयोग है।	८. सल्लेखना में यह शब्द नहीं है।
९. आत्महत्या में बलात् मौत को बुलाया जाता है। यहाँ मौत की इच्छा है।	९. सल्लेखना में मौत की इच्छा नहीं है और न ही उसे बुलाते हैं वरन् स्वत: आगत मृत्यु का स्वीकार्य/स्वागत मात्र है ।
१०. आत्महत्या विवशता में की जाती है।	१०. सल्लेखना में कोई विवशता नहीं।
११. आत्महत्या अनायास, क्षणिक आवेश में होती है, क्रमिक नहीं। ऐसा सुनने में नहीं आता अमुक व्यक्ति एक महीने से आत्महत्या कर रहा है।	११. सल्लेखना का एक वैज्ञानिक साधना क्रम है। जैसे उत्कृष्ट बारह वर्षों की नियम सल्लेखना। साधक बहुत समय से तथा बहुत समय तक सल्लेखना लिये रहता है। यहाँ क्षणिक आवेश का प्रश्न ही नहीं। पूरे समय वह समभाव में रहता है।

इसके अलावा भी और अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसके विपरीत देश की रक्षा की खातिर मरण सुनिश्चित होने पर भी एक सैनिक रण में लड़ने जाता है। वह भी तो खुद को मरने मारने ही जा रहा है। उसे भी पता है रण में जाने का अर्थ है मृत्यु। शायद ही वह जिन्दा वापस आये। उसका प्राणान्त होने पर उसे 'शहीद' कहा जाता है। युद्ध क्षेत्र में भूखा-प्यासा भी रहना पड़ सकता

है किन्तु उसे 'आत्महत्या' नहीं कहा जाता। कहना भी नहीं चाहिए। उसी प्रकार आत्मकल्याण के लिए यदि कोई साधक जीवन के अंतिम समय में व्रत-उपवास पूर्वक अपनी आत्मा को पवित्र बनाता हुआ शान्तभाव से स्वतः मृत्यु को स्वीकारता है तो उसे 'समाधि' कहा जाता है, आत्महत्या नहीं। समाधिस्थ और शहीद वीर होते हैं। आत्महत्या कायर ही करते हैं।

निष्कर्ष—तमाम कोशिशों के बाद भी यदि जीवन बच सकता हो, उसे सदा के लिए रखा जा सकता हो तो भी जीवन की आकांक्षा को सार्थक माना जा सकता है। मनुष्य जीवन की आकांक्षा फिर भी करता है किन्तु इस आकांक्षा के फल में वह मृत्यु से तो दूर उससे पूर्व होने वाली बीमारियों से भी नहीं बच पाता है। हमें यह समझना होगा कि जीवेषणा के त्याग का अर्थ मृत्यु की इच्छा नहीं है। क्या यह नहीं हो सकता कि इच्छा न तो जीने की हो और न मरने की, बल्कि जो भी है उसी की स्वीकृति है। जब जीवन की स्वतः निर्मित आयु पूर्ण होने को होती है तब भी मनुष्य जीने की इच्छा नहीं छोड़ता। इसीलिए जैनधर्म में सल्लेखना, संथारा मृत्यु महोत्सव का विधान है। जिसके अनुसार मृत्यु की इच्छा नहीं, बल्कि स्वतः आगत मृत्यु का पूरे होश हवाश एवं प्रेम के साथ संयम व साधना पूर्वक स्वीकार है। सहज मृत्यु को स्वीकारना और मृत्यु की इच्छा करने में बहुत फर्क है। जिसका मर्म अध्यात्म तथा धर्म-दर्शन-संस्कृति की गहराईयों से अनभिज्ञ कानूनविदों तथा कुछ आधुनिक पत्रकारों की समझ में आना जरा मुश्किल पड़ता है।

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में एक आयु नाम का कर्म है, जो अघाती कर्म माना जाता है तथा तीर्थंकर स्वयं भी इस कर्म को बलात् नष्ट नहीं करते। यह अपना काल पूर्ण करके स्वतः समाप्त होता है। जैनधर्म के अनुसार हमें जन्म की तरह मृत्यु को भी मंगलकारी मानना चाहिए। शायद यही कारण है कि जीने की कला सिखाने का काम तो जैनधर्म ने किया ही, पर मरने की कला सिखाकर मृत्यु को भी महोत्सव के रूप में मानने की जैनधर्म की अपनी मौलिक विशेषता है।

दुनिया में अधिकांश लोग खा-खाकर ही मरते हैं। भूख-प्यास से मरने वालों की संख्या उनकी चौथाई हो सकती है किन्तु संयम साधना पूर्वक, आत्मानुभूति में सराबोर, स्वतः ही क्रमशः उपलब्ध अन्न, फल तथा जल तक का मोह छोड़कर जीवन की सन्ध्या में भी सुबह के सूर्य सा चमकते दमकते हुये द्वार पर खड़ी मौत का स्वागत करने वालों की संख्या ऊँगलियों पर गिनने जैसी भी नहीं है।

हर मनुष्य की चाह होती है अंत भला तो सब भला। जीवन भर की आध्यात्मिक तपस्या और साधना का सार पाने को यदि कोई साधक-साधिका बिना किसी को कष्ट दिये अपना कल्याण कर रहा है तो हम न्यायालय से उसे ऐसा करने से रोकने की गुहार लगा रहे हैं? कभी हम उसे इच्छामृत्यु, कभी आत्महत्या और कभी सती-प्रथा का जामा पहनाकर उसे एक कुप्रथा साबित करने की कोशिश में क्यों हैं?

भारतीय संविधान में प्रत्येक धर्म को स्वतंत्रता का अधिकार है। इसके अन्तर्गत मुस्लिम सम्प्रदाय में विशेष अवसरों पर पशुओं की कुर्बानी के नाम पर हत्यायें करने तक का रोक नहीं है। उनके खिलाफ कोई मुकदमा नहीं हो सकता। इसी आधार पर जैनधर्म, जो कि भारत का सबसे प्राचीन, मूल व स्वतन्त्र धर्म है उसे इस बात की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे अपने धर्म के अनुसार साधना कर सकते हैं। साधना के अन्तर्गत व्रत-उपवास, सल्लेखना, संथारा उनका अपना धार्मिक मौलिक अधिकार है।

हमारा पूरा जीवन इसी कोशिश में व्यतीत होती है कि कहीं हम मर न जाएँ। हम खाते हैं ताकि मर न जायें, हम पीते हैं ताकि मर न जायें। हम वस्त्र पहनते, मकान बनवाते, कमाई करते, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, चर्च जाते हैं ताकि मर न जायें। हम जीते कहाँ हैं? मृत्यु के भय से हमेशा हर क्षण मरते हैं। हमारे जीवन का लगभग हर पुरुषार्थ मृत्यु से रक्षा के लिए है। यह सब भी ठीक लगता यदि हम फिर भी जिन्दा रहते। मनुष्य फिर भी मरता है और किसी भी समय कभी भी मरता है। इसीलिए जैनधर्म ने कहा जो काम अपने समय से होना है उसकी इच्छा मत करो और उससे डरो या भागो भी नहीं। उससे निर्भय होना ही उस पर विजय है। जीवन होगा तो जियेंगे और मृत्यु होगी तो मरेंगे; मगर डरेंगे नहीं। सिर्फ अपने अन्दाज में जियेंगे और मरेंगे, खुद के एहसास में जियेंगे और मरेंगे। मृत्यु पर विजय का अर्थ जीवन नहीं है। मृत्यु के भय से मुक्ति ही उस पर विजय है। बलात् मृत्यु में मरना और स्वतः मृत्यु में भी जीना—बस यही अन्तर है इच्छामृत्यु, आत्महत्या और संथारा, सलेखना के बीच में। संथारा पर आरूढ़ और समाधि की ओर अग्रसर साधक जीवन और मृत्यु दोनों से एक ही बात कहता है—

तू है तो तेरी फिक्र क्या ?
तू नहीं तो तेरा जिक्र क्या ?

सांसारिक मृत्यु और समाधिमरण में प्रायोगिक और दिखायी देने वाले कुछ स्थूल अन्तर भी हैं जिन्हें हम सभी देख भी सकते हैं। मौत का क्या भरोसा? किस क्षण चली आये। आज तक हमने अस्पतालों में, बोतलें चढ़े, दवाईयों के नशे में, प्लास्टरों और इंजेक्शनों के बीच रोते, बिलखते, तड़फते मरते बहुतों को देखा है, सब अन्त समय तक जीना चाहते थे। शराबी, शबाबी और कबाबी लोगों को नालियों में सड़ते-मरते देखा है—ये भी जीना चाहते थे। हत्या, डकैती और आतंकवाद में लिप्त लोगों को गोलियों से छलनी अवस्था में उनकी दया-याचक नम आँखों को देखा है—ये भी जीना चाहते थे। निराशा, हताशा, असफलताओं से घबड़ाये, भावनात्मक रूप से क्षत-विक्षत लोगों को पंखों से लटक कर, ट्रेन के नीचे कटकर, बिल्डिंग से कूदकर, जहर खाकर आत्महत्या करते देखा है, ये भी जीना चाहते थे, लेकिन डरपोक थे, जी नहीं पा रहे थे। इनकी कमजोरी ने इन्हें मार दिया था। धर्म के नाम पर भगवान की पूजा या आज्ञा से, धर्मगुरुओं के पाखण्ड से कईयों को बलि चढ़ते और चढ़ाते सुना है। ये अन्धभक्त अज्ञानी तथा असंयमी थे, भगवान से भयभीत थे। कई लोगों को बीमारी या गरीबी से तंग आकर राष्ट्रपति से इच्छामृत्यु की अनुमति मांगते देखा है—ये भी निराश व परेशान लोग हैं और मरना चाहते हैं।

इतना सब देखने के बाद दूसरी तरफ कई तपस्वियों, मुनियों, आर्यिकाओं, साधु-साध्वियों तथा श्रावक श्राविकाओं को सल्लेखना और समाधि के समय भी समता और वीतराग, प्रशान्त भाव मुद्रा में देखा है। उनकी मुख मुद्रा प्रशांत दिखी तथा मन में किसी किस्म की आकुलता-व्याकुलता नहीं देखी। अस्सी-नब्बे दिनों तक वृद्ध से वृद्ध साधु/साध्वियों को आनन्द की मुद्रा में जिन-भक्ति करते-सुनते, आत्मानुभूति में रमते आनन्दमग्न मैंने स्वयं देखा है। मैंने अंतिम क्षणों तक उनके मुखमण्डल पर सबके प्रति दया, क्षमा की रेखाओं को देखा है। आश्चर्य है कि लोग कहते हैं ये मर रहे हैं; मुझे तो लगता है ये ही जीवन का क्षण-क्षण बिना मृत्यु भय के आनन्द से जी रहे हैं। उनके चेहरे पर मैंने मृत्यु भय की रेखा तक नहीं देखी।[२५] उनकी आत्मा तपे हुये सोने की तरह पवित्र तो हुयी ही, उनका शरीर भी मल-मूत्र से रहित शुद्ध हो गया।

मोक्ष है अथवा नहीं? उन्हें यह मिलेगा या नहीं? यह बातें बहस और विवाद की हो सकती हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि बन्दा जिया तो पूरा जिया और मरा जो पूरा मरा, बिना डर, निराशा और इच्छा के जिया और मरा। संथारा-सल्लेखना को तर्क और गणित की सतही भाषा में समझना मुश्किल है। उसे समझने के लिए आध्यात्मिक गहराईयाँ उनकी अनुभूतियाँ चाहिए। जिसे विनोबा भावे जैसे सन्त ने इसके असली मर्म को समझकर अपने जीवन के अन्त समय में करके एक आदर्श प्रस्तुत किया। जीवन और मृत्यु के अन्तर्द्वंद्व को आचार्य महाप्रज्ञ जी ने बहुत सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

जीना हो तो पूरा जीना
मरना हो तो पूरा मरना।
बहुत कठिन है इस जीवन में,
आधा जीना आधा मरना।।

*

सन्दर्भ-सूची

१. मूलाचार ३/१२

२. कल्याणकारक, परि० ३, पृष्ठ ७०४

३. समयसार २/२४८

४. छन्दोऽनुशासनम् ३/३९-१६

५. निष्प्रतिकार सल्लेखना-आचार्य विद्यानन्द, प्राकृतविद्या अक्टूबर १९९५

६. रघुवंश १/८

७. प्राकृतविद्या, अक्टू. १९९५, पृष्ठ १०

८. तत्त्वार्थसूत्र ७/२२

९. सर्वार्थसिद्धि ७/२२/३६३/४

१०. समणसुत्तं ५६७

११. भगवती आराधना ७४,७५

१२. धवला १/१, १, १/२५/१

१३. तत्त्वार्थसूत्र ७/३७

१४. रत्नकरण्डश्रावकाचार १२२

१५. भगवती आराधना, गाथा ७१ से ७४

१६. मूलाचार २/६४-६५ एवं मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन (डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी) पृष्ठ-३९६

१७. मूलाराधना ११२ (प्राकृतविद्या २००४, समाधिविशेषांक के पृष्ठ ४३ पर उद्धृत)

१८. भगवती आराधना २४

१९. इन्टरनेट सोर्स द्वारा उपलब्ध जानकारियों के आधार पर तथा प्राकृत विद्या समाधि विशेषांक में पृष्ठ ११३ से ११६ में डॉ० भागचन्द भास्कर का लेख।

२०. प्राकृत विद्या: समाधि विशेषांक २००४ पर पृष्ठ १५५, सल्लेखना एवं भारतीय दण्डविधान-अनूपचन्द्र एडवोकेट।

२१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ८५

२२. वही, श्लोक-१७७

२३. वही, श्लोक १७८

२४. मृत्यु की दस्तक: संपा. वैद्यनाथ सरस्वती में डॉ० अनेकान्त का आलेख 'जैनदर्शन में मृत्यु विज्ञान' प्रका० डी०के० प्रिंटवर्ल्ड, नई दिल्ली, पृष्ठ ३०-३३

२५. 'सल्लेखना : संयम और समाधि-डॉ० अनेकान्त कुमार जैन, दैनिक जागरण, ९/८/२००५

*

शिक्षा के प्रसार में जैन महिलाओं का योगदान

श्रीमती डॉ० मुन्नी पुष्पा जैन

अनेकान्तविद्याभवनम्, बी २३/४५पी-६

शारदानगर, खोजवाँ, वाराणसी - २२१ ०१०

शिक्षा जीवन का एक अभिन्न अंग है। यह जीवन की सुरक्षा के साथ जीवन को गति प्रदान करती है। इसलिए मनुष्य का जीवन दो विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाता है। पहला यह कि उसका चिन्तन, विचार, ज्ञान, उपलब्धियाँ अनुभव आदि। दूसरा यह है कि उससे जीवन में कार्य व्यवहार, सामाजिकता आदि। यही जीवन के दोनों पक्ष संक्षिप्त रूप में शिक्षा और दर्शन कहला सकते हैं। क्योंकि शिक्षा, समाज वा व्यक्ति द्वारा परिचालित वह सामाजिक प्रक्रिया है, जो समाज को उसके द्वारा स्वीकृत मूल्यों और मान्यताओं की ओर उन्मुख करती है।

आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, नैतिकता जैसी विरासत की उपलब्धि शिक्षा द्वारा ही होती है। मनुष्य का जीवन, विशेषकर स्त्रियों का जीवन संघर्षों और समस्याओं का पर्याय बना होता है। ऐसे में समस्याओं से जूझने की सामर्थ्य, संकल्प और साहस शिक्षा द्वारा ही प्राप्त होता है। शिक्षित नारी व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ समाज और परिवार के सदस्यों के आचार-विचार और आहार का परिष्कार कर नागरिकों का निर्माण करती है। जिससे वे राष्ट्र निर्माण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सके।

जैन परम्परा में स्वाध्याय, तप, संयम आदि के माध्यम से शिक्षा मोक्ष प्राप्ति का हेतु तो बनती ही है, साथ ही वह लौकिक दृष्टि से हमारे वर्तमान जीवन को उत्कृष्ट बनाने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। अत: जैन दृष्टिकोण से शिक्षा का उद्देश्य मानव जीवन का समग्र विकास है। जिससे प्रसुप्त शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। जीवन में आने वाली विपत्तियों, कठिनाइयों, प्रतिकूलताओं को निराकुल भाव से सहन करने की क्षमता की प्राप्ति एवं विवेक पूर्ण अनेकान्त दृष्टि प्राप्त होती है तथा सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक कर्तव्यों के प्रति अपना दायित्व निभाने वाली भावना जन्म लेती है। शिक्षा का औचित्य जैनाचार्य वादीभसिंहसूरि ने क्षत्रचूड़ामणि (२/२७) में इस प्रकार कहा गया है—

वैपश्चित्यं हि जीवानामाजीवितमनिन्दितम् ।
अपवर्गेऽपि मार्गोऽयमदः क्षीरमिवौषधम् ।।

अर्थात् विद्वत्ता मनुष्य के लिए जीवनपर्यन्त प्रतिष्ठाजनक होती है और जिस प्रकार दूध पौष्टिक होने के साथ-साथ औषधिरूप भी है, उसी प्रकार विद्वत्ता भी लौकिक प्रयोजन साधक होती हुई मोक्ष का कारण बनती है।

भारतीय समाज में नारी का स्थान महत्वपूर्ण होते हुए भी एक दूसरी तस्वीर भी दिखाई देती है जो औरत के बहुरूपी शोषण पर केन्द्रित है। युद्ध हो या शांति, सरहद हो या आंगन, गाँव हो या महानगर, महाभारत हो या आज का भारत, अत्याचार, अन्याय नारी को ही सहन करने पड़ते हैं। समझौते भी उसी को करने पड़ते हैं, यदि नारी बगावत पर उतर आये तो परिवार, समाज, राष्ट्र की नींव खतरे में पड़ जायेगी। धन्य है नारी की सहनशीलता जिसकी कोई सीमा नहीं, इतिहास गवाह है कि परिवार और समाज की मान मर्यादाओं को सुरक्षित रखने के लिए उसने पुरुषों द्वारा दिये अनेकानेक अन्यायों को सहते हुए समय की प्रतीक्षा की और धर्म, साधना और संयम का मार्ग ही अपनाया। विशेषकर जैन महिलाओं ने धर्म, साधना, तप, ज्ञान का मार्ग अपनाकर अपनी विशिष्ट स्वतंत्र पहिचान बनाई है। नारी के संघर्षों, दुःखों के विषय में किसी ने बहुत मार्मिक शब्दों में सही बात कही है—**'सहना हर औरत को पड़ता है, पीर नहीं मात्र तस्वीर बदलती है।'**

सृजन, दर्द और नारी आपस में एक दूसरे के पर्याय जैसे ही हैं। कोई भी नारी अपने दर्द को उस हद तक कभी नहीं कह पाई है, जिस हद तक उसने सहा है। बल्कि उसने अपनी अंतर्वेदना को सृजन की ओर मोड़कर पूरी तन्मयता से जीवन जीने के नये आयाम स्थापित किये हैं और चुनौतियाँ स्वीकार करते हुए यही कहा कि—

बात गई अब उस पल की, रो-रो कर जब हम दुःख सहती
स्वाद शिक्षा का पाया है, आनन्द आत्मसुख का पाया है
खुलै अब नैन, नींद गई टूट, बुद्धि के पर आये हे फूट
घुटावें क्यों दुःख में हम दम, पाया जब चिन्तामणि सा जन्म ।

वैदिक परम्परा में नारी का स्थान सहधर्मिणी या अर्द्धांगिनी के रूप में रहा है। विवाह ही उनका वैदिक संस्कार है। पति सेवा ही उनके लिए सब कुछ है। फलत: पुरुष से दूर रहकर उनका स्वयं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह पाया है? यदि है तो बहुत ही अल्प उदाहरण ही मिलेंगे। जबकि जैन परम्परा में नारी का स्वावलंबन

जीवन, उनकी स्वतन्त्र पहिचान के बहुत अधिक उदाहरण मिलेगें। मात्र पति या पुरुष के साथ रहकर जीवन व्यतीत करना उनके जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं है। यदि वे चाहें तो आजीवन ब्रह्मचर्य या आदर्श श्राविका के रूप में रहकर भी आदर्श धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

जैन वाङ्मय में निबद्ध आख्यानों से सिद्ध होता है कि पुरुषों के समान ही नारियों में शिक्षा का प्रचार था। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभदेव) ने पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को ६४ कलाएं सिखलाई। पुत्रों के समान अपनी दोनों पुत्रियों-ब्राह्मी और सुन्दरी को एवं अक्षर क्रमशः लिपि और गणित की शिक्षा दी। व्याकरण, छन्द और अलंकार शास्त्र का भी उपदेश दिया। इनकी ज्येष्ठ कन्या ब्राह्मी के नाम से लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पड़ गया। जिसे आज अनेक लिपियों की जननी प्राचीनतम लिपि की संज्ञा प्राप्त है।

आठवीं शती के जैनाचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण में कन्याओं की शिक्षा अनिवार्य मानी गई है। इस पुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तीर्थंकरों की माताओं से स्वर्ग की देवियाँ आकर नाना प्रकार के पहेली के समान प्रश्नों को पूछती थी और शिक्षित होने के कारण माता उनके प्रश्नों के तर्कपूर्ण उत्तर देती थीं। ऐसी भव्य माताओं की कुक्षी से जन्म लेकर सभी तीर्थंकरों ने आत्मा से परमात्मा बनने तक की यात्रा तय की।

तीर्थंकरों के समवसरण में साधुओं से ज्यादा आर्यिकाओं की संख्या रही है। जैन परम्परा का प्रभाव अन्य धर्मों पर भी पड़ा। परिणाम स्वरूप भगवान बुद्ध ने भी स्त्रियों को अपने संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी थी।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर के संघ में रहने वाली पैंतीस हजार साध्वियों और श्राविकाओं के अथक परिश्रम से शिक्षा का प्रचार-प्रसार दीर्घकाल तक चला। चन्दनवाला जिन्हें अपने जीवन में अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। जब वे दीक्षित होकर आर्यिका पद पर प्रतिष्ठित हुईं तो उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें छत्तीस हजार आर्यिकाओं के संघ की अधिनेत्री (आर्यिका प्रमुख) निर्वाचित किया गया। चन्दनवाला द्वारा अनेकों सभाएं सम्पन्न हुई। चन्दना की प्रेरणा से नारी शिक्षा की रूपरेखा में पर्याप्त परिवर्तन और सुधार हुए तथा श्रावस्ती और कौशाम्बी सहित अनेक राज्यों में कन्या विद्यालयों की शुरूआत हुई।

वैशाली गणराज्य की अन्तिम अधिष्ठात्री कुमार देवी ने अपने असीम धैर्य और नीतिक चातुर्य द्वारा नारी जागरण और नारी संगठन का अपूर्व कार्य किया,

इन्होंने कई स्थानों पर विद्यालयों की स्थापना की। मगध नरेश श्रेणिक की पत्नी चेलना ने अनेक गुफाओं और उपाश्रयों का निर्माण कराकर नारियों की शिक्षा का प्रबंध किया।[१]

पद्मपुराण (रविषेणाचार्य कृत) में बतलाया गया है कि पहले कन्याओं की शिक्षा आर्यिकाओं के संघ के सानिध्य में किसी चैत्यालय आदि अनुकूल स्थान अथवा मुनिसंघ में होती थी। इस प्रकार की संस्थाएं चलती-फिरती पाठशालाओं के रूप में प्रतिष्ठित थी। पद्मपुराण में वर्णित केकया की सम्पन्न शिक्षा से तत्कालीन जैन समाज में कितनी प्रकार की विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी, इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। उस समय संगीतशास्त्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी, नृत्य कला, सप्तस्वरों का परिज्ञान, व्याकरण, छंद, अलंकार के साथ-साथ संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान कन्याओं, महिलाओं को कराया जाता था।

चित्रकला, भाषणकला, सिलाई तथा साथ ही पुस्तकर्म, काष्ठकला, मूर्तिकला में भी नारियाँ प्रवीण होती थीं। औषधिविज्ञान, रसविज्ञान तथा भक्ष्य, भोज्य, पेय और लेह्य भोजन सम्बन्धी पदार्थों की निर्माण प्रक्रिया को सीखना, आरोग्यवर्द्धक एवं सुस्वादु भोजन बनाना नारी शिक्षा के अन्दर परिगणित था।

प्रत्येक माता चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित सन्तान के संस्कारों के लिए 'प्रथम पाठशाला' का रूप होती है। तथा अपने पति, भाई अन्य रिश्तों के पुरुषों को भी दिग्भ्रमित होने से बचाती है और सही रास्ता दिखाती है। जैन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है अनेक विदुषी महिलाओं ने अनेक जैन विद्वानों, साधुओं के भविष्य निर्माण में अपूर्व योगदान किया।

आचार्य हरिभद्र वैदिक धर्म के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी एक जैन साध्वी द्वारा पढ़ी जा रही गाथा के अर्थ को नहीं समझ पाये, और वे अपने अभिमान की प्रतिज्ञा अनुसार—'ऐसा कुछ भी जो हमारी समझ में न आये और उसे अन्य कोई समझा दें तो उसका शिष्य हो जाऊँगा तदनुसार एक वैदिक विद्वान् को जैनाचार्य बनते देर नहीं लगी। आचार्य हरिभद्र ने 'याकिनी महत्तरा' के उपकार को अपने नाम के साथ 'याकिनी महत्तरा सुनु' के रूप में अपना परिचय देते हुए व्यक्त किया है।

नारी रिश्तों के अनेक रूप है जो सभी जानते हैं। सबका अपना महत्व है। इन रिश्तों के अलावा नारी के स्वयं के व्यक्तित्व के व्यक्तिगत तीन रूप प्रमुख है—लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा। परिवार में सुख-समृद्धि सम्पन्न बनाने के लिए वह लक्ष्मी है,

---

१. जैन वाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व: पृष्ठ २२२-२२३ (डॉ० निशानन्द शर्मा) प्रका० प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली

बुराईयों को ध्वंस करने के लिए वह दुर्गा है और परिवार, समाजव राष्ट्र को सुशिक्षित, सुसंस्कारित बनाने के लिए वह 'सरस्वती' मानी गई है।

नारी समाज की वर्तमान स्थिति और उनका उत्थान—

प्राचीन काल में नारी को समाज रूपी रथ का एक सशक्त चक्र माना जाता था। परिवार की रीढ़ एवं संस्कारों की जननी के रूप में नारी की अपनी एक अलग पहचान थी। भारतीय समाज में एक धारणा थी—जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ अनेक दिव्य शक्तियाँ निवास करती हैं। आज वही नारी अनेक कठिनाईयों से जूझ रही है। प्रताड़नाओं का सिलसिला उसके कोमल मन को आहत कर देता है। अनेक परिवारों में आज भी नारी को हीन दृष्टि से देखा जाता है। घर व बच्चों की देखभाल ही उसका मुख्य दायित्व समझा जाता है। नारी की स्वतंत्रता को कुचलने का हर सम्भव प्रयास किया जाता है।

नारी की प्रताड़ना से जुड़ा एक दर्दनाक पहलू है—भ्रूणहत्या। वह स्वयं नारी के द्वारा नारी का शोषण है। एक समय था जब लड़की का जन्म होते ही घर में मातम सा छा जाता था। परिवार के बुजुर्ग कन्या को 'बोझ' समझते थे। यद्यपि शिक्षा ने मनुष्य के चिन्तन को व्यापक बनाया है पर लड़की के बारे में सोच की संकीर्णता आज भी ज्यों की त्यों है। पुत्र भविष्य में माँ-बाप को सहारा व सहयोग देगा इसकी कोई गारंटी नहीं, पर हर मां चाहेगी उसकी होने वाली सन्तान पुत्र हो। यन्त्रों के जरिये जब कन्या भ्रूण की बात सामने आती है, मां की ममता का स्रोत भी सूखता-सा नजर आता है। प्रतिवर्ष लाखों बेजुबान भ्रूणों को कोख में मार दिया जाता है। चिकित्सक भी ऐसा जघन्य कार्य करते हुए कम्पित नहीं होते। पैसे का लोभ उन्हें दृष्टिहीन व निष्करूण बना देता है।

दूरदर्शन की संस्कृति ने मनुष्य की जीवन शैली को सबसे अधिक प्रभावित किया है। संस्कारहीनता का बढ़ता दौर इसी दूरदर्शन का परिणाम है। आज नारी की प्रताड़ना का यह क्रम किसी एक समाज या देश तक सीमित नहीं है। समूचा विश्व इस समस्या से कमोवेश रूप से जूझ रहा है।

आज जरूरत है नारी समाज की प्रताड़ना से जुड़े सारे पहलुओं पर गहराई से विचार किया जाय। क्योंकि नारी समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। उसकी स्वस्थता समाज की स्वस्थता है। पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्थाएं नए शिखर तलाशने में कामयाब हो सकती है। नारी ने अपने जिन नैसर्गिक गुणों से सदैव घर को स्वर्ग बनाया है। वे गुण हैं—समता, ममता, सहिष्णुता, श्रमशीलता, शान्ति, स्नेह, सेवा, सदाचार, विनम्रता, सहनशीलता, स्नेहशीलता—ये नारी के आभूषण हैं। इनसे

जीवन में निखार आता है। सौंदर्य शतगुणित हो जाता है। सुघड़ गृहिणी की पहचान इन सद्गुणों से सहज ही हो जाती है। आचार्य तुलसी ने नारी की व्याख्या करते हुए लिखा है—सहजता जिसका जीवन व्रत हो, शील जिसका शृंगार हो, करुणा जिसकी सहचरी हो, वात्सल्य जिसकी पहचान हो, यह है नारी का वास्तविक स्वरूप यदि उसे पर्याप्त सम्मान दिया जाय तो वही नारी परिवार की मेरुदण्ड बनकर प्रत्येक मोर्चे पर डटी खड़ी दिखाई देगी।

किन्तु आज नारी अपने मूल गुणों को जो जीवन के आदर्श रूप थे, उनको भूलती हुई नजर आ रही है, इसका मुख्य कारण है—सुविधावादी मनोवृत्ति। उपभोक्तावादी संस्कृति के चलते आदमी अधिक-से-अधिक भौतिक चकाचौंध एवं भौतिक होता जा रहा है। सुख-सुविधाओं के भौतिक साधना का अम्बार तो लगा दिया है, पर इससे पारिवारिक सुख, स्वास्थ्य तथा प्रसन्नता दिन-ब-दिन घटती नजर आ रही है। पारिवारिक विखराव और विघटन—ये आज की अहम समस्या बनी हुई है। टूटन के कगार पर खड़े परिवारों को बचाने के लिए आवश्यक है—सामंजस्य के सूत्रों की अनुप्रेक्षा व सम्बन्धों की मधुरता के उपायों की खोज हो।

जैन इतिहास के उज्जवल पन्नों में ऐसी अनेकों सन्नारियों के जीवनवृत्त स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित हैं, जिन्होंने सब संकटों को झेलकर अपने और परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए सबकुछ न्योछावर कर डाला, मगर घबराई नहीं, तलाक नहीं दिया, सुख-दु:ख जो कुछ मिला सबको समता से सहन कर एक आदर्श उपस्थित किया। शील की सुरक्षा हेतु अपने प्राणों की बाजी लगा दी किन्तु कभी झुकी नहीं। इस तरह तो नारी परिवार व समाज की आधारशिला है। पूरे परिवार को एक सूत्र में बाँधकर रखने की कला सिर्फ नारी के अलावा और किसी में नहीं है, क्योंकि वह स्वयं करुणाशील, कर्तव्य की प्रतिमूर्ति एवं दायित्व बोध जैसी विरल विशेषताओं से समृद्ध होती है। नारी के नाना रूप हैं। वह माँ, पत्नी, बहन और बेटी भी है। भावी पीढ़ी का निर्माण करने में सद्संस्कार, वात्सल्य और प्यार, सेवा देने में सर्वत्र प्राथमिकता नारी ने दी है।

जैन समाज का गौरव बढ़ाया शिक्षक नारियों की सर्वाधिक संख्या ने— भारतीय जनगणना सन् २००१ के सितम्बर, २००४ में आयोग द्वारा प्रसारित आंकड़ों के अनुसार भारत में साक्षरता की दृष्टि से जैन समाज का ९४.१ प्रतिशत है, जो कि अन्य भारतीय सभी धर्मानुयायियों की अपेक्षा सबसे अधिक है। जबकि जनसंख्या की दृष्टि से जैन समाज सबसे अधिक अल्पसंख्यक है। साक्षरता की दृष्टि से अन्य धर्मानुयायियों में हिन्दुओं का ६५.१ प्रतिशत, बौद्धों का ७२.७ प्रतिशत, ईसाईयों का ४०.३ प्रतिशत, सिक्खों का ६९.४ प्रतिशत, मुसलमानों का ५९.१

प्रतिशत है। इनमें साक्षरता की दृष्टि से जैन समाज की ही महिलाएं सबसे अधिक साक्षर पायी गयी हैं। इनकी साक्षरता की प्रतिशत ९०.६ है।

देश की सम्पूर्ण जनसंख्या में जैन समाज और जैन समाज की महिलाओं की साक्षरता की यह सर्वाधिक उच्च स्थिति कोई सौ-दो सौ वर्षों की देन नहीं, अपितु इसके पीछे हजारों वर्षों की साधना और इसका इतिहास छिपा है, क्योंकि जैन धर्म में ज्ञान या शिक्षा प्राप्ति का सर्वाधिक महत्व प्रारम्भ से ही रहा है। इसमें जहाँ 'सम्यक्दर्शनज्ञान चारित्रप्राणि मोक्षमार्ग:' कहकर सम्यग दर्शन, सम्यग ज्ञान और सम्यग चारित्र इन तीनों को एकसाथ मोक्ष का मार्ग प्रतिपादित किया गया है। वहीं प्रत्येक गृहस्थ अर्थात् श्रावक के प्रमुख दैनिक छ: आवश्यक कर्तव्यों में स्वाध्याय अर्थात् अध्ययन आदि शिक्षा कर्म को सर्वाधिक महत्व देते हुए देवपूजा, गुरूउपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छ: कर्तव्य (कर्म) प्रत्येक जैन गृहस्थ (श्रावक) को प्रतिदिन करना बतलाया है।

वस्तुत: जैन श्रमण संस्कृति में शिक्षा के द्वार सभी के लिए समान रूप में प्रारम्भ से ही बड़ी उदारता और सम्मान के साथ खुले रहे हैं। कहीं किसी प्रकार का प्रतिबन्ध या भेदभाव नहीं रहा। शिक्षित और ज्ञानी पुरुषों का समाज में सदा अग्रणी और सम्माननीय स्थान रहा है, चाहे वह बालक, बृद्ध, युवा, महिला या पुरुष कोई भी हो। प्राकृत भाषा के विशाल जैन-आगम और आगमेतर साहित्य में तो ज्ञान प्राप्ति के प्रति उदारता का आदर्श सर्वविदित है ही श्रमण संस्कृति और साहित्य के अध्ययन से ही यहाँ शिक्षा के प्रति सर्वत्र आगरूकता स्पष्ट होती है। जैनधर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव, जब वे गृहस्थावस्था में अयोध्या के अधिपति के रूप में प्रतिष्ठित थे, तब उन्होंने अपनी पुत्रियों को शिक्षा के प्रति प्रेरित करते हुए कहा कि—

विद्यावान पुरुषोलोक सम्मतिं याति कोविदैः ।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ।।

आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण १६/९८

अर्थात् इस लोक में विद्यावान पुरुष पण्डितों के द्वारा सम्मान को प्राप्त होता है और विद्यावती नारी भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है। अत: हे पुत्रियो! तुम विद्यार्जन के हेतु सदा प्रयत्नशील रहो। इस तरह जैन समाज में शिक्षित नारी की सर्वाधिक संख्या लाखों वर्षों की तपस्या का परिणाम है।

जैन समाज की महिलाओं में प्रतिभाओं, आदर्शों, संकल्प, दृढ़ इच्छाशक्ति की कमी नहीं रही है। प्रथमानुयोग तथा पुराणों के कथा प्रसंगों में आई अनेक विदुषियों राजुल, चन्दनवाला, अंजना, मनोरमा, चेलना, मनोवती, दृढ़व्रता, मैनासुन्दरी जैसी

महान् नारियों ने प्रतिकूल परिस्थितियों में अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करके भी आध्यात्मिक बल से अपने जीवन को श्रेष्ठतम बनाया।

नारी को सृजन का प्रतीक माना जाता है। 'माँ' का रूप लेकर वह सम्पूर्ण गौरव युक्त होकर जगत् पूज्य के सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है। परन्तु जैनधर्म की परम्परा में अनेकों बाल ब्रह्मचारिणी माताएं हैं जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में अनेकों शिष्या रूपी सन्तानों का निर्माण कर अपनी सृजन शक्ति का अनोखा उपयोग किया है। इसीलिए जैन परम्परा की आर्यिकाओं को 'माताजी' से सम्बोधित किया जाता है।

शिक्षा के प्रसार में प्रमुख जैन महिलायें—

यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, उन प्रमुख कुछ उल्लेखनीय जैन महिलाओं का आदर्श पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व, जिन्होंने अनेक प्रतिकूलताओं के बावजूद अपने दृढ़ संकल्प के कारण चुनौतियों का साहसपूर्ण सामना किया और महिलाओं और कन्याओं के बौद्धिक विकास एवं स्वावलम्बन की दिशा में शिक्षा प्रसार हेतु महनीय योगदान से सम्पूर्ण भारतीय समाज को आलोकित किया ।

जैन महिलाओं की ये विशिष्ट विशेषतायें रही है कि ये प्राचीन काल में स्कूली शिक्षा से वंचित भले रही हों, परन्तु अशिक्षित कभी नहीं रहीं। चूँकि घर में संस्कारों के साथ उन्हें उच्च आचार-विचार-आहार-व्यवहार आदि सभी दृष्टियों से विवेकपूर्ण रहने की शिक्षा बचपन से ही सम्पूर्ण दैनिक चर्या में क्षणे-क्षणे रहती थी।

इतिहास हमें बताता है कि हमारी कुछ माताओं अर्थात् श्राविकाओं ने भले ही स्कूली शिक्षा प्राप्त न की हो, परन्तु नित्य नियम से देवदर्शन एवं पूजन करने, प्रवचन सुनने, स्वाध्याय एवं संतसमागम आदि के कारण उनका ज्ञान, उनकी श्रद्धा सुशिक्षित महिलाओं से कम नहीं थी बल्कि श्रद्धा में तो वे सबसे आगे होती थीं। अपनी परम्परा को संरक्षित, सम्बर्धित करने में उनका अमूल्य योगदान रहा है। महान् जैनतीर्थ श्रवणबेलगोला की गोम्मटेश्वर बाहुबली की विश्वविख्यात विशाल मूर्ति बनवाने के लिए काललदेवी ने अपने बेटे चामुण्डराय को प्रेरित करने वाली उनकी माता ही थीं, जो (मूर्ति) दशों दिशाओं में श्रमण शासन और संस्कृति की महिमा को उद्घाटित कर रही है। प्रथम अभिषेक करने वाली देवी गुल्लिका अज्जि ने भी अपनी श्रद्धा के बल पर सभी को आश्चर्यचकित कर नतमस्तक कर दिया।

यहाँ दक्षिण भारत सहित देश के विभिन्न प्रान्तों की कुछ प्रमुख प्रसिद्ध शिक्षाविद् जैन महिलाओं के योगदान को उनके संक्षिप्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है—

दानशीला अतिमब्बे—ये दक्षिण भारत की महिला थीं, जिनधर्म में गहरी श्रद्धा रखने वाली अतिमब्बे ने अपनी निजी धनराशि को धर्म एवं शिक्षा प्रचार के लिए व्यय किया। कहा जाता है इसी देवी ने अपने व्यय से कन्नड़ कवि पोन्न द्वारा लिखे गये 'शान्तिपुराण' की एक हजार हस्तलिखित प्रतियाँ लिखाकर दान में बटवाईं। इस प्रकार अनेकों हस्तलिखित ग्रन्थों की रक्षा की। साहित्य सेवा के साथ-साथ उन्होंने 'मणिकनकखचित' (सोने तथा रत्नों सें मढ़ी हुई) १५०० (डेढ़ हजार) जिन प्रतिमाएँ विधिवत बनवाकर सहर्ष दान दी थीं, साथ ही मंदिर की अन्य सामग्री भी।

महाकवि रत्न ने 'अतिमब्बे' के इस धर्मानुराग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्हें दान चिन्तामणि नाम से जाना गया जो सर्वतोमुखी महादान से प्राप्त उपाधि है। शिलालेखों में उनके महादान की महिमा गाई गई है। वे नारी जाति की शिरोमणि थीं।[१]

अतिमब्बे ने पति की मृत्यु पर अपने पति के साथ सती न होने का निर्णय कर जैनधर्म की मान्यता का मान रखा।

सती प्रथा जैसी कुरीतियों को नकार कर पूर्ण साहस के साथ विधि से प्राप्त अभिशप्त वैधव्य जीवन को चुनौती देती हुई जैन महिलाओं ने अपना लक्ष्य अध्यात्म, परोपकार, शिक्षा प्रसार एवं सेवाभाव को शामिल कर एक मिशाल कायम की। 'ब्रह्मा का लेख पढ़ा करते हैं निरुद्यमी प्राणी। धोते हम कलंक वैधव्य का, बहा शिक्षा सरिता का पानी।' किसी कवि की इस बात को चरितार्थ किया।

त्यागी व्रती, दीक्षित महिलाओं के साथ-साथ गृहस्थी के भार को संभालने वाली महिलाओं ने भी समाज सेवा को अपना ध्येय बनाया। इन्होंने समाज की महिलाओं को संघटित कर उन्हें भाषणों द्वारा जागृति प्रदान की। नारी-शिक्षा, नारी सेवा और नारी धर्म की नवीन विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कर नारी जागरण की शंख-ध्वनि फूंक समाज को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया है।

दक्षिण भारत का जैन महिला समाज हठात् हमारे सम्मुख आदर्श उपस्थित करता है, शिक्षा, शिल्प, कला का प्रचार इन्होंने घर-घर कर दिया है। साथ ही बाह्याडम्बर युक्त स्वार्थमयी प्रवृत्तियों का भरसक परिष्कार किया है। इस प्रकार की नारियों की शृंखला में उषा देवी, पार्श्वनाथ मगदूम, श्री श्यामाबाई, अनंतराव

---

१. जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएं—लेखिका डा० हीराबाई बोरडि पृष्ठ १७१-१७२

भोसले, सौ० सुलोचना बाई, श्रीसुमति बाई जी, विद्युल्लता शाह आदि महिलायें प्रमुख हैं।

आगरा निवासी पाण्डवपुराण के लेखक पं० कवि बुलाकीदास इसलिए एक श्रेष्ठ विद्वान् कवि बन सके क्योंकि उनकी मां जिनका नाम 'जैनुल' था। इन्होंने अपने बेटे को स्वयं शिक्षित किया था। इनकी मां उस समय के सुप्रसिद्ध पं० हेमराज जी की विदुषी पुत्री थीं। पाण्डवपुराण की रचना बुलाकीदास जी ने अपनी मां की प्रेरणा से की थी।

मन्दिर निर्माण वा वास्तुकला क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। विश्वप्रसिद्ध आबू के आदिनाथ मन्दिर के पास देलवाडा के नेमिनाथ मन्दिर के निर्माण कार्य की देखरेख 'अनुपमा' ने की थी, जो प्रसिद्ध श्रेष्ठी तेजपाल की पत्नी थी।

श्रवणवेलगोल में विन्ध्यगिरि पर गोममटेश्वर भगवान् बाहुबली की लोकोत्तर प्रतिमा निर्माण कराने की प्रेरणा, चामुण्डराय को अपनी माता काललदेवी के भक्ति पूरित संकल्प से मिली।[१] नारी जाति के श्रेय में श्रीमान् साहू श्रेयांसप्रसाद जी ने लिखा है—

मूर्ति संरचना के क्षणों में शिल्पी की छेनी की नोक पर, उसकी माँ का अपार वात्सल्य ही अवतीर्थ होकर, उन कामकुमार, अजितवीर्य बाहुबली के वीतराग-वैभव का सृजन कर रहा था। शिल्पकार भी जब लोभ की लिप्सा में कला की उत्कृष्टताओं को भूलने लगा, तब एक अन्य नारी ने, शिल्पकार की माता ने ही, उसे समुचित मार्गदर्शन दिया, जिससे पाषाण में भी नये प्राण, नया सन्देश और अमरत्व मुखरित हो उठा।[२]

महिला रत्न मगनबाई

आपका जन्म जैन समाज के ख्यातिप्राप्त शिक्षा प्रसारक महान् हितैषी बम्बई के दानवीर सेठ माणिकचन्द जी की धर्मपत्नी श्रीमती चतुरबाई की कोख से पौष कृष्ण १० वि०सं० १९३६ (ई० सन् १८७९) में हुआ। उन दिनों शिक्षा का चलन नहीं था। स्त्रियों को तो कतई नहीं। अल्पायु में विवाह और बच्चे हो जाना आम बात थी। अत: विवाह मगनबाई का भी हुआ और अल्प समय बाद ही उन्हें पति वियोग का व्रजपात सहना पड़ा। इस वज्रपात के बाद कोई भी नारी के लिए अपने आपको सम्हालना, दुनिया की प्रतिकूल परिस्थितियों से डटकर मुकाबला कर जीवन जीना

१. गोम्मटेश्वर सहस्राब्दी महोत्सव दर्शन पृष्ठ १७

२. वही पृष्ठ २३१

बड़ी मुश्किल बात होती है। परन्तु साहस और संकल्प की धनी नारी अपने जीवन के साथ-साथ अपने जैसे अनेकों जीवन को संवारने का कार्य करती हुई अद्भुत मिशाल पेश करती हैं। मगनबाई जी ने ब्र० शीतल प्रसाद जी की प्रेरणा से धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, स्वाध्याय किया। अपने आप को तैयार किया फिर उन्होंने १६ फरवरी १९०६ के जैन गजट में श्राविकाश्रम खुलने की सूचना और महिलाओं का ज्ञानोपार्जन के लिए आश्रम में भर्ती होने का निमंत्रण छपवा दिया। उनका यह प्रयास शनैः-शनैः इतना विकसित हुआ कि मगन बहन ने एक ध्रौव्यफण्ड बना दिया और उसके ब्याज तथा सामाजिक सहायता से आश्रम का कार्य सुचारू रूप से चल निकला। आश्रम से सुशिक्षित महिलाएँ, भारत के अनेकों २७ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनके जीवनकाल में ही संचालन करने लगी थीं। उनकी प्रेरणा से बम्बई, दक्षिण प्रान्त, राजपूताना, मालवा, मध्यप्रदेश, देहली, पंजाब प्रान्त, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में अनेकों महिला आश्रम एवं कन्या पाठशालाएं स्थापित हो चुकी थीं।

इनके अथक प्रयास से स्त्री सभाओं, आश्रमों, पाठशालाओं का तो एक प्रकार से सारे भारत में जाल सा फैल गया।

फरवरी १९१० में सम्मेदशिखर पर पंचकल्याणक महोत्सव के समय मगनबाई की मुख्य प्रेरणा से महिलाओं की अनेक सभाएं हुई और तभी अखिल भारतवर्षीय दि० जैन महिला परिषद् की स्थापना हुई।

श्रीमती कंकुबाई

कारंजा में श्रीमती कंकुबाई की गौरवमयी प्रेरणा से सन् १९३३ में 'कंकुबाई श्राविकाश्रम' की स्थापना हुई। श्री कंकुबाई ने पू० आचार्य समन्तभद्र जी की छत्रछाया में कारंजा में आकर धर्माभ्यास किया। वहाँ महाराष्ट्र एवं अन्य क्षेत्रों की महिलाओं में धर्म के संस्कार आरोपित किये। इन्हीं के प्रभाव से कारंजा में प्रारम्भ में चिमाबाई पाठशाला खुली। यही पाठशाला श्राविकाश्रम के रूप में साकार हुई। इस समय आरा (बिहार) की महामना ब्र० चन्दाबाई जी भी उपस्थित थीं। आज कंकुबाई श्राविकाश्रम धर्मशिक्षा पाठशाला, मिडिलस्कूल, बालक मन्दिर, सिलाई कला विभाग आदि के लिए महत्त्वपूर्ण संस्था है। पं० विजयाताई भिसीकर, डॉ० पद्माताई किल्लेदार, श्री विशल्यताई गंगवाल तथा शोलापुर की विदुषी महिला रत्न ब्र० विद्युल्लता शहा यहीं की देन है।[1]

---

१. श्रीमती लाडोदेवी अभिनन्दन ग्रन्थ में उल्लिखित आलेख भारतीय स्तर की जैन महिला संस्थाएं ले० ब्र० विद्युल्लता शहा सोलापुर

पं० सुमतिबेन शाह—

भारतीय जैन महिलाओं ने शिक्षा के क्षेत्र में अनेकानेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना कर तथा साथ ही अपनी बुद्धि सम्पन्नता का परिचय देते हुए समाज और राष्ट्र के निर्माण में योगदान देकर तथा अनेक ग्रन्थों का सृजन कर, विविध क्षेत्रों में अपना स्थान बनाया है। ऐसी ही महिलाओं में से एक है पद्मश्री पंडिता सुमतिबेन शहा। आपने सन् १९१३ की ९ जनवरी के दिन जन्म लेकर उस दिवस को सार्थकता प्रदान की। आपको अपनी विशेष प्रतिभा के कारण काव्यतीर्थ, न्यायतीर्थ और पंडिता जैसी महान् उपाधियों से नवाजा गया। राष्ट्रभक्ति की भावना से स्वतंत्रता आन्दोलन जैसे महान् कार्य में अपनी भागीदारी सिद्ध की। अनेक भाषाओं पर समान अधिकार रखने वाली सुमतिबाई शहा जी ने कुछ मराठी पत्रिकाओं का सकुशल सम्पादन किया तथा मराठी साहित्य सम्मेलन की उद्घाटिका रहीं। आपने राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित पुरस्कारों को प्राप्त किया। जैनधर्म-सिद्धान्तों का प्रतिपालन करती हुई तथा दूसरों की प्रेरणास्रोत सुमति बेन शहा की वजह से सम्पूर्ण नारी जाति गौरवान्वित अनुभव करती है।

सुमति शिक्षिका शांता सन्मति कुमार

१७ जनवरी १९४१ में तुमकूर (कर्नाटक) में जन्मीं सुश्री शांति सन्मति कुमार ने अल्प वय से धार्मिक सामाजिक और शैक्षणिक क्षेत्र में अद्वितीय सेवा की है।

ब्र० चन्दाबाई

भारतीय नारी अपनी संस्कृति के आदर्शानुसार पतिव्रता की रक्षा करती हुई अपने जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने के साथ-साथ अपनी ही अन्य बहिनों के लिए सुशिक्षित बनाने में सदा सजग प्रयत्नशील रहती हैं। ऐसी ही थीं आरा (बिहार) की मातुश्री चन्दाबाई, जिन्होंने अपनी वाणी द्वारा अनेक सुअवसरों पर शिक्षा से दूर रहने वाली नारियों को सतर्क-सावधान कर सम्बोधित किया है। सन् १९२१ में कानपुर में सम्पन्न हुए भारतीय दिगम्बर जैन महिला परिषद् के १०वें अधिवेशन के अध्यक्षपद से इनके भाषण के ये कतिपय अंश कितने महत्वपूर्ण हैं—

'अविद्या राक्षसी ने हमारी बहनों को मनुष्यत्व से वंचित कर रखा है। जो हमारी वृद्धा माताएं नारी-शिक्षा की अवहेलना करती है। वे सचमुच अंधेरे में हैं, दिशा भूली हुई हैं हमारा विश्वास है कि शिक्षा जितनी पुरुषों की आवश्यकता है, नारियों को उससे अधिक। भावी सन्तान को सुयोग्य और सुशिक्षित एवं संस्कारी बनाने का भार हमारी माताओं के ऊपर ही है। समाज का अतीत गौरव शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।'

बहुमुखी प्रतिभा की धनी होने के कारण आप लेखिका, संपादिका, कहानीकार एवं कवियित्री होने के साथ-साथ सफल पत्रकार भी रहीं।

उपदेश रत्नमाला, सौभाग्य रत्नमाला, निबंध रत्नमाला, आदर्श कहानियाँ, आदर्शनिबन्ध और निबन्धदर्पण प्रभृति आपकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं, जो जीवन निर्माण के लिए बहुउपयोगी सिद्ध हुई।

सन् १९२१ से लम्बे अरसे तक जैन महिलादर्श नामक पत्र का सम्पादन आपने बड़ी कुशलता से किया। इस पत्र की विशेष विशेषता यह कि इसमें मात्र महिलाओं की रचनाएं ही प्रकाशित होती थीं। इस वजह से अनेक महिला प्रतिभाओं को अपनी पहचान बनाने का सुअवसर मिला और समाज को अपनी बहू बेटियों की योग्यता निखारने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जैन बाला विश्राम (जैन महिला-विद्यापीठ) की स्थापना

आप स्वयं में एक चलती-फिरती विद्यामन्दिर का रूप थीं; परन्तु सुदीर्घकाल तक अनेकों अनेक बहिनों को शिक्षा का प्रकाश मिलता रहे इसके लिए उन्होंने आरा (बिहार) में ही अपने परिवार के सहयोग से जैन बाला विश्राम की स्थापना कर हजारों निराश्रित बहिनों के जीवन को संवारने का अद्भुत मार्ग प्रशस्त किया। जो आज भी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता के साथ चल रहा है। राष्ट्रीय स्तर की हजारों प्रतिभायें यहां से आपके शिष्यत्व में पल्लवित-पुष्पित हुईं, जो अपनी प्रतिभा के उजाले से अनेक परिवारों को प्रकाशित, संस्कारित कर रही हैं।

पूज्य पतासी बाई जी

गया, रांची, हजारीबाग आदि दक्षिणी बिहार के क्षेत्रों में जो नारी जागृति हुई है वह सब आपका ही प्रताप है। गया में आपके द्वारा जैन महिला महाविद्यालय की स्थापना की गई, जिससे अनेक महिलाएं अपने जीवन को श्रेष्ठतम बना सकी तथा औरों के जीवनपथ को आलोकित करने के लिए आगे आई।

ब्र० कृष्णाबाई

ब्र० कृष्णााबाई एक ऐसी कर्मठ संयम साधनारत महिला का नाम था, जिसने ईसरी (बिहार) और श्रीमहावीरजी (राजस्थान) आदि तीर्थ क्षेत्रों पर महिला आश्रम खोलकर अनेक महिलाओं को शिक्षित कर संयममार्ग पर चलने और ज्ञान रूपी प्रकाश सर्वत्र फैलाने का कार्य किया है। शिक्षा के सारे पहलुओं को एकत्रित कर शिक्षा देना, श्रीमहावीरजी में अपनी अलग पहचान बनाये आपके द्वारा स्थापित मुमुक्षु महिलाश्रम का महान कार्य है।

इनके अतिरिक्त ज्ञानधन देवी द्वारा ज्ञानधन जैन संस्कृत महाविद्यालय (इटावा) की स्थापना प्रभावती देवी (अजमेर), उज्जवल कुमारी आदि महिलाओं ने अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के लिए महनीय काम किये हैं।

ब्रह्मचारिणी कमलाबाई

सन् २००० में देवी अहिल्याबाई होल्कर पुरस्कार से कमलाबाई द्वारा राजस्थान के श्रीमहावीरजी में पिछले पचास वर्ष पूर्व स्थापित महिला महाविद्यालय अब विश्वविद्यालय का रूप लेने की ओर अग्रसर है। प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर स्नातकोत्तर तथा बी०एड०, एम० एड० कक्षाओं एवं कम्प्यूटर तक की नि:शुल्क शिक्षा हजारों कन्याओं को निरन्तर प्राप्त करा रही हैं। बालिकाओं के लिए सुव्यवस्थित सुरक्षित हास्टल भी है। आज वैज्ञानिक युग के अनुसार महिलाओं के लिए तकनीकी शिक्षा को बढ़ाने के लिए कृत संकल्पित हैं। पहला **'स्त्री शक्ति पुरस्कार'** पाने वाली राजस्थान की ब्रह्मचारिणी कमलाबाई का कहना है कि शिक्षा के बिना मानव जीवन अधूरा है। इसलिए शिक्षा का प्रचार हर जगह होना चाहिए।

जिला नागौर के कुचामन की मूल निवासी कमलाबाई जैन का १२ साल की उम्र में विवाह हो गया, परन्तु दुर्भाग्यवश विवाह के केवल दो वर्ष बाद वह विधवा हो गईं। पूर्णतया निरक्षर होने के कारण उन्होंने स्वयं को निस्सहाय पाया। इसके बाद इन्होंने श्रीमहावीरजी के मुमुक्षु महिला आश्रम में प्रवेश लिया। इस आश्रम में उन्होंने पढ़ना लिखना सीखा। यहाँ इन्होंने धर्मग्रन्थों को पढ़ा और भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के बारे में ज्ञान हासिल किया। महिलाओं में अशिक्षा, विधवाओं का तिरस्कार देख इन्होंने साक्षरता सन्देश फैलाने की ठान ली। ३० वर्ष की आयु में इन्होंने। जनवरी १९५३ में जिला करौली के श्रीमहावीरजी जैसे सुविख्यात जैन अतिशय क्षेत्र में में मात्र ६ कन्याओं से अपना निजी आदर्श महिला महाविद्यालय का शुभारम्भ किया। आज इस विद्यालय में दो हजार से भी अधिक लड़कियाँ शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। अब यह विद्यालय आदर्श महिला महाविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है। इसीलिए अब बुलन्द हौसले व दृढ़ संकल्प की मिसाल बन चुकीं हैं ब्र० कमलाबाई जो कि महिला शिक्षा के विकास हेतु निरन्तर नित नये-नये चिन्तन और उसे प्रयोग रूप दने में संलग्न रहती हैं।

श्रीमती कंचनबाई

आप इंदौर (म० प्र०) निवासी अनभिषिक्त नरेश सरसेठ हुकुमचन्द जी की पत्नी थीं। आपकी प्रेरणा से निर्मित कंचनबाई जैन श्राविकाश्रम यहाँ पर स्थित है,

जिसमें दूर प्रदेशों से आई छात्राएं शिक्षा ग्रहण करती हैं। जैन संस्कारों से संस्कारित होकर ये छात्राएं अन्य लौकिक विषयों की भी पढ़ाई करती हैं। बहुमुखी प्रतिभा की धनी ये बालिकाएं निश्चित ही अपनी भावी पीढ़ी को सुसंस्कारित, सुशिक्षित करने में पूर्वरूपेण सक्षम हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण देश में आपने लाखों रूपयों का योगदान शिक्षण संस्थाओं को दिया।

ब्र० सुमित्रा बाई

आप बम्बई के श्राविकाश्रम से प्रशिक्षित होकर सागर (म० प्र०) आई। यहाँ इन्होंने श्राविकाश्रम शुरू किया। वर्तमान में जबलपुर में एक 'ब्राह्मी आश्रम' आचार्य विद्यासागर की प्रेरणा से खोला गया, जिनमें त्यागी, व्रती बहिनों की शिक्षा स्वाध्याय, पठन-पाठन की विशेष व्यवस्था की गई है।

महत्तरा साध्वी श्री मृगावती श्रीजी

मूलत: आप गुजरात की थीं। आप एक श्रेष्ठ साध्वी होते हुए भी आपने शीर्षस्थ विद्वानों के सानिध्य में अध्ययन किया। आपकी प्रेरणा से देहली में 'वल्लभ स्मारक और भोगीलाल लेहरचन्द इंस्टिट्यूट आफ इण्डोलॉजी' की स्थापना हुई। यह शोधार्थी तथा अन्य जिज्ञासुओं के लिए प्रकाशस्तम्भ की तरह है। इसके पुस्तकालय में दस हजार से भी अधिक प्राकृत, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं की दुर्लभ हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। आपके उपदेशों से प्रभावित होकर-आत्मानन्द हाई स्कूल हरियाणा, आत्मानन्द जैन कालेज अम्बाला जैसी अनेक शिक्षण संस्थाओं का सम्पोषण हुआ।[१]

इस तरह भारत के प्राय: सभी प्रदेशों, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब म०प्र०, बिहार में हमारी बहिनों ने शिक्षण संस्थायें चलाकर शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया है। 'येन केन प्रकारेण जैनधर्म प्रबर्धते' की उक्ति को साकार करते हुए अनेकानेक जैन महिलाओं ने अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार अनेकों मिसाल कायम की और मील का पत्थर बनीं।

माता चिरोंजा बाई

इनमें सर्वप्रथम हम संत गणेश प्रसाद जी वर्णी को संत, विद्वान्, सत्पथगामी और अनेक आदर्श शिक्षा संस्थाओं का संस्थापक बनाने वाली उनकी धर्ममाता चिरोंजाबाई का उल्लेख करना प्रमुख कर्तव्य समझते हैं, जिनके मातृवत्सल प्रेम और

---

१. जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ ले० डॉ० हीराबाई बोरडिया पृष्ठ ३१६

प्रेरणाओं ने पूज्य वर्णीजी को एक युगनिर्माता बनाया। जिनके कारण वर्णीजी ने जो शिक्षा का प्रसार किया, इसी का परिणाम है कि आज जैन समाज में इतने अधिक विद्वान् दिखलाई दे रहे हैं। जो विविध क्षेत्रों में जैन साहित्य, संस्कृति, शिक्षा और समाज सेवा में संलग्न हैं।

माता चिरोंजाबाई ने पूज्य क्षु० गणेशवर्णी जैसे व्यक्तित्व का सृजन किया, जिनके कारण बुन्देलखण्ड, उत्तर प्रदेश की धरती पर जगह-जगह विद्यालय एवं महाविद्यालयों की स्थापना हुई। बनारस में श्रीस्याद्वाद आदि महाविद्यालय वाराणसी जैसे अनेक क्षेत्रों में स्थापित जैन विद्यालयों ने शिक्षा के क्षेत्र में सहस्रों विद्वानों का निर्माण कर उल्लेखनीय कार्य किया है।

बीसवीं शताब्दी में और भी अनेकों श्राविकाओं ने साहित्य सेवा हेतु अनेक कार्य किये। भारत में भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक साहु शान्तिप्रसाद जी ने अपनी माता श्री मूर्तिदेवी के नाम से मुर्तिदेवी ज्ञानपीठ पुरस्कार दिये जाने की पहल कर 'नारी सम्मान' की मिसाल कायम की है। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन संस्था आपकी प्रेरणा से स्थापित हुई, जो श्रेष्ठ भारतीय साहित्य प्रकाशन की जननी बनी हुई है। श्रीमती रमा जैन एवं साहू शान्तिप्रसाद जी ने अनेकों महत्वूपर्ण तीर्थों का जीर्णोद्वार कर उन्हें संरक्षित किया। साथ ही पुरा सम्पदा को संरक्षित करने हेतु संग्रहालय बनवाये।

श्रीमती लाडादेवी सेठी ने भी इस क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण उदारतापूर्ण कार्य किये।

वर्तमान में—आर्यिकारत्न गणिनी प्रमुख ज्ञानमती माताजी ने विपुल साहित्य सृजन के साथ-साथ आठवीं शती के आचार्य विद्यानन्द द्वारा संस्कृत में रचित महान् जैन दार्शनिक ग्रन्थ अष्टसहस्री जैसे क्लिष्ट ग्रंथ का अनुवाद कर अपनी विद्वत्ता का जयघोष करवाया। इनके अतिरिक्त आपने नियमसार, षट्खण्डागम आदि अनेक महान् आगम शास्त्रों की स्वतंत्र संस्कृत टीकाओं सहित शताधिक ग्रन्थों की रचना कर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप तथा अयोध्या, प्रयाग, नालंदा आदि क्षेत्रों में विशाल तीर्थ क्षेत्रों की सम्प्रेरिका हैं।

आर्यिका रत्न सुपार्श्वमती एवं स्याद्वादमती माता जी वा विशुद्धमती माताजी जैन सिद्धान्तों की सहज सरलतम व्याख्यायें कर जनसाधारण के लिए मार्गप्रशस्त कर रही हैं। इन्होंने अनेक जैन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक प्राचीन मूल जैन शास्त्रों की विस्तृत हिन्दी टीकायें लिखीं हैं तथा अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना करके जैन

साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। साध्वी प्रमुखा कनक श्रीजी तथा अन्य शताधिक साध्वियों द्वारा विपुल साहित्य सृजन हो रहा है।

आज आधुनिक तकनीकी पढ़ाई के साथ ही आज हमारी श्राविकाएँ शोध कार्यों के द्वारा जैन एवं जैनेतर विषयों के साथ पी-एच०डी० कर चुकी है और कर रहीं हैं। तथा अन्य विज्ञान एवं व्यवसाय के क्षेत्रों में भी अपनी पहिचान बना रही हैं। ऐसी सभी श्रेष्ठ शिरोमणि महिलायें हमारे लिए वंदनीय हैं—'जहाँ भी हो वंदन स्वीकारें'। बरसाये ज्ञान की बौछारें।।

आज वैज्ञानिक तथा कम्प्यूटर के युग में तकनीकी शिक्षा के लिए हमारी बेटियों के लिए पढ़ाई करवाने वाली संस्थायें अधिकाधिक होना भी अनिवार्य है। साथ ही आज धार्मिक पाठशालाओं की अत्यंत आवश्यकता महसूस हो रही हैं, जो बड़े शहरों में, मुहल्लों, कालोनियों के आस-पास चलाई जायें। हमारा प्रयास इस ओर होना चाहिए। समाज में समय-समय पर निरन्तर आयोजित हो रहे धार्मिक शिक्षण शिविरों का अच्छा प्रभाव पड़ रहा है। ये शिविर कुछ हद तक पाठशालाओं की कमी को पूरा कर रहे हैं।

आज वर्तमान में भी प्रत्येक क्षेत्र में हमारी नारी समाज शीर्षस्थ स्थानों पर विद्यमान है। परन्तु कुछ प्रतिभाएं नैतिक संबल या उत्साहवर्धन न मिलने तथा विवाहादि के बाद अनुकूल वातावरण न मिलने, घर के लोगों के द्वारा ज्ञान और कला के प्रति उपेक्षाभाव होने के कारण वे प्रतिभाशाली महिलायें दबकर, मन मसोसकर रह जाती हैं। जरूरत है हम अपनी बहिनों को खुले मन से हर क्षेत्र में आने बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करें, उन्हें अनुकूल वातावरण प्रदान करें, उनके कार्यों की अनुमोदनाकर, प्रोत्साहित एवं सम्मानित कर पुरस्कृत करें, तभी जैन समाज विश्व के क्षितिज पर गौरवान्वित होगा।

संवेदनाओं और भावों का प्रवाह देश, काल, जाति, उम्र सभी बंधनों की सीमा से परे होकर अपना प्रभाव छोड़ता है। नारी जाति तो संवेदनाओं-भावनाओं का घनीभूत पुंज होती है। बुद्धिगत प्रयास बिना भावनाओं के सफल होना मुश्किल होते है। भावनाओं से सामूहिक तौर पर सशक्त ढंग से मानवीय आत्मा को झक़झोरा जा सकता है। इनसे आने वाले परिवर्तन व्यापक और चिरस्थायी होते हैं।

साहित्य के क्षेत्र में अनेक जैन कवियित्रियों, लेखिकाओं आदि ने अपनी भावपूर्ण रचनाओं से साहित्य की श्रीवृद्धि की है। चम्मादेवी श्रीमती जैनुल देवी, श्रीमती तुलसा आदि प्रमुख हैं। वर्तमान में भी ऐसी शताधिक महिला प्रतिभाएं मौजूद

हैं जो साहित्य, शिक्षा, संस्कृति के क्षेत्र साथ ही धार्मिक, आध्यात्मिक, संयम साधना, समाज एवं राष्ट्र सेवा के क्षेत्रों में अपनी उत्कृष्ट सेवाओं से अपनी अलग पहचान बनाये हुए हैं। प्रस्तुत निबन्ध की अपनी सीमाएं है। अत: अनेक श्रेष्ठ आर्थिकाओं, विदुषी महिलाओं आदि के विविध क्षेत्रों के महनीय योगदान को रेखांकित नहीं किया जा सका जिसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। वस्तुत: इन सबका उल्लेख एक वृहद् ग्रन्थ की अपेक्षा रखता है।

जैनधर्म रूढ़िवादिता, अंधविश्वासों से कोसों दूर है। मिथ्या मान्यताओं को जैन समाज में जगह न मिलने के कारण हमारी माताओं, बहिनों की शक्ति का उपयोग समय और धन स्वाध्याय, चिन्तन, परोपकार में लगता रहता है। परिणाम-स्वरूप परिवार, समाज, निरन्तर सुसंस्कारित समुन्नत होता रहता है। इसी वजह से सम्पूर्ण विश्व में जैन समाज की एक अलग विशिष्ट पहिचान है। संसार का कोई भी पक्ष चाहे वह राजनैतिक हो, सामाजिक हो, पारिवारिक हो, आर्थिक हो, शैक्षणिक हो, धार्मिक हो, नारी बिना सब अधूरा हैं। कहा भी है—

जग जीवन पीछे रह जाये, यदि नारी न दे पाये स्फूर्ति ।
इतिहास अधूरे रह जावे, यदि नारी न कर पाये पूर्ति ।।

राष्ट्र निर्माण देश के सुसंस्कारित, संयमी और कर्मठ नागरिकों के द्वारा होता है। नारी सृष्टि की प्रथम शिक्षिका है वही इन सारे गुणों को सभी में आरोपित करती है। महापुरुषों का कहना है—पति के लिए चरित्र, संतान के लिए ममता एवं संस्कार, समाज के लिए मर्यादा, शील, राष्ट्र के प्रति देशभक्ति, प्रेम तथा विश्व को करुणा और अहिंसा संजोने वाली महाप्रकृति का नाम है—**'नारी'**। इसकी तुलना एक ऐसी सलिला से की जा सकती है जो अनेक विषम मार्गों पर विजयश्री प्राप्त करते हुए सुदूर प्रान्तों में प्रवाहित होते हुए असंख्यात आत्माओं का कल्याण करती है।

✵

कविशिक्षा

डॉ० लक्ष्मीकान्त झा

प्राध्यापक-संस्कृत विद्या विभाग

श्रमण विद्या संकाय, सं.सं.वि.वि. वाराणसी

कवि प्रतिभा प्रसुप्ता यदा भवति तज्जागरणाय अभ्यास आवश्यको भवति येन अभ्यासेन शनैः शनैः काव्यरचनायां नैपुण्यं भवति।[१] अस्य कृते छन्दोनिर्माणपद्धतेः[२] वाक्यनिर्माण पद्धतेः, प्रचलितानां शास्त्रीयविधिनिषेधानां[३], तथैव लोकव्यवहाराणां[४] ज्ञानं, रचनानुकूलस्य स्थानस्य दिन चर्यायाः[५] कविसम्प्रदाये प्रचलितमान्यतानाम् इत्यादीनां ज्ञानम् आवश्यकं भवति। अपि च वर्णनीयपदार्थस्य विशेषधर्माणां बोधोऽपि भाव्य एव। एतेन लोकशास्त्रज्ञानपुरस्सरम् एव काव्यं रचयितुं शक्यते। काव्यरचनायां कारणानि सन्ति गुरूणामुपदेशः, तादृशानां लोकव्यवहाराणां गुणानाञ्च परिज्ञानं तथा च अन्वीक्षणं यानि समाहृत्य विवेचना सम्भवेत्[६] रचनायाः सामान्यप्रक्रियाया ज्ञाने सति गुरूणामुपदेशैरेव काव्यकरणं सम्भवेत् । स्वकीयरचनाभिः विभिन्नैराचार्यैः इदं साधु यर्यालोचितमपि, किन्तु कविशिक्षायाः क्षेत्रं लोकोऽयम्, अत्रत्या विविधा व्यवहाराश्च सन्ति। तथापि काव्यरचनायै उपयोगिनाम अथ च कविसम्प्रदायेषु स्वीकृतानां पदार्थानां, लोकव्यवहाराणाञ्च ग्रहणं कविशिक्षाक्षेत्रे क्रियते। काव्यशिक्षाग्रन्थे श्रीविनय सूरि विरचिते काव्यशिक्षायां लोक व्यवहाराणाञ्च कविसम्प्रदाये ग्रन्थकारेण रविगणेश्वरनाम्ना

---

१. काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे । .... हेतुर्न तु हेतवः / का०प्र० १/३

२. शब्दः छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदाष्टि द्वयं तु न ।। काव्या १/९-१५

३. देशकालस्वभावविरूद्धार्थानि .... विद्याविरूद्धार्थानि दोषत्वान्न प्रयोक्तव्यानि / का सू० लृ० २/२/२३-२४

४. लोको विद्या प्रकीर्णश्चेति काव्याङ्गानि । तदेव १/३/१

५. चित्तैकाग्र्यम् .... तद्देशकालाभ्याम् .... विविक्तो देशः रात्रियामस्तुरीयः कालः / तदेव १/३/१७-२०

६. (अ) तच्च शुद्धोपदेशेभ्यः शिक्षाणां वसतो भवेत् / का० शि० १/८
(आ) .... निपुणता लोक शास्त्रायाद्यवेक्षणात् काव्यज्ञशिक्षयाग्यासः .... का० प्र० १/३

आचार्यस्य मतमेवाङ्गी कृतं[१] यस्य सुष्ठज्ञानं प्रशिक्षुभि: कविभिस्वयमेव धार्यम् हि काव्येषु एतेषामेव पदार्थाणां वर्णनं प्रायुख्येन दृश्यते। तानि च तत्त्वानि इत्थं पर्यालोचयितुं शक्यन्ते—

(१) सुकविसाहचर्यम्[२]—साहित्यशास्त्रगुरूभि: रचनाकृद्भि सहवराद्भि प्रशिशिक्षभि साहित्यविषयकम् उद्देश्यं तु प्राप्यत एव रचनापद्धत्या: परिशीलनावसरोऽपि प्राप्यते। किञ्च वहुकालपर्यन्तं साहित्यालोचनं श्रुत्वा रचना रीतिं च परिज्ञाय तेषु स्वत एव काव्य प्रतिभा उदेति।

(२) काव्यानुशीलनम्[३]—सुकवीनां कृती पौन: पुन्येन अनुशीलनात तेषां रचनारीते स्वबोधो जायते, कविसम्प्रदायेषु प्रचलितानां परम्पराणां परिज्ञानं भवति विलक्षणानां कल्पनानां परिचय: प्राप्यते, रचनाया विविधानां आदर्शभूतानां तन्त्रकौशलानाम् अभ्यासश्च भवति। तेन प्रशिशिक्षुषु कविषु रचनायै विषयसामग्रिसङ्कलनं तु भवति एव सहैव श्रेष्ठरचनासंस्कारोऽपि उदेति।

(३) श्रेष्ठभावधारणम्[४]—सततकाव्यानुशीलनेन, पौन: पुन्येन तेषाम् अवलोकनेन, अध्ययनेन च निर्गलिततया श्रेष्ठा भावा उत्पद्यन्ते धार्यन्ते च। तेषां भावानां ग्रहणेन कवित्वशक्तौ उत्कर्षता वर्द्धते।

(४) सुजनमैत्री[५]—सुकविभि: सह मैत्रिभावापन्न: कोऽपि काव्यशास्त्रविनोदै: तथा च तेषां परिशीलनेन स्वकवित्वशक्तौ प्रौढत्वं प्राप्तुं शक्नोति विविधानां काव्यकृतीनां परिज्ञानं अपि भवति। काव्यरचनाप्रागल्भ्यं तत्रोत्कर्षश्च सुजनमैत्रिमूले परिगणितौ।

(५) सौमनस्यम्[६]—काव्यानुशीलनेन काव्यस्य माधुर्यपूरितत्वात् परिशीलयितरि सौमनस्यम् उदेति। सुमनसा श्रेष्ठभावानां ग्रन्थनमुपस्थापनश्च सहजतया कर्तुं शक्यते।

(६) सुवेषत्वम्[७]—प्रशिशिक्षुभि: कविभि: सुवेषेण भाव्यं। तै: विनीतवेषौधारणीय:। तस्य महत्वपूर्णं स्थानं वर्तते। सुवेशो हि कवेर्व्यक्तित्वमुद्भावयति।

(७) अभिनयादावभिरूचि:[८]—रूपकेषु योऽभिनय: प्रयुज्यते तं प्रति अभिरुचि:

---

१. शिक्षाणां शतं .... रविप्रभगणेश्वरै: । का०शि० १/२७

२. सहवास: कविवरै: । का०शि० १/९

३. महाकाव्यार्थचर्वणम् । का०शि० १/९

४. आर्यत्वम् का०शि० १/९

५. सुजने मैत्री तदेव ।

६. सौमनस्यम् । तदेव ।

७. सुवेषता तदेव ।

८. नाटकाभिनयप्रेक्षा का०शि० १/१०

प्रशिशिक्षुषु अपेक्ष्यते। तत्रत्यानि दृश्यानि, वाद-संवादादीनि चानुशीलयन कविः लोकव्यवहारेषु, तेषां शास्त्रीयविधिना उपस्थापनेषु च प्रागल्भ्यं प्राप्नोति । किञ्च परिशीलितैः शास्त्रीयमार्गैः उपस्थापनप्रकाराण्यपि ज्ञायन्ते ।

(८) रसज्ञानम्[१]—शृंगारादिरसानां ज्ञानं प्रशिशिक्षुषु कविषु अपेक्ष्यते, अर्थात् शृंगारादिरसविषयकवर्णने तेषां नैपुण्यं भवेत । रसनां परिपाकेनैव काव्योत्कर्षो लभ्यते। रसवतां काव्यानाम् एव समादरः श्रेष्ठकाव्यत्वेन भवति।

(९) कविसंसर्गरूचिः[२]—प्रशिशिक्षुभिः कविगोष्ठयः सुकविसहवासाश्च परिसेव्याः। एतेन तेषां रचनाभ्यासः, काव्यनिर्माणज्ञानं, औचित्यावबोधः, अनुभवः प्रागल्भ्यञ्च जायन्ते। तस्माद् बहुतरः स्वकीयः कालः सत्कविभिर्यापनीयस्तैः।

(१०) गीताद्यभिरूचिः[३]—गीतादिषु अभिरूचिः कवित्वविकासाय भवति; तच्च वर्तते काव्याङ्गमेव। छन्दसां, लयादीनां ज्ञानेन काव्ये मार्दवं आकर्षणश्चानेतुं शक्यये । अपि च रागलयबद्धानां वर्णानां सङ्घटनम् एतेनपरिज्ञातुं शक्यते।

(११) लोकाचारज्ञानम्[४]—लोकव्यवहास्यैव वर्णनं काव्ये भवति। तेन अग्राम्यलोकव्यवहाराणां ज्ञानं काव्यरचनायै आवश्यकं भवति । जानानां जीवनयापनं, वेषभूषा आचाराः परस्परं व्यवहाराः, पर्वोत्सवानि, सम्बोधनवार्तादिप्रकरणानि च ज्ञेयानि प्रशिशक्षुभिः। इदं च महत्त्वपूर्णं तत्त्वं वर्तते कविशिक्षाविषयस्य।

(१२) आख्यायिकादावभि रूचिः[५]—कथा इतिहासाश्च रचनायाः कथावस्तूनि भवन्ति। तस्मात् पौराणिकानाम् आख्यानानां, लोककथादीनाम्, आरव्यायिकादीनाञ्च ज्ञानं करणीयं भवति। तेनैव कथावस्तुषु नावीन्यं वैचित्र्यञ्च प्रदर्शयितुं शक्यते।

(१३) इतिहासानुसरणम्[६]—इतिहासः अनुशीलनीयः। तदाधारितमेव कथावस्तु भवति। अपि च वस्तु इतिहासविरुद्धं निन्द्यते विद्वद्भिः। अस्य दोषस्य निराकरणाय, काव्यरचनायै विविधवस्तुसङ्कलनाय च प्रशिशिक्षुणां कृते इतिहासानं परिज्ञानम् अनुशरणश्च आवश्यकम् ।

---

१. शृंगारालिङ्गता / तदेव ।

२. मतिः कविनांसङ्गमे / तदेव ।

३. गीतेनात्माधिवासनम् का०शि० ७/७०

४. लोकाचारपिज्ञानम् / का०शि० १/११

५. अख्यापिकाद्यभिरूचिः / तदेव

६. इतिहासानुसरणम् / तदेव।

(१४) सुचित्रपरिज्ञानम्[१]—चित्रलेखनविधयः, प्रकाराः, चित्रभेदाश्च प्रशिशिक्षुभि अवगन्तव्याः। तेषां परिज्ञानेन वस्तुनो वर्णनस्य चालङ्करणं सम्भवति। अपि च वर्णने यदि उक्तः चिन्त्रलेखन विरूद्धो भवेत् तदा शास्त्रविरूद्धत्वदोष आपतेत् । तस्मादेतत् परिज्ञानं करर्णायम् ।

(१५) शिल्पकौशल्यज्ञानम्[२]—कलादीनां शिल्पादीनाञ्च ज्ञानं करणीयं, यतो हि राजकुल पुरी-नगर्यादीनां वर्णनप्रसङ्गे एते उल्लेखा अपेक्ष्यन्ते। तत्र यदि शास्त्रविरूद्धं वर्णनं स्यात् तदा रचितं काव्यं दोषावहं भवेत् । उपहसनीयत्वञ्च गच्छेत् ।

(१६) उपासकादिषु श्रद्धा[३]—तपस्विनाम् उपासकादनाञ्च को व्यवहारः किं आचरणं, का दिनचर्या एतेषां ज्ञानं भवितव्यम् । अपि च तेषां प्रति श्रद्धा करणीया येन रचनासु सात्त्विकानां भावानां वर्णनात् तासु जीवनपद्धतिसु श्रद्धा औत्सुक्यञ्चवर्द्धेत।

(१७) नीडायतन सेवनम्[४]—एकान्तस्थलं सेव्यं, यतो हि विविक्ते देशे चित्तस्य एकाग्र्यं वर्द्धते। एकाग्रं हि चित्तं विविधान् अर्थात् पश्यति । तेन विशेषदर्शनेन काव्येषु वैलक्षण्यं वैचिव्यञ्चोपजायते। आचार्येण वामनेनापि समर्थितमेतत।[५]

(१८) धातुसाम्यत्वम्[६]—प्रशिशिक्षुः कविः स्वास्थ्यरक्षणं कुर्यात् । स्वस्थेनेव-शरीरेण स्वस्थं मनो लभ्यते, स्वथ्येन च मनसा बुद्धिस्थैर्यम् एकाग्र्यञ्च भवति येन सुकाव्यमुदेति। स्वस्थं शरीरं धातुसाम्येन, अर्थात् कफवातपित्तादीनां समत्वेन, वीर्यरक्षणेन च सम्भवति। धातुदोषराहित्यमेव स्वस्थशरीरमूलम् । सम्यक् व्यायामादिना तत् प्राप्यम् ।

(१९) प्रतिभा[७]—काव्यरचनायाः नैसर्गिकं सामर्थ्यं उत नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरेव प्रतिभा।[८] प्रतिभाशून्येन रचितं काव्यं उपहसनीयत्वं प्राप्नोति। इयमेव शक्ति पदेन मम्मटैरभिहिता[९] । इमां विना स्फुरणशीला विलक्षणा च कल्पना न प्रसरति, न च एतच्छून्यं कविकर्म आह्लादाकारि भवति।

---

१. सुचित्रपरिज्ञानम् । तदेव

२. शिल्पकौशल्यज्ञानम् । तदेव

३. व्रतिन्युपासकादिषु श्रद्धा। का०शि० १/१३

४. नीडायतनसेवनम् । का०शि० १/१३

५. ऐकाग्न्यं तद्देशकालाभ्यां .... विविक्तो देशः । का०सू०व्ह० १/३/१७-१८

६. धातुसाभ्यता। का०शि० १/१३

७. प्रतिभा । का०शि० १/१४

८. यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निस्यद्यते हास्यायतनं स्यात् । का०सू०वृ० १/३/१६

९. द्र० शक्तिर्निपुणता० । का० प्र० १/३

(२०) गुरूशास्त्रेषु आदरः[१]—शास्त्राणि गुरूवश्च श्रद्धेयाः। तेषु श्रद्धया पटुत्वं धार्यते। अश्रद्धेन मनसा शास्त्ररहस्यं गुरूणाम् उपदेशाश्च नाङ्गीक्रियन्ते, ततः प्रतिभाविस्तारो न सम्भवति। श्रद्धावत्सु शास्त्राणि स्वार्थान् प्रकटी कुर्वन्ति, गुरवश्च स्वज्ञानं तत्रोत्यादयन्ति, यथा चोक्तं—

उतत्व पश्यन्न ददर्शवाचमुतत्व शृण्वन्नं शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वसौ तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।

(२१) संवेदन शीलत्वम्[२]—प्रकृतिं भावान् वा प्रति कविः संवेदनशीलः स्यात्। ये विवेचनः शालिनः तेषामेव काव्ये अधिकारित्वात् । ये चाविवेचनशीलास्ते न कथमपि सत्कवयो भवितुमर्हन्ति। संवेदन शीलाः किञ्चिदपि वैगुण्यं गुणं वा अनुभवन्ति। तस्मादेव कारणायुक्तं वामनेन अरोचकिन एव शिष्या विवेचनशालित्वात्, न तु सतृणाभ्यवहारिणोऽपि।[३]

(२२) प्रहसनज्ञानम्[४]—कविभिः अग्राम्यहासे प्रवृत्तिः पालनीया। हास्यप्रसङ्गैः काव्येषु रोचकता जायते। अपि च वाकचातुर्यं प्रत्युत्पन्नमतित्वमित्यादयो गुणा हस्योत्पादनाय अपेक्ष्यन्ते। एतेषां सम्बर्द्धनेन कवित्वे प्रौढता प्राप्तुं शक्यते।

(२३) सूर्यचन्द्रतारकादिज्ञानम्[५]—एते पदार्था जगतो जीवनस्य च नियन्त्रकाः। किञ्च विवधानां भावनाम् उदये अस्ते वा एतेषां कारणता दृश्यते, यथा विरहवर्णने सन्तापिका चन्द्रज्योत्सना तथैव चक्राणां कृते सूर्यदर्शनमाह्लादकम् । समेषामेतेषां ज्ञानं नैसर्गिकरूपेण कविसमयस्वीकृतरूपेण च करणीयं कविभिः।

(२४) षड्ऋतुज्ञानम्[६]—काव्ये वर्णनक्रमे ऋतूनां वर्णनं प्रामुख्यं भजते। अपि च कस्मिन् ऋतौ कः पदार्थ उत्पद्यते, कश्च जगदव्यवहारस्तस्मिन काले, का वा दशा प्रकृतेः तस्मिन समये इति सर्व विजानता एव आहलाद्करं काव्यं कर्तुं शक्यते, न चान्यैः।

(२५) आधानोद्धरणप्रज्ञा[७]—प्रारंभिकः कविः पदान् सङ्घटयति, श्रेष्ठैः पदैः परिवर्तयति च। तेन पदानां न्यासः पुनः उद्धत्य पदान्तरै न्यासः कवित्वमावहति। एतेन अभ्यासेन श्रेष्ठतराणां पदानां प्रयोगे अभ्यासो जायते। एतया प्रक्रियया प्रागल्भ्ये

---

१. गुरूशास्त्रेषु आदरः । का०शि० १/४
२. महाभाष्ये पस्पशाह्निके व्याकरणप्रयोजनेषु उल्लिखितः।
३. संवेदनशीलत्वम् । का०शि० १/१४
४. प्रहसनज्ञानम् । का०शि० १/१५
५. सूर्यादिज्ञानम् । का०शि० १/१६
६. षड् ऋतुज्ञानम् । का०शि० १/१५
७. आधानोद्धरणप्रज्ञा । का० शि० १/१७

प्राप्ते सति केवलानां सर्वथोपयुक्तानां पदानां प्रयोगे कविः यदा कुरूते तदा तत् काव्य पाक इति कथ्यते। यावत्कालपर्यन्तं शब्दस्थापने तस्य विकल्पनं चलति तावत्पर्यन्तं कविः प्रशिशिक्षु इति भवति। तस्य काव्यं वृन्ताकपाक इत कथ्यते। सिद्धौ प्राप्तायां कविः विकल्पनं व्यजति तर्हि तस्य काव्यरचनाक्षमता काव्यपाक इति कथ्यते[१]।

(२६) **व्युत्पत्तिकुशलत्वम्**[२]—नूतना व्युत्पत्तिः करणीया सतर्कमुपस्थापनीया च। एवं रूपेण व्युत्पत्तिभिः अन्ये शिष्याः अपि। एतेन सावधानेन बुद्धौ स्थिरत्वं विकासश्चइतः।

(२७) **परसूक्तपरिग्रहत्त्वम्**[३]—परेषामपि या सूक्तिः सा आदरणीया प्रशिशिक्षुभिः। तेषां छायारूपेण स्वकीयं कार्यं तै करणीयम् । तेन कल्पनावैशद्यं तु जायते एव, छायाग्रहणात् रचनाभ्यासोऽपि सम्बर्धते।

(२८) **परित्यागसन्तोषसत्त्वशीलत्वम्**[४]—भौतिकेषु पदार्थेषु समृद्धिषु वा आसक्ताः, असन्तुष्टः सत्त्वभिन्नगुणैरूद्दीप्तः कविः आत्मनि स्थिरत्वं नैवाश्रयति। अस्थिरे चित्ते प्रतिभाप्रकर्षो नैव जायते। यः सन्तुष्टः सत्वगुणसम्पन्नो भवति स एकाग्रेण चित्तेन काव्यमुपसेवते सफलताञ्चालिङ्गति । तस्माद् एते गुणाः उपसेव्याः।

(२९) **अग्राम्यत्वम्**[५]—शास्त्रपूता वाणी ज्ञेया व्यवहर्तव्या। ग्राम्यां भाषां प्रयुञ्जानः वाक्स्फीतत्वं नैवाप्तुं शक्नुते। अश्लीलवर्जितं सभ्यजनसमर्थितञ्च यद्वाक्यं तदेवोपासनीयम्। तेन मनसि, वाचि, व्यवहारे च स्फीतत्वमुदेति।[६]

(३०) **पदालापः**[७]—कथास्वपि संवादयोजना करणीया। वादसंवादाभ्यां वस्तु आकर्षकं सुस्पष्टञ्च भवति। विशेषतो रूपकेषु कौशल्यम् अनेनैव विधिना वर्धितुं शक्यते।

---

१. गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्यपरिणामेन स चायमुपमीयते।।
सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत् ।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ।। का०सू०वृ० ३/२/१५ श्लोकौ १-२ ।

२. व्युत्पक्तिकुशलत्मव् । का०शि० १/१९

३. परसुक्तपरिग्रहत्वम् । का०शि० १/२१

४. परित्यागसन्तोषसत्त्वशीलत्वम् । तदेव १/२२

५. अग्रात्म्यत्वम् । तदेव ।

६. द्र० न म्लेच्छितवै नापभासितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः म०भा० पस्पशा०, व्यकरण प्रयोजने पृष्ठ ६

७. पदालापः । का०शि० १/२३

(३१) स्तवकारित्वम्[1]—ईशस्तुत्यै काव्ये रचनीयम्। तेन भावोद्रेको रचनासौष्ठवञ्च प्राप्येते। सहैव देवकृपाऽपि भवति येन क्वचित् प्रतिभोदयो दृश्यते।

(३२) सर्वदेवसमत्वधारणा[2]—सर्वेषु देवेषु रतिः करणीया। तेन विविधानांदेवानां स्वभाववर्णनेन रचनायां वैविध्यं स्फुरति किञ्च चित्ते औदार्यं जायते।

(३३) पराक्षेपसहिष्णुत्वम्[3]—परेषामाक्षेपैर्न विचलनीयम्, आलोचनां शृण्वता आत्मानुशीलनं कर्तव्यं, किन्तु वैक्लव्यं न प्राप्तव्यम् । प्राप्ते व्यैकल्ये निरूत्साहो जायते येन कवित्वशक्तेः क्षरणं भवति। तस्माद् आलोचनां प्रति सहिस्णुत्वं धारणीयम्।

(३४) गाम्भीर्यम्[4]—व्यवहारे चित्ते वा चाञ्चल्यं हातव्यम्। चाश्चल्यान्निन्दा प्राप्यते/अपि च चिन्तनक्रमस्य हानिर्भवति। तस्मात् गम्भीरता अवधार्या।

(३५) निर्विकारत्वम्[5]—चित्ते विकृतिर्न आनेया। शुद्धं हि चित्तं निर्मलान् अर्थान् पश्यति। अपि च भावनायाः सात्विकं स्वरूपं प्रकटयति। एतै पूरितं काव्यं श्लाध्यतरं भवति। म्लानेन मनसा श्रेष्ठं चिन्तनं सङ्घटनं वा नैव सम्भवति। तस्मात् विकाराः सप्रयत्नं त्याज्याः प्रशिशिक्षुभिः।

(३६) अविकत्थनतादैन्यम्[6]—प्रशिशिक्षव आत्मप्रशंसांमा गच्छन्तु। आत्मश्लाघाप्रियेण कस्यापि पदार्थस्य वर्णनम् अवास्तविकं भवति, येन तन्नाद्रियते।

(३७) परेषां नष्टयोजनम्[7]—परकीये काव्यस्य यदि कस्यचिद अंशस्य हानिः दृश्यते तदा स्वमेधसा नष्टस्य पूर्तिः करणीया। एतेन कल्पना वैभवो विविधेषु स्तरेषु काव्यरचनासामर्थ्यञ्च प्रगुणीभवतः। अपि च रचनारीतिपरिपालनसामर्थ्यम् अर्थात् मार्गभेदः पुश्यति।

(३८) सप्रसादपदन्यासत्त्वम्[8]—शब्दाः प्रसादगुणसम्पन्ना एव उपस्थापनीयाः। प्रसादगुणेन रचनया काव्याभ्यासो वर्धते। तस्मात् पदानां सङ्घटना गुणैः विशेषतः प्रसादगुणेन सह करणीयाऽभ्यासनीया च।

---

१. स्तवकारित्वम् । तदेव १/२४
२. सर्वदेवसमत्वधारणा । का०शि० १/२४
३. पराक्षेपसहिष्णुत्वम् । तदेव ।
४. गाम्भीर्यम् । तदेव ।
५. निर्विकारत्वम् । तदेव ।
६. अविकत्थनतादैन्यम् । तदेव १/२५
७. परेषां नष्टयोजनम् । तदेव ।
८. सप्रसादपद न्यासत्त्वम् । तदेव १/२६

(३९) ससंवादार्थसङ्गतिः[१]—प्रशिषिक्षुस्तथा अर्थम् उपस्थापयेद् यथा असङ्गतिर्न स्यात्, एकस्य अर्थस्य अपरेण अर्थेण सह विरोधो न स्यात्, सुसंङ्गतिस्तु स्यादेव। तत्रापि संवादरूपेण अर्था उपस्थपनीयाः, येन रूपककरणे परिनिष्ठता प्राप्यते।

(४०) व्याससमासयोर्योजनम्[२]—यथौचित्यं क्वचित् व्यस्तानां क्वचिच्च समस्तानां पदानां स्थापनं काव्ये भवति। अर्थप्रौढिरूपे ओजगुणे वर्णनं व्याससमासरूपेण भवति[३]। तेन प्रशिशिक्षुः व्यस्तैः समस्तैश्च पदैः काव्यरचनाम् अभ्यसेत् येन रचनायां वैविध्यं ओजोगुणनिवेशश्च संभवेत् ।

(४१) प्रारब्धकार्यनिर्वाहः[४]—आपरिसमाप्तिं प्रशिशिक्षवः यत्नं कुर्युः। काठिन्यात् उच्चाटनाद् वा मध्ये एव कार्यं न त्यजनीयम् । रचना प्रारभ्यते तस्याः समाप्तिपर्यन्तमैकाग्र्यं धैर्यञ्च धारयन्तु प्रशिशिक्षवः। एतेन ऐकाग्र्यवर्धनम् अपि च रचनालग्नत्वं वर्धते।

(४२) गिरां प्रवाहचतुरत्वम्[५]—कवेर्वाणी प्रवाहशीला स्यात्। वर्णने यदि जड़ता भवति तदा वैरस्यमुपलक्ष्यते। तस्माद् गीः प्रवाहशीला कर्तव्या। आवश्यकादिधिकं कुत्रचित् नैव स्थातव्यम्, लेखने गतिधार्या।

कविशिक्षायाः केचन अन्येऽपि विषयाः सन्ति। रविप्रभगणेश्वराचार्यै एतानि कवि गुणानि शतसंख्यकानि उल्लिखितानि[६] ग्रन्थे सङ्केतितं वर्तते। यतो हि ग्रन्थस्य मूलहस्तलेखः कीटादिभिः केषुचित् अंशेषु नष्टीकृतः। अन्यकविगुणानि विस्तारभयेन न वर्णयामि। कविशिक्षाया उद्देश्यरूपेण श्रीविनय चन्द्रसूरणा प्रशिशिक्षुकविभ्यो रचनाभ्यासस्य नूतनो विधिः उदघाटितः, किन्तु प्राचीनानां सुकवीनां काव्यग्रन्थेभ्यो विषयान् आदर्शरूपेण समाहृत्य प्रशिशिक्षुभ्यो दिङ्निर्देशानां स्थापनं तेन कृतमेव।

*

---

१. सम्वादार्थसंगतिः । तदेव ।

२. व्याससमासयोजनम् । तदेव ।

३. अर्थस्य प्रौढिरोजः । ....प्रौढिर्व्याससमासौ च / का०सू०वृ० ३/२/२

४. प्रारब्धकार्यनिर्वाहः । का०शि० १/२७

५. प्रवाहचतुरत्वम् । तदेव ।

६. शिक्षाणां शतभित्युक्त रविप्रभगणेश्वरैः । तदेव ।

बौद्ध-चिन्तन परम्परा में लोक व्यवस्था

डॉ० (श्रीमती) प्रीति कुमारी दूबे

रीडर, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग

कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

बौद्ध अध्ययन परम्परा में लोक व्यवस्था पर सुन्दर ढंग से चर्चा है। लोक संख्या में एकतीस हैं तथा आकाश में एक-दूसरे से ऊपर स्थित है। ये चार भागों में विभक्त हैं वे विभाग हैं—अपाय लोक, कामावचर लोक, रूपावचर लोक अयपावचर लोक, अपायलोक चार हैं। कामावचर लोक सात हैं। रूपावचर लोक सोलह है तथा अरूपावचर लोक चार हैं। मनुष्य विविध प्रकार के कर्म करता है, कर्मों के विपाक का संचय करता है तथा कर्म के अनुसार विविध लोकों में, वह विभिन्न गति एवं योनियों में जाता है। कर्म ही उसके गमनागमन तथा लोक का नियामक है। बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'कमस्सका सत्ता कम्म दायादा कम्ममयो नि
कम्पटिसराण, कम्मं त्वेव नमति सुगति दुग्गति वा ।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि—'कम्म' क्या है, कैसे उसका विपाक होता है तथा विविध लोकों में ले जाना कैसे होता है?

कम्म (कर्म) चेतना को कहते हैं। चेतना चित्त का नाम है। चित्त प्रथमत: मानस-धरातल पर उदय होता है। वह उत्पन्न होकर कभी कायदार से, कभी वची द्वार, कभी मनोद्वार से प्रवृत होता है। उसकी प्रवृत्ति के अनुसार काय कर्म, वची कर्म तथा मनो कर्म नामक कर्मों के नाम दिये जाते हैं।

जिन कर्मों का सम्बन्ध लोक व्यवस्था से है, वे चार प्रकार के है। यथा—कामावचर-अकुशल कर्म, कामावचर-कुशल कर्म तथा अरूपावचर-कुशल कर्म।

कामावचर-अकुशल कर्म चित्त की दृष्टि से बारह प्रकार के होते हैं। वे अकुशल मूल-लोभ, दोस तथा मोह से सम्प्रयुक्त होने के कारण अकुशल है। वहाँ भी ये तीनों अकुशल प्रकार है—लोभ-मोह, दोस-मोह एवं मोह। इस दृष्टि से बारह प्रकार के

अकुशल चित्त तीन भागों में विभक्त होते हैं—यथा लोभमूलक चित्त में लोभ, दोस मूलक चित्त तथा मोह मूलक चित्त। लोभमूलक चित्त में लोभ तथा मोह दो अकुशल हेतु काम करते है। मोह का अर्थ अज्ञान है। यह मानस धरातल पर अज्ञान का पर्दा डाल देता है। सर्वत्र मानस में अन्धकार हो जाता है। तब लोग वृत्ति के साथ काम करते है। यह आठ प्रकार से प्रवृत्त होता है। इस कारण से लोभ मूलक चित्त आठप्रकार के होते।

दोस-मूलक चित्त दो प्रकार का होता है। दोस का अर्थ द्वेष या हिंसा-वृत्ति है। इसके साथ मोह काम करता हैं मोह के बने रहने से अन्धकार अज्ञान-अन्धकार मानस में छा जाता है। उसके धरातल पर द्वेषपूर्ण काम होते है। इस प्रकार द्वेष तथा मोह के प्राबल्य से दो, मूलक चित्त की प्रवृत्ति होती है।

मोसूह चित्त या मोहमूलक चित्त दो प्रकार के होते है। उनमें एक ही हेतु काम करता है। वह है—मोह। मोह के मूल में रहने से सभी कार्य अज्ञान पूर्वक होते हैं।

ये ही बारह अकुशल चित्त है। ये ही अकुशल कर्म है। जितने प्रकार के अकुशल कर्म होते है, वे सभी इन्हीं बारह प्रकार के चित्तों के अन्तर्गत आते हैं। शरीर वचन, मूल के प्रवृत होने के कारण अकुशल कर्म दशा है। यद्यपि इन सभी कर्मों का आधार मन है, तथापि विविध द्वारों से प्रवृत्त होने के कारण इनके पृथक नाम देखे जाते हैं। यथा—शारीरिक कर्म, वाचसिक कर्म तथा मानसिक कर्म।

जिन अकुशल कर्मों की प्रवृत्ति शरीर से होते है, वे कायिक अकुशल कर्म कहे जाते हैं। वे संख्या में तीन है, तथा पाणातिपात, अदिन्नादान तथा कामेसुमिच्छाचार। पाणातिपात का अर्थ है—जीव हिंसा अथवा वध करने की चेतना। अदिन्नादान शब्द में तीन पद है—अन तथा दिन्न तथा आदान। अदिन्न का अर्थ है जो दिया हुआ न हो। हां 'अ' शब्द निषेध के अर्थ में है। आदान का अर्थ है लेना। जो वस्तु किसी को दी नहीं गयी है, उस वस्तु को लेना। इसका अर्थ है—चोरी। कामेसुमिच्छाचार का अर्थ है—वासनामूलक प्रेरणा से प्रेरित हो दुराचरण करना। वह व्यभिचार का दूसरा शब्द है। मनुष्य अपनी भार्या से सन्तुष्ट न होकर पर स्त्री गमन करता है। ये तीनों कर्म शरीर से ही सम्पन्न होने के कारण कायिक अकुशल कर्म कहलाते हैं।

जो अकुशल कर्म वचन से होते हैं, उन्हें वाचसिक अकुशल कर्म कहा जाता है, ये संख्या में चार है यथा—असत्य वचन, कठोरवचन, पैशुण्य तथा निरर्थक वचन। कोघटना या परिस्थिति जैसी है, उसका उसी रूप में कथन न कर उसके विपरीत कथन करना हो असत्य वचन है। इसे ही मृषा वचन कहते हैं। कठोर वचन

का अर्थ है—मन से कटु वचन का प्रयोग करना। यदि यह मन से नही हो, केवल वचन से हो तो कठोर वचन नहीं हो सकता है। यथा किसी विद्यार्थी को पढ़ने में रूचि नहीं दर्शाने पर उसे पढ़ने में रूचि लाने के लिए शिक्षक कठोर वचन बोलते हैं—तुम्हारे जैसे मूर्ख विद्यार्थी को जीने से क्या लाभ है, तुम्हें तो मर जाना चाहिए। यह वचन तो केवल वी-विन्यास है। एक शिक्षक कभी भी अपने विद्यार्थी का मर जाना नही चाहता है। इसलिए जो कठोर वचन मानस से प्रेरित होकर उत्पन्न हो, वो कठोर वचन है। पैशूय का अर्थ है—चुगली करना। किसी व्यक्ति कोई व्यक्ति प्रिय है। वह उसके प्रिय भाव को पीसकर उसके स्थान पर अपना प्रिय भाव स्थापित करता है। इसे पिसुणा वाचा कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि अकुशल वचन प्रयोग द्वारा किसी के प्रिय भाव के स्थान पर अपने प्रिय भाव को स्थापित करना पिसुणा वचन है।

निरर्थक वचन का अर्थ है—ऐसे वचनों में अपने को या दूसरे को लगाए रखना, जिसका कोई अर्थ नही है, प्रयोजन नहीं है। बौद्ध दृष्टिकोण से सीता हरण की कथा अर्थात् रामायण की कथा निरर्थक हैं इसी प्रकार महाभारत की युद्धकथा भी निरर्थक है। ये सभी कर्म वचन से सम्पन्न होते हैं। इसलिए ये वाचसिक अकुशल कर्म कहे जाते हैं।

मानसिक अकुशल कर्म भी तीन प्रकार का होता है। इसका उत्पन्न होना या विलीन होना मानस-धरातल पर होता है। इसलिए ये मानसिक अकुशल कहे जाते हैं। ये है—अभिज्जा, व्यापाद तथा मिथ्या दृष्टि। अभिज्जा का अर्थ लोभ होता है। जो वस्तु दूसरे की है जिसने उसे देने का उपक्रम नही किया है, उसके प्रति लोभ करना कि यह वस्तु मेरी हो जाय, यह अभिज्जा हैं व्यापाद का अर्थ पर विनाश चिन्ता है। दूसरे नष्ट हो जाय, विनष्ट हो जाय, दूसरे की हानि हो इस प्रकार मनोसंकल्प व्यापाद है। मिथ्या दृष्टि का अर्थ है गलत ढंग से विचार करना। जैसे लोक को शाश्वत मानना। जहाँ सभी वस्तुएं दुखांत हैं, वहाँ सुख-स्वरूप की स्थापना करना। जहाँ सभी वस्तुएँ नित्य हैं, वहाँ उसके नित्य होने की कल्पना करना। ये तीनों कर्म मानस धरातल पर ही उत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न होकर प्रवृत्त होते हैं। इसलिए इन्हें मानसिक अकुशल कर्म कहते हैं।

यहाँ पर चित्त की दृष्टि से बारह प्रकार के अकुशल कर्मो की चर्चा की गयी तथा कायिक, वाचसिक आदि द्वारों से प्रवृत्त होने के कारण दश प्रकार के अकुशल कर्म कहे गये। वस्तुत: जो बारह प्रकार के चित्त हैं, वे ही अकुशल कर्म हैं। उनका विविध प्रकार से आरोह-अवरोध होने के कारण विविधि नाम पाये जाते हैं।

कामावचर कुशल कर्म चित्त की दृष्टि से आठ प्रकार के होते हैं। ये तीन कुशल मूलों के योग से प्रवृत्त हैं। तीन कुशल मूल हैं, अलोभ, अदोस तथा अमोह। अलोभ का अर्थ है—त्याग, अदोस का अर्थ है मैत्री तथा अमोह ज्ञान को कहते हैं। ये तीनों हेतु परस्पर एक दूसरे के सहायक है। कभी तीनों एक साथ रहते हैं तथा कभी अलोभ तथा अदोस एक साथ रहते है। उन्हीं तीन कुशल हेतुओं के योग से कामावचर कुशलचित्त आठ प्रकार का होता है। ये आठो चित्त आठ प्रकार के कर्म है।

रूपावचर कुशल कर्म भावना कर्म है। वे ध्यानमय चित्त हैं। इसके पाँच प्रकार होते हैं। इनके साथ पांच ध्यानांग-वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता काम करते हैं। इनके योग से इन चित्तों की प्रवृत्ति होती है।

अरूपावचर कुशल कर्म चार प्रकार के होते हैं। वे भी ध्यानमय कर्म हैं। वस्तुत: ये चार प्रकार के अरूपावचर चित्त है। ये सभी कुशल मूल हैं। इनकी प्रवृत्ति उपेच्छा तथा एकाग्रता नामक दो ध्यानांगों से होती है।

कामावचर कुशलकर्म आठ प्रकार के होते हैं। वे तीन या दो हेतुओं के योग से प्रवृत्त होते है तथा परस्पर एक-दूसरे के साधक है। इसलिए उनका विपाक भी प्रबल होता है। उसे महाविपाक कहते हैं। ये विपाक आठ प्रकार के कर्मों के कारण आठ प्रकार के होते हैं। कर्मों की विसदता की दृष्टि से ये आठ विपाक मनुष्य योनि में विविध प्रकार के मनुष्यों के रूप में जन्म देते हैं अथवा छ: प्रकार के देवलोकों में जन्म देते हैं। वे छ: प्रकार के देवलोक है—चातुर्महाराजिकलोक, तावत्तंसलोक, तुषितलोक, यमलोक निम्मानरतिलोक तथा परनिम्मितवसवत्ति लोक। ये लोकदेवलोक कहे जाते हैं। इनका सामंजस्य मनुष्य लोक से अधिक होता है। यहाँ के प्राणि मनुष्यलोक के प्राणियों के सुख-दु:ख में शामिल रहते हैं। कभी-कभी ये मनुष्य लोक के प्राणियों के कुशल कर्म से विचलित देखकर उन्हें उपदेश देते हैं तथा उन्हें सतर्क कराने के लिए कुछ प्रेरणास्वरूप कार्य कर देते हैं, जिससे वे मनुष्य चेत जाय कि उन्हें कुशलकर्म की आवश्यकता है। ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं कि यहाँ के देवता मनुष्य लोक में आकर बुद्ध से प्रश्न करते हैं। वे प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनके उत्त स्वरूप कुशल कर्मों के विस्तार की बात कही जाती है। उदाहरण स्वरूप एक स्पष्ट प्रश्न इस प्रकार है—

अन्तोजटा वहिजटा जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि को इमं बिजटये जटंति ।।

बुद्ध ने इस प्रश्न को सुना एवं अपने धर्म के स्पष्ट मार्ग शील, समाधि तथा प्रज्ञा का कथन कर इन जटाओं से मुक्ति का उपाय बतलाया। यथा—

सीले पटिट्ठाय नरोसपञ्मो चित्तं पञ्मं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटन्ति।।

इस प्रश्न तथा उत्तर से देवलोक का मनुष्य लोक से सामंजस्य देखा जा सकता है।

अब इन कुशल कर्मों का लोक से क्या सम्बन्ध है? यह विचारणीय है। कहा जाता है कि जब ये कुशल कर्म उत्पन्न होते हैं तो मानस धरातल पर अपना विपाक छोड़ जाते हैं। इन विपाकों के फलस्वरूप विभिन्न लोगों के विभिन्न गति एवं योनियों में मनुष्य का गमनागमन होता है। वह कैसे? बारह प्रकार के जो अकुशल कर्म हैं, उसका एक ही विपाक होता है। वे अकुशल कर्म एक-दूसरे के बाधक होने के कारण पृथक्-पृथक् विपाक नहीं दे पाते हैं। उनका एक विपाक है—उपेक्खा सहगत संतीरण अकुशल विपाक। जब ऐसा विपाक उत्पन्न होता है तो मनुष्य का अपायभूमि में जन्म होता है। अपाय में चार लोक हैं। यथानिरय, तिरच्छान पेत्तिविषय तथा असुरकाय। कर्मों की विविधता के कारण अथवा न्यूनाधिक्य होने के कारण सत्य का जन्म इन चार लोकों में से किन्हीं एक के साथ होता है।

रूपावचर कुशल कर्म पांच प्रकार के हैं। यह पांच प्रकार के रूपावचर चितों का नाम है। जो पाँच प्रकार के रूपावचर चित्त उत्पन्न होते हैं। उनके पाँच प्रकार के विपाक होते हैं। यहाँ यह दर्शनीय है कि रूपावचर ध्यान का सामान्य रूप से भावना भी होता है, जिसे परित्त कहा जाता है। उसकी विशेष रूप से भी भावना होती है। उसे बेहतर भावना कहा जाता है तथा महान् रूप से भी भावना होती है, उसे अप्रामाण्य भावना कर उन शब्दों की उत्पत्ति उस भावना के अनुसार सोलह प्रकार के रूप लोकों में होती है। जैसी-जैसी भावना की परिपक्वता होती है, वैसे-वैसे उनके परिपक्व विपाक होते हैं। उन परिपक्व विपाकों के फलस्वरूप सत्व रूपावचर के सोलह लोकों में जन्म लेते हैं। इन सोलह लोकों में जो सत्त्वों का जाना होता है, वह केवल ध्यान के आधार पर ही होता है।

रूपावचर प्राणियों की एक विशेषता है, कहा जाता है कि उनमें घ्राण, जिह्वा तथा काय नही होता है। इसका क्या अभिप्राय है कि रूपावचर प्राणियों की घ्राण, जिह्वा तथा काय का केवल रूप होता है। इन्द्रियों के कार्य नहीं होते हैं। इसका कारण भी है। रूपावचर लोक में मनुष्य के वे खाद्य पदार्थ नही मिलते हैं, जो मनुष्य लोक

में प्राप्त होते हैं। वे तो प्रवितिका भक्षण करते हैं। प्रीतिका का भक्षण कर वे जीते हैं इसलिए कार्य के पोषण की कोई आवश्यकता नहीं है। सोलह वर्ष की अवस्था में मनुष्य लोक में जो कार्य प्राप्त होता है, वैसा ही काय रूपावचर के देवताओं में अथवा ब्रह्माओं को प्राप्त है। उन्हें घ्राण का आकार है पर घ्राण का काय नहीं हैं। इसका कारण है कि यहां सुगन्ध तथा दुर्गन्ध दोनों रहेंगे वही तो घ्राण का कार्य देखा जाएगा। यहां तो केवल सुगन्ध ही है दुर्गन्ध नहीं है। सुगन्ध होने के कारण गन्ध को ग्रहण करने पर एकरसता होती है। इसलिए वहां घ्राण की कोई, आवश्यकता नहीं है वहां पर जिह्वा भी नही है। इसका अर्थ है कि जिह्वा का आकार तो है पर उसका कार्य नही है। कार्य वहीं हो सकता है, जहाँ विविध प्रकार के वस्तुओं का आस्वाद हो। जहां पर केवल रीति का ही भक्षण होता है, वहां जिह्वा की विविधता कैसे देखी जा सकती है। इसलिए वहां पर जिह्वा कार्य नही करती है। इसी दृष्टि से वहां पर इन इंन्द्रियों के अप्रभाव को जाना जा सकता है। जल रूपावर प्राणियों की मृत्यु होती है तो यहाँ के सामान्य मनुष्यों की मृत्यु के समान उनकी मृत्यु नही होती हैं उनके गले में व्याप्त माला के फूल मुरझा जाते हैं। उनके कांख में पसीना बिन्दु दिखाई देते हैं एवं इस प्रकार के वहां से लुप्त हो जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ये रूपलोक में तो कर्म के अनुसार जाते हैं। कर्मों के पुण्य का संचय जहां तक होता है वहां तक वे उस लोक में रहते हैं ज्यों ही पुण्य समाप्त हो जाता है, वे वहां से मनुष्य लोक लौट आते है। यही रूपावचर लोक की व्यवस्था है।

अरूपावचर लोक अपने में एक विशिष्ट लोक है। यहाँ के प्राणी केवल मनोमय होते है। इन्हें ब्रह्मा कहा जाता है। उनके व्यक्तित्व में कही भी रूपलोक का चिन्ह नही रहता है। वे वर्ण तथा आकार से रहित होते हैं। अब यहां प्रश्न उठता है कि जब वे केवल मनोमय देव है, शरीर आदि है नही तो यह कैसे जाना जा सकता है कि वहां भी प्राणी है। प्राणी का अस्तित्व तो उसके पूर्ण व्यक्तित्व से ही मापा जाता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इन्हें शरीर तथा मन से युक्त पूर्ण व्यक्तितव तो है, पर इनके ऐसे व्यक्तित्व में केवल मन ही काम करता है। शरीर केवल उनके व्यक्तित्व के निर्माण का द्योतक है। केवल मन ही वहाँ काम करता है। इसका क्या अर्थ हो सकता है।

चार प्रकार के अरूपावचर ध्यानों की भावना करके चार प्रकार के अरूप लोक में उनका जन्म होता है। ध्यान भावना की परिपक्वता की दृष्टि से इस अरुपलोक में उनका रहना निश्चित होता है जब तब वे रहते है। तब तक वहां के सुख की अनुभूति

करते हैं। ज्यों ही उनके कर्मों का क्षय होता है त्यों ही वे अरूपलोक को परित्याग कर मनुष्य लोक में आ जाते हैं।

इस प्रकार चार अपाय लोक, सात काम सुगत लोक, सोलह रूपावचर लोक तथा चार अरूपावचर लोक हैं। इन ३१ लोकों की व्यवस्था बौद्ध धर्म दर्शनपरम्परा में देखी जाती है। यहां विचारणीय है कि इन सभी लोकों में कुशल तथा अकुशल कर्म नहीं हो सकते हैं कुशल तथा अकुशल कर्म केवल मनुष्य लोक में होता है। यही एक ऐसा लोक है जहां मनुष्य अकुशल कर्म कर सकता है। अकुशल कर्म करके उसके फलस्वरूप वह उपाय में जा सकता है। जिस अवधि तक उसके अकुशल कर्मों का प्रभाव रहता है उस अवधि तक वह अकुशल लोकों में रहता है। जब कर्मों के फल का प्रभाव समाप्त हो जाता है तो वह मनुष्य लोक में आ जाता है। इसी प्रकार मनुष्य लोक में रहते हुए वह कुशल कर्म करता है। उन कुशल कर्मों का जो प्रभाव होता है उसके कारण ही वह कामावचर देवलोक अथवा रूपावचर ब्रह्म लोक अथवा अरूपावचर ब्रह्म लोक में जन्म लेता है। जब कर्म का प्रभाव समाप्त हो जाता है तब वह पुन: मनुष्य लोक में आ जाता है। इस दृष्टि से मनुष्य लोक ही कर्मभूमि है। यहाँ ही कर्म हो सकता है। उन कर्मों के फल का संग्रह भी इसी भूमि में हो सकता है। उन संग्रहीत कर्मों के विपाक के फलस्वरूप वह विविध लोकों की गति तथा योनियों में जा सकता है। इन सभी दृष्टियों से मनुष्य लोक ही कर्म प्रधान लोक है तथा कर्मभूमि है।

*

सन्दर्भ-सूची :

१. पालि साहित्य का इतिहास — भरत सिंह उपाध्याय

२. सुत्तपिटक

(i) दीघनिकाय — भिक्षु जे० कश्यप, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा, प्रकाशन १९६० ई०

(ii) मज्झिम — निकाय — वही

(iii) संयुक्त-निकाय — वही

३. विनय-पिटक

(i) महावग्ग — भिक्षु जे० कश्यप, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, प्रकाशन, १९५६-५८ ई०

(ii) चुल-वग्ग — वही

(iii) पाराजिक — वही

४. अभिधम्म-पिटक

(i) धम्मसंगणि — भिक्षु जे० कश्यप, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, प्रकाशन, १९६० ई०

(ii) विभंग — वही

(iii) धातुकथा — वही

५. अट्ठकथा — साहित्य

(i) सुत्तपिटक-अट्ठकथा

(ii) सुमंगल-विलासिनी — प्रो० महेश तिवारी, नवनालन्दा महाविहार नालन्दा, प्रकाशन, १९७२ ई०

*

विश्वशांति एवं बन्धुत्व में बौद्ध धर्म का योगदान

डॉ० हरीश्वर दीक्षित
उपाचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
राजा हरपाल सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर

भारतीय संस्कृति विविध धर्मों की समन्वयात्मिका संस्कृति है। सभी धर्मों का अन्तिम उद्देश्य शान्ति की प्राप्ति है। शान्ति का अर्थ भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न हो सकता है जैसे—निर्वाण, अपवर्ग, मोक्ष, मुक्ति, इच्छाओं की समाप्ति, मृत्यु, शान्त हो जाना, दु:ख निरोध इत्यादि।

आज प्रत्येक प्राणी शान्ति की तलाश में है किन्तु अनेकानेक अथक प्रयासों के बाद भी सांसारिक प्रपंच के कारण आज का मानव शान्ति नहीं प्राप्त कर पा रहा है। यद्यपि कि भारतीय संस्कृति में वैदिक काल से लेकर और आज तक विभिन्न धर्मों, दर्शनों, सम्प्रदायों, पंथों, समुदायों के द्वारा अलग-अलग सार्थक एवं प्रभावकारी प्रयास किये जा रहे हैं फिर भी आज सम्पूर्ण विश्व अशान्ति की विभीषिका से पीड़ित है, बन्धुत्व का सार्वभौमिक आदर्श भरतचरित्र तथा सर्वे भवन्तु सुखिन: का भाव आज पूरे विश्व में नहीं के बराबर दिखाई पड़ रहा है। आज कहीं राष्ट्रवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद तथा जातिवाद इत्यादि अन्यान्य वादों में सम्पूर्ण विश्व उलझ गया है। विश्व बन्धुत्व की पुरातन अवधारणा मानव समाज में अन्तिम सांस ले रही है। इन सभी प्रबल कारकों से गुजरता हुआ सम्पूर्ण विश्व अशान्ति एवं परस्पर विखराव की स्थिति में है। ऐसी परिस्थिति में सम्पूर्ण विश्व में कैसे शान्ति एवं सद्भाव स्थापित किया जाय? यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। विश्व शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना में विविध धर्मों ने अपना-अपना योगदान किया है।

ॐ द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षॐ शान्ति पृथ्वी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिः विश्वदेवा शान्तिः
ॐ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सर्व ॐ सामा शान्तिरेधिः ।
यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरू ।
शन्नः कुरू प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ।।

इत्यादि ऋचायें वैदिक धर्म में वर्णित शान्ति के मार्गों की तरफ संकेत करती हैं।

समानी वः आकूती समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु मे मनो यथा वै सुसहासति ।। तथा

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम् तथा यत्र विश्वं भवत्येकनीडम इत्यादि ऋचाएँ सर्वाभौमिक बन्धुत्व की ओर संकेत करती हैं। मौलिक मानवीय मूल्य सत्यं वद्, धर्म चर्, स्वाध्यायान् मा प्रमदः, यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ये सभी औपनिषदिक वाक्य उन सभी गलत कार्यों का निषेध करते हैं जिनसे विश्व शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना में बाधा पड़ती है। भारतीय संस्कृति में वेदों, उपनिषदों, स्मृति ग्रन्थों, धर्म सूत्रों, रामायण, महाभारत तथा उपजीव्य ग्रन्थों में भी विश्व शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना के पर्याप्त उपाय विद्यमान हैं।

अनेक धर्मों, दर्शनों, धर्म ग्रन्थों, धर्म सम्प्रदायों के सार्थक प्रयासों के बावजूद आज भी सम्पूर्ण विश्व में वह शान्ति सद्भाव एवं बन्धुत्व देखने को नहीं मिलता जिसकी आवश्यकता आज सार्वभौमिक पटल पर है। आज का मानव विविध प्रकार के प्रपंचों एवं दुःखों से ग्रस्त है। वैश्विक स्तर पर शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना में व्यावहारिक धरातल पर प्रयासरत आज बौद्ध धर्म ही दिखाई पड़ रहा है।

बौद्ध धर्म का केवल एक तत्व जो कि सम्पूर्ण बौद्ध धर्म का केन्द्रीय तत्त्व है—दुःख निरोध ही ले लिया जाय तो विश्व शान्ति एवं सद्भाव के अनेकानेक आयाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा चतुर्थ आर्य सत्य के अष्टांगिक मार्ग—१. सम्यक् दृष्टि २. सम्यक् संकल्प ३. सम्यक् वाक् ४. सम्यक् कर्मान्त ५. सम्यक् आजीविका ६. सम्यक् व्यायाम ७. सम्यक् स्मृति और ८. सम्यक् समाधि इत्यादि इन बिन्दुओं के व्यापक आयामों द्वारा सम्पूर्ण विश्व में आज भी पूर्ण रूप से शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना की जा सकती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये योगदर्शन के पांच यम हैं, इन्हीं को जैन शास्त्र में पंच महाव्रत तथा बौद्ध शास्त्रों में पंचशील माना गया है।

अहिंसा का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है, अहिंसा सामाजिक जीवन का केवल एक नैतिक भाव ही नहीं अपितु एक मौलिक सिद्धान्त भी है, अहिंसा स्वयं में एक जीवन-दर्शन है जिसका पूर्ण निदर्शन भगवान बुद्ध के जीवन-दर्शन में देखने को मिलता है। अहिंसा का अर्थ केवल जीव-हिंसा न करना ही नहीं अपितु आत्म-सयंम, सत्य, दया, सहिष्णुता, क्षमा, आतिथ्य, अपने शत्रुओं की भी सहायता करना तथा मन, वचन एवं कर्म के धरातल पर पूर्ण पवित्र रहना भी है।

अहिंसा बौद्ध परम्परा का मूल आधार है जो प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत चार आर्य सत्य—१. द:ख २. दु:ख-समुदय ३. दु:ख-निरोध और ४. दु:ख-निरोध का मार्ग (आर्य अष्टागिक मार्ग) में बीज रूप में निहित है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, रोग, जन्म, जरा और मरण ये सब दु:ख हैं। अप्रिय-संयोग दु:ख है, प्रिय-वियोग दु:ख है, इच्छा पूर्ण न होना दु:ख है, स्वार्थ, हिंसा, संघर्ष आदि दु:ख हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पाँचों स्कन्ध दु:ख हैं। संक्षेप में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सारा जीवन ही दु:ख है। मृत्यु भी दु:ख का अन्त नहीं है क्योंकि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म है और जन्म के बाद मृत्यु है। इस प्रकार यह जन्म-मृत्यु चक्र या भव-चक्र चलता रहता है और व्यक्ति इसमें फँसकर दु:ख भोगता रहता है।। इन्हीं सांसारिक प्रपंचों के मोह में फँसकर मानव स्वार्थवश अपनी मानवता, नैतिकता, मानवीय-मूल्य, सामाजिक-सम्बन्ध परस्पर सद्भाव एवं बन्धुत्व इन सभी तत्त्वों को छोड़ देता है जिससे सभी सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और मानवीय सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं जिससे परस्पर हिंसा द्वेष जन्म लेता है और इन्हीं दुर्वृत्तियों का शिकार होकर मानव अपनी शान्ति एवं सम्पूर्ण मानव समुदाय की शान्ति को भंग कर देता है जिसके फलस्वरूप तमाम तरह के वर्ग-संघर्ष तथा विश्व युद्ध की घटनायें हो जाती है।

मानव जीवन मनुष्य के अपने प्रारब्ध कर्मो का फल है और उन्हीं कर्मों के फल को भोगने के लिए मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है और प्रारब्ध कर्मों के अनुरूप ही कर्म करता हुआ पुन: मर जाता है।। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यदि मनुष्य ने उत्तम कर्म किया तथा प्रारब्ध कर्मों का फल भोगने की प्रक्रिया यदि पूर्ण हो चुकी है तब तो उसे मोक्ष हो जाता है अर्थात मनुष्य जन्म-मरण (आवागमन) के चक्र से मुक्त हो जाता है किन्तु यदि प्रारम्बध कर्मों का फल पूर्ण नहीं हुआ है और इस जन्म में भी उसने उत्तम कर्म नहीं किये तथा तमाम सांसारिक सुख-भोग की इच्छायें बनी हुई हैं तो इन सबकी पूर्ति के लिए पुन: वह दूसरा जन्म लेता है और इसी प्रकार बार-बार जन्म लेने और बार-बार मरने के इस भव चक्र में फँसा रहता है। जन्म-मरण के इस कार्य-कारण चक्र को बौद्ध-दर्शन में द्वादश-निदान (Twelve Sources) भी कहते हैं क्योंकि यह दु:ख के कारणों का पता लगाने के लिए बारह कड़ियों की विवेचना करता है। प्रत्येक कड़ी को एक निदान कहते हैं। इस सिद्धान्त को—

(1) संसार- चक्र [The wheel of the world]

(2) भव-चक्र [The wheel of existence]

(3) जन्म-मरण चक्र [The cycle of birth and death]

(4) धर्म-चक्र [The cycle of Dharma] भी करते हैं।

द्वादश निदान चक्रों में—

(1) अविद्या	[Ignorance]	
(2) संस्कार	[Impressions]	
(3) विज्ञान	[Conciousness]	जिसका सम्बन्ध अतीत
(4) नाम-रूप	[Mind body organism]	जीवन से है
(5) षडायतन	[Six Sense organs]	
(6) स्पर्श	[Sense contact]	
(7) वेदना	[Sense-experience]	
(8) तृष्णा	[Craving]	जिसका सम्बन्ध वर्तमान
(9) उपादान	[Mental Clinging]	जीवन से है
(10) भव	[The will to be born]	
(11) जाति	[Rebirth]	जिसका सम्बन्ध भविष्यत्
(12) जरा-मरण	[Suffering]	जीवन से है।

कुछ विद्वान इसका क्रम जरा-मरण से प्रारम्भ करते हैं अर्थात—

(1) जरा-मरण (दुःख)	[Suffering]
(2) अविद्या	[Ignorance]
(3) संस्कार	[Impressions]
(4) विज्ञान	[Conciousness]
(5) नाम-रूप	[Mind body organism]
(6) षडायतन	[Six Sence organs]
(7) स्पर्श	[Sense contact]
(8) वेदना	[Sense-experience]
(9) तृष्णा	[Craving]
(10) उपादान	[Mental Clinging]
(11) भव	[The will to be born]
(12) जाति	[Rebirth]

यक चक्र कर्मवाद के सिद्धान्त को इंगित करता है। यह तीनों जन्मों में कार्य-कारण के रूप में फैला हुआ है, वर्तमान जीवन अतीत-जीवन के कर्मो का फल है तथा भविष्य-जीवन वर्तमान जीवन के कर्मों का फल है। इस तरह यह संसार चक्र चलता रहता है। इसी संसार चक्र में फँसकर द्वादश निदानों के विविध सोपानों से गुजरता हुआ मनुष्य इस सांसारिक प्रपंच के कारण अपने स्वार्थ एवं अहं की संतुष्टि में विविध प्रकार के संघर्षों का कारण बनता है जिससे मानव-शान्ति, सामाजिक-शान्ति, राष्ट्रीय-शान्ति तथा वैश्विक-शान्ति एवं सद्भाव में बाधा पड़ती है।

विश्व-शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना में आज भी बौद्ध धर्म का सराहनीय प्रयास है। चार आर्य-सत्य के अन्तर्गत जो दु:ख निरोध के आर्य अष्टांगिक मार्ग हैं उसमें—

(१) सम्यक् दृष्टि (Rrght Views) के द्वारा मिथ्या दृष्टि (Wrong Views) को समाप्त कर मिथ्या दृष्टि से होने वाले शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना में उत्पन्न होने वाली बाधाओं से बचा जा सकता है।

(२) सम्यक् संकल्प (Right Resolve) अर्थात् जो अशुभ है उसे न करने और शुभ को करने का संकल्प ही सम्यक् संकल्प है। इसमे स्वार्थ, त्याग एवं परोपकार की भावना सन्निहित है जो विश्व शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना का प्रबल आधार है। तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु' यह वैदिक ऋचा इसी भाव को व्यक्त करती है।

(३) सम्यक् वाक् (Right Speech) सम्यक् संकल्प के अनुरूप ही सम्यक् अभिव्यक्ति करें, सत्य एवं प्रिय वचन बोलें, जिस वचन से दूसरों को कष्ट हो उसे न बोलें इस प्रकार सत्य एवं प्रिय वचनों का प्रयोग ही सम्यक् वाक् है।

(४) सम्यक् कर्मान्त (Right action) शुभ-दृष्टि, शुभ विचार के अनुरूप ही शुभ कार्य करें, बुरे कर्मों को त्याग दें। बुद्ध के अनुसार हिंसा, स्तेय (Stealing) और इन्द्रियभोग इनका त्याग तथा शुभ कर्मों का पालन सम्यक् कर्मान्त है।

(५) सम्यक् आजीविका (Right liveliihood) का अर्थ है ईमानदारी से जीविकोपार्जन करना। इससे हम बुरे कर्मों से बच जाते हैं। धोखा, रिश्वत, लूट, अत्याचार इत्यादि अशुभ उपायों से जीविका निर्वाह करना महान पाप है। इससे हम दूसरे के धन हड़पने और गलत तरीके से छीना-झपटी से बच जाते हैं जिससे शान्ति एवं बन्धुत्व भंग नहीं होता है।

(६) सम्यक् व्यायाम (Right Efforts) यहाँ सम्यक व्यायाम का अर्थ मन में बुरे विचारों को आने से रोकना तथा अच्छे विचारों को मन में प्रवाहित करना है जिससे अशुभ मन:स्थिति का अन्त हो तथा शुभ मन:स्थिति का प्रादुर्भाव हो।

(७) सम्यक् स्मृति (Right Mind fulnes) का अर्थ है प्रत्येक वस्तु के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में जागरूक रहना। विवेकपूर्ण निर्णय लेना। नाशवान वस्तुओं को देखकर सम्यक् ज्ञान की स्मृति ही सम्यक् स्मृति है। अर्थात् जगत मिथ्या है इसका ज्ञान हो जाना। अत: हम गलत कार्य न करें।

(८) सम्यक् समाधि (Right Concentraation) उपर्युक्त सातों अवस्थाओं से गुजरने के बाद व्यक्ति को उचित और अनुचित का जब इस स्तर का ज्ञान हो जाय जो प्रज्ञा (Knowledge) समाधि (Concentration) के क्रम से होता हुआ (Wisdom) आध्यात्मिक ज्ञान की स्थिति में पहुँच जाय। ऐसी स्थिति में इन सभी सोपानों के द्वारा मनुष्य ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जिससे विश्व शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना में बाधा उत्पन्न हो।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म अपने विविध सैद्धान्तिक आयामों उनके अवान्तर आयामों और उनके उप-आयामों के द्वारा विश्व शान्ति एवं बन्धुत्व की स्थापना में पूर्णतया समर्थ है।

'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।। इति ।।'

*

सन्दर्भ-सूची

१. **भारतीय दर्शन** — सी० डी० शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी १९९१

२. **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**— प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी ११९१

३. **विनयपिटक**— सारनाथ वाराणसी १९५४ ।

४. **जातकग्रन्थमाला**— पाली पब्लिकेशन विहार गवर्नमेन्ट्स १९५८ ।

५. **संयुक्त निकाय भाग-१**— हिन्दी अनु०भिक्षु जगदीश कश्यप तथा भिक्षु धर्म रक्षित महाबोधिसभा सारनाथ, वाराणसी १९५४ ।

६. **दीघनिकाय**— हिन्दी अनु० राहुल साकृत्यांयन, पाली पब्लिकेशन बोर्ड, विहार सरकार १९५८ ।

*

लद्दाख में गोनपाओं की परम्परा एवं प्रबन्ध व्यवस्था

भन्ते छेवाङ रिगजिन
प्राध्यापक, केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान
लेह-लद्दाख (जम्मू एवं काश्मीर)

लद्दाख में बौद्ध विहारों को गोपना के नाम से जाना जाता है। गोनपा का शाब्दिक अर्थ ऐसे धर्म स्थल से है, जिसका निर्माण ऐकान्त में गांव अथवा शहर से कम से कम ५०० जू-दोम अर्थात् लगभग १५०० फिट की दूरी पर किया जाता है।

लद्दाख में गोनपाओं का निर्माण १०वीं शती के पश्चात् किया गया। ये सभी बौद्ध तांत्रिक मंडलों पर आधारित हैं। इनमें तथागत बुद्ध के काय, वाक एवं चित्त के प्रतीक, मूर्तियाँ, पोथी एवं चैत्यों को बनाकर स्थापित किया जाता है। इसके साथ-साथ सम्बन्धित सम्प्रदायों के ईष्ट देव-देवियों, गुरू परम्पराओं आदि को इन गोनपाओं की भीतरी दीवारों पर चित्रित किया जाता है। उक्त ईष्ट देव-देवियों आदि की मूर्तियों को भी गोनपाओं में स्थापित किया जाता है। गोनपाओं में कई देवालय होते हैं। इनका उपयोग लद्दाखी पंचांग के अनुसार धार्मिक पूजा-पाठ एवं साधना किया जाता है।

लामा संघ:

लद्दाख की इन गोनपाओं में लामाओं के लिए अलग आवास की व्यवस्था होती है। इन्हें स्थानीय भाषा में 'टशक' कहा जाता है। श्रद्धालु अपने पुत्र को इन गोनपाओं में लामा बनाने के लिए देते हैं। लामा संघ में प्रवेश लेने के लिए माता-पिता की तरफ से रिनपोछे या छगजोत से अनुमति लेनी होती हैं। तत्पश्चात् इन्हें संघ को चाय पिलानी होती है। इस प्रकार इनका विधि-विधान के अनुसार, संघ में प्रवेश हो जाता है। इस परम्परा को 'ञयांसंघ' कहा जाता है। अर्थात् इससे संघ को सूचित किया जाता है कि अमुख लड़के/लड़की का लामा संघ में प्रवेश हुआ है।

लड़के/लड़की को लामा संघ में प्रवेश मिलने पर उसे एक वरिष्ठ लामा को सौंप दिया जाता है, जो उसे लामाओं की प्रारम्भिक शिखा एवं शीलों का ज्ञान कराता है। इस अवधि में वह संघ के सभी क़ार्यों को श्रद्धापूर्वक करता है। गुरू द्वारा बतलायें गये उपदेशों को पालन करता है। गोनपा में इसे 'चुन-जुङ कहकर पुकारते हैं।

'चुन-जुङ' को गोनपा में अक्षर ज्ञान कराया जाता है तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धित पोथियों को कंठस्थ करना होता है। पाठ कंठस्थ होने पर संघ के समक्ष इसकी परीक्षा ली जाती है। परीक्षा उत्तीर्ण होने पर इसे लामा की संज्ञा दी जाती है। एक 'चुन-जुङ को लामा बनने एवं उक्त सभी पाठों को याद करने में लगभग छ: वर्ष लग जाते है।

लामा बनने पर वह गोनपा के वरिष्ठ लामाओं के अधीन दर्शन कर्मकाण्ड आदि की शिक्षा ग्रहण करता है। जब इसे कर्मकाण्ड की सभी पद्धतियों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, गोनपा इसे अपनी शाखा गोनपा में पुजारी के रूप में तीन वर्ष के लिए नियुक्त कर देती है। इस अवधि में इसका कार्य शाखा गोनपा की देखभाल करना एवं सम्बन्धित ग्रामीणों की धार्मिक पूजा कार्यों को सम्पन्न करना होता है।

यदि गोनपा में लामा की उम्र २१ वर्ष अथवा उससे अधिक हो जाती है, उसे 'गेलोङ' की दिक्षा दी जाती है। इसके पश्चात् लामा अपनी योग्यता एवं वरिष्ठता के अनुसार उच्च पदों पर कार्य करता है।

प्रबन्ध व्यवस्था—

गोनपाओं की प्रबन्ध व्यवस्था को निम्न दो चित्रों के द्वारा समझा जा सकता है।

चित्र—(क) प्रशासनिक विभाग

रिपोंछे

↓

छगजोत

↓

न्येर-छेन → ↓ जुर-न्येर

न्येर-चुङ → ↓ न्येर-थोक, ख-थोक पा, मा-छेन, छुमा, शिङपोन, छग-दरपा, छिमस्पोंन

जुर-न्येर ↓ लुङ-शुङ, छुन-पा, कोर-पोन

चित्र (ख)—धार्मिक विभाग

रिनपोछे

↓

छगजोत

↓

↓ खनपो

↓ लामा संघ

↓ लो-पोन

↓ डोन-ञेर

↓ उम-जद

↓ उ-छुङ

↓ छमस्पोन छेवा

↓ छमस्पोन छुङ-वा

↓ छोठिम-पा

↓ छोस-शम-पा

↓ ग्यालिङ-पा

↓ तुङ-पा

रिनपोछे

यह सम्बन्धित गोनपा एवं सम्प्रदाय का प्रमुख अर्थात् संस्थापक लामा का अवतार तथा गोनपा का प्रमुख होता है। गोनपा के सभी कार्य इसके निर्देशों के अनुसार सम्पन्न होते हैं। इन कार्यों में प्रमुख निम्न हैं—

१. गोनपा निर्माण।

२. मूर्ति निर्माण।

३. स्तूप निर्माण।

४. थंका एवं भित्ति चित्रों का निर्माण।

५. छगजोत खनपो आदि की नियुक्ति करना।

रिनपोछे, परम्परागत बौद्ध पद्धतियों का ज्ञानी होता है। इसे बौद्ध दर्शन का पूर्ण ज्ञान होता है। यह समय-समय पर लामा संघ को अभिषेक देता है तथा संघ एवं जनता को धर्म उपदेश देकर कल्याणकारी कार्य करता है।

छगज़ोत

यह गोनपा में धार्मिक एवं प्रशासनिक विभागों को रिनपोछे के निर्देशानुसार देखता है। इसकी नियुक्ति संघ अथवा रिनपोछे द्वारा की जाती है। धार्मिक विभाग में छोस-ठिम-पा से ऊपर लो-पोन तक अथवा प्रशासनिक विभाग से न्येर-छेन, दोनों विभागों से कोई भी छगज़ोत बन सकत है।

उक्त कार्यों के अतिरिक्त छगज़ोत गोनपा की आय-व्यय का विवरण रखता है, आवश्यकतानुसार गोनपा की सभी जरूरतों को भी पूरा करता है। जैसे—गोनपा का निर्माण कार्य, धार्मिक कार्य, गोनपा की चल-अचल सम्पत्ति की देखभाल आदि।

लो-पोन

यह संघ का मुख्य लामा होता है। इसका प्रधान कार्य धार्मिक कर्मकाण्डों को सफलता हेतु सम्बन्धित ईष्ट देव/देवियों की साधना करना होता है।

डोन-ञेर

यह गोनपा की पूजा सामग्री की देखभाल करता है। जैसे—थंकाऐं, मूर्तियाँ, मुखौटें, छमम-गोस, छग-छन आदि।

उम-ज़द

यह गोपना में सभी धार्मिक पूजा का संचालन करता है।

उ-छुङ

उमज़द की अनुपस्थिति में यह धार्मिक पूजा का संचालन करता है। समय-समय में 'चुन-जुङ्' द्वारा कंठस्थ किये गये पाठों की परीक्षा लेता है, उसकी योग्यता का विवरण संघ को देता है। इसके पश्चात् 'चुन-जुङ' को मुख्य परीक्षा में सम्मिलित होने की अनुमति प्रदान की जाती है।

छमस्पोन-छेवा

यह वार्षिक धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर मुख छम्म (तांत्रिक नृत्य) करता है और लामाओं को छम्म का अभ्यास कराता है।

छमस्पोन-छुङवा

छमस्पोन-छेवा की अनुपस्थिति में यह उक्त कार्य को सम्पन्न करता है।

छोस-ठिम-पा

गेनपा में सभी लामाओं को अनुशासन में रखना, इसका कार्य होता है।

छोस-शम-पा

इसका कार्य धार्मिक उत्सवों एवं पूजा के समय पूजन सामग्री को उपलब्ध कराना होता है।

ग्या-लिङ-पा

यह पूजा अवसरों पर ग्या-लिङ-वाद्य को पूजा विधि के अनुसार बजाता हैं।

तुङ-पा

यह पूजा अवसरों पर तुङ-वाद्य बजाता है।

प्रशासनिक विभाग

न्येर-छेन

यह छगज़ोत के निर्देशानुसार गोनपा की अचल सम्मपत्ति की देखभाल, जुर-ञेर की आय-व्यय का हिसाब करता है।

जुर-ञेर

गोनपा की लद्दाख के विभिन्न स्थानों में ज़मीन होती है। इसकी देखभाल के लिए जुर-ञेर नियुक्त किया जाता है। इसका कार्य सम्बन्धित क्षेत्र में जाकर गोनपा की जमीन एवं अन्य स्रोतों से होने वाली आय को एकत्रित कर न्येर-छेन को देना होता है। इसके अधीन लुङ-सुङ, छुन-पा तथा कोर-पोन कार्य करते हैं, लुङ-सुङ गोनपा की वन सम्पत्ति की देखभाल करना, छुन-पान का कार्य खेत, बाग-बगीचा आदि की

देखभाल करना एवं समय-समय पर सिंचाई आदि की व्यवस्था करना होता है तथा कोर-पोन, गोनपा के जानवरों की देखभाल करता है, दूध-मक्खन को एकत्रित कर गोनपा को उपलब्ध कराता है।

न्येर-चुङ

यह ला डाङ का कार्य देखता है। गोनपा में खाद्य पदार्थों की व्यवस्था करने की जिम्मेदारी इसकी होती है। जैसे—उत्सवों के समय संघ के लिए भोजन, चाय की व्यवस्था करना आदि। इसके अधीन न्येर-चोग, ख-थोक-पा, मा-छेन, छुमा, शिङ-पोन, छग-दर-पा आदि सहायक के रूप में कार्य करते हैं।

न्येर-चोग, न्येर-चुङ की सहायता करता हैं, ख-थोक-पा संख्या में दो होते है, जो गोनपा की चौकिदारी करते हैं, मा-छेन भोजन चाय आदि को उपलब्ध कराता है, छुमा-पानी का प्रबन्ध, शिङ-पोन, इंधन-लकड़ी की व्यवस्था करता है ता छग-दर-पा, समय-समय पर गोनपा की साफ-सफाई करता है।

भोजन व्यवस्था

लड़का/लड़की को संघ में प्रवेश मिल जाने के उपरान्त गोनपा इनके लिए भोजन एवं रहने की व्यवस्था करता है। आवास बनाने के लिए जमीन, लकड़ी, पत्थर आदि उपलब्ध करवाता है तथा भोजन के लिए गेहूँ, जौ आदि 'फोगस' के रूप में देता है। इसके अतिरिक्त लामा स्वयं भी पूजा आदि के द्वारा कुछ आय प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार गोनपा का 'फोगस' तथा पूजा ही लामाओं का मुख्य जीविकोपार्जन का साधन होता है।

आय-व्यय

गोनपाओं के आय के मुख्य स्रोत निम्न हैं—

१. कृषि योग्य भूमि।

२. बाग-बगीचे।

३. दुकान एवं मकान।

४. सरकारी अनुदान।

५. पर्यटन।

उक्त मदों से प्राप्त आय को गोनपा की मरम्पत, लामाओं के 'फोगस', त्यौहारों, मूर्ति निर्माण, थंका, भित्ति चित्रों, पूजा सामग्री, गोनपा निर्माण आदि में खर्च किया जाता है।

गोनपा विद्यालय

लद्दाख में प्रत्येक बड़ी गोनपा में तिब्बती परम्परानुसार लामाओं की शिक्षा के लिएं गोनपा विद्यालय होता है। इस गोनपा में लामाओं को परम्परागत बौद्ध शिक्षा दी जाती है। इनमें गोनपा एवं केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, लेह-लद्दाख की तरफ से शिक्षकों की नियुक्ति की जाती है। गोनपा द्वारा नियुक्त शिक्षकों को वेतन गोनपा द्वारा दिया जाता है।

अत: उक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोनपाऐं लद्दाख की सांस्कृतिक निधि हैं। इनके लद्दाख का प्रत्येक बौद्ध परिवार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में जुड़ा रहता है। गोनपाओं के लामा इन्हें धर्म एवं दर्शन का परिचय कराते हैं, इनकी धार्मिक-पूजा आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। दूसरी तरफ लद्दाखी बौद्ध लामाओं का श्रद्धापूर्वक आदर एवं सम्मान करते हैं। गोनपाओं में समय-समय में जाकर पूजा करते हैं। अन्त में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि गोनपाओं की सुरक्षा में लामाओं एवं लद्दाखी बौद्धों दोनों का योगदान है।

*

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची :

१. History of Ladakh, The called Mirror which illuminates Tashi Rabgais, Ladakh 1984

२. The Monastery of Ladakh by dGe-rGan-dKon-dMchog-dSod-Nams Vol. 1980

३. Ladakh Annals By Sonam Phuntsog, Achinathang 2000

४. History of Ladakh. The Poplers Printing Press Tibet, 1987

५. तिब्बती महाकोश तुङ्कर, लोब्जंग ठिनलास भाग १ तथा २. तिब्बती संस्कृति एवं धार्मिक मुद्रालय, अर-२८ रमेश पार्क, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-११००९२, २००४

६. Buton Chos-b Young gsung-Rab Rinpochai mzod by Buton DLL Society Publication. Karnataka, India 1991-1996

७. लद्दाख प्रभा-१ के. बौ. वि. संस्थान, लेह-लद्दाख १९८४

बौद्धधर्म दर्शन में अहिंसा का सिद्धान्त

डॉ० अवधेश कुमार द्विवेदी
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
कर्माश्री नालन्दा उच्च बौद्ध अध्ययन संस्थान
रूम्तेक सिक्किम (भारत)

ऐतिहासिक भारत में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रयोग प्रथम बार उपनिषदों के लेखकों द्वारा वैदिक यज्ञों की क्रूरता के सम्बन्ध में किया गया। यहीं से शाकाहार का सिद्धान्त विकसित हुआ। पाँचवीं सदी ई. पू. में बुद्ध ने बल देकर इसकी वकालत कर अपनी मुख्य शिक्षाओं में शामिल किया, सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया तथा इसे अतुलनीय अच्छाई बताया। चक्र के निशान को जो धर्म-युद्ध का (प्राय: रथ के पहिए के रूप में) प्रतीक था, को धर्म-शान्ति के प्रतीक चिह्न (धर्मचक्र) में परिवर्तित करके बौद्ध धर्म ने अहिंसा के क्षेत्र में मौलिक योगदान दिया। बौद्ध अहिंसा अन्तर्दृष्टि को विविध क्षेत्रों, जैसे कि पर्यावरणीय आचारसंहिता, दैनिक जीवन, अन्य प्राणियों से सम्बन्ध तथा उनके प्रति नैतिक विचार एवं समाज में किनारे कर दिए गए वर्गों की दशा को समझने की आवश्यकता में निश्चित रूप से लागू किया जा सकता है। आरम्भिक भारतीय बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में हिंसात्मक क्रियाकलापों को मोटे तौर पर निम्नलिखित चार श्रेणियों में रखा जा सकता है—

१. संगठित झगड़ों, जैसे युद्ध, लड़ाइयाँ आदि तथा असंगठित झगड़ों, जैसे हत्या, आत्महत्या, गर्भपात तथा ऐच्छिक मृत्यु आदि द्वारा होने वाली हिंसा।

२. याज्ञिक कर्मकाण्डों में जिनमें पशु-बलि तथा कभी-कभी मनुष्य की बलि दी जाती थी, द्वारा होने वाली हिंसा।

३. शिकारियों, कसाइयों, मछुआरों आदि के हाथों होने वाली हिंसा, जो मनुष्य के भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं विशेषकर औषधि के उद्देश्य से की जाती थीं। इस प्रकार मनुष्य द्वारा मांस तथा मछली खाना हिंसा का महत्वपूर्ण अनुक्रम था।

४. कृषि कार्यों तथा इससे सम्बन्धित अन्य क्रियाकलापों जैसे खुदाई, सिंचाई, खेतों की जुताई, फसलों, घास और वृक्षों की कटाई तथा एक—इन्द्रिय जीवों, जो पौधों, वृक्षों, मिट्टी आदि में निवास करते थे, को नष्ट किए जाने जैसे क्रियाकलापों द्वारा होने वाली हिंसा।

हम ऐसी दुनिया में जी रहे हैं, जहाँ एक-दूसरे को किनारे करके ही जीवन को कायम रखा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में एक या दूसरे प्रकार की हिंसा से बचाना सम्भव नहीं है। जीवित रहने के लिए खाना आवश्यक होता है तथा उसके लिए हममें से अधिकांश अपना भोजन विभिन्न प्रकार के पशुओं तथा जलीय जीवों से प्राप्त करते हैं। कुछ लोग ऐसी हिंसा से बचने के लिए शाकाहारी भोजन लेते हैं। तथापि कुछ लोगों का विश्वास है कि पौधों में भी जीवन होता है और उनकी मान्यता के अनुसार पौधों से भोजन प्राप्त करने को भी जीवन जीने का सही तरीका नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा हमला किए जाने पर, आत्मरक्षा में की गई हिंसा का प्रश्न खड़ा होता है। तब विभिन्न प्रकार के कीड़े-मकोड़ों तथा मक्खी-मच्छरों को बड़ी मात्रा में लगातार नष्ट किए जाने का प्रश्न उठता है, क्योंकि वे हानिकारक जीवाणुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते हैं। बीमारियों से ठीक होने के लिए ली गई विभिन्न प्रकार की औषधियाँ भी शरीर में स्थित जीवाणुओं को मारती हैं। वास्तविकता यह है कि जीवाणु-सिद्धान्त जो आधुनिक औषधि को मुख्य आधार प्रदान करता है, विभिन्न प्रकार की जीव-हिंसा पर आधारित है। विभिनन प्रकार की बीमारियों से मुक्ति पाने के लिए औषधियों का आविष्कार करने हेतु भी वैज्ञानिकों द्वारा जीव-जन्तुओं पर अनुसन्धान किए जाते हैं। इसलिए यदि वास्तव में अहिंसा के सिद्धान्त का पालन किया जाए, तो यह कठिन होगा क्योंकि कम से कम अपने जीवन को बनाए रखने के लिए वांछित भोजन की प्राप्ति में थोड़ी बहुत हिंसा तो होगी ही अन्यथा सम्भवतः स्वयं भूखे मरना होगा, अर्थात् आत्महत्या करनी होगी। असल में आत्महत्या भी तो अहिंसा के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण और परम अहिंसा का पालन इस विशेष अर्थ में असम्भव है।

बौद्ध धर्म अहिंसा की मनोवृत्ति के आन्तरिक अनुभव तथा अहिंसात्मक कार्य के रूप में इसकी बाह्य अभिव्यक्ति, दोनों को दो भिन्न चीजें मानता है। इस प्रकार बुद्ध ने अपने अहिंसा का दर्शन इस सामान्य तथ्य पर आधारित माना है कि यद्यपि अहिंसा का पूर्णतया पालन कठिन हो सकता है परन्तु हृदय में अहिंसा की मनोवृत्ति

को पूर्ण तौर से उत्पन्न करना असम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में, अहिंसा का वास्तविक पालन जीवन, जिसके प्रतिवादों को हल करना कठिन है, की सही पहचान के आधार पर ही किया जा सकता है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए बुद्ध ने अहिंसा के कार्य को अनावश्यक रूप से कठोर नियमों से आबद्ध नहीं किया। इस प्रकार का सन्तुलित तथा विवेकपूर्ण अहिंसा का सिद्धान्त मानव सभ्यता के लिए सम्भवत: बौद्ध धर्म की अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है।

पालि साहित्य में इस सिद्धान्त को मुख्य तौर पर तीन प्रकार की शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है—पाणातिपाता वेरमणी, पाणातिपाता पटिविरति तथा अहिंसा।

इन तीनों में से, अहिंसा अथवा अविहिंसा (अर्थात् 'हानि न पहुँचाना' या 'नष्ट न करना') का बौद्ध ग्रन्थों में अधिकतम प्रयोग हुआ है। शेष दो अभिव्यक्तियाँ भी इसी अर्थ 'स्वयं को जीवों को हानि पहुँचाने या नष्ट करने से बचाना' (पाणातिपात/पाणवध/पाणघात) को ही द्योतित करती हैं तथा सील सम्बन्धी विनय के नियम जो जीवित प्राणियों की हिंसा तथा उनको नष्ट न करने (पाणं अतिमापेति) से सम्बन्धित हैं, के लिए प्रयुक्त हुई हैं। यहाँ वेरमणी (अलग रहना/परहेज करना) तथा पटिविरति (रोकना/निरोध करना) शब्दों का प्रयोग एहतियाती प्रयास तथा इच्छाशक्ति के प्रयोग के विशिष्ट रूप में हुआ है। इच्छाशक्ति का प्रयोग दुष्ट चीजों के प्रति झुकाव (जैसे, किसी भी रूप में जीव-हिंसा) से बचने का द्योतक है। जब यह दृढ़ निश्चय कर लिया जाता है, मैं जीव-हिंसा न करने के सिद्धान्त का पालन करूँगा, तब सील जैसी स्वयं प्रकट होने वाली प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। एक बच्चा हिंसा नहीं करता लेकिन इसके बावजूद यह सील नहीं है। इसका कारण यह है कि बच्चा इस तथ्य से अनजान है कि वह जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं कर रहा है। इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि कोई सील का पालन इस लिए करता है क्योंकि वह जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करता। इस प्रकार अहिंसा का तात्पर्य है—जान-बूझकर जीवित प्राणियों के घात से बचना। दूसरे शब्दों में एक बौद्ध धर्मानुयायी से आशा की जाती है कि उसे न केवल हिंसा नहीं करनी चाहिए बल्कि दूसरों को भी हिंसा के लिए नहीं उकसाना चाहिए।

जीवित प्राणियों के प्रति अहिंसा जो कि बौद्ध धर्म का प्रथम शिक्षापद है सम्पूर्ण प्रकृति में पाए जाने वाले आपसी आकर्षण तथा अच्छाई के सिद्धान्त पर आधारित है। जान-बूझकर हिंसा करने का तात्पर्य है, अन्तर्निहित अखण्डता को बाधित और नष्ट करना तथा सम्मान और करूणा जो कि मानवता के आधार हैं, की

भावनाओं को कुण्ठित करना। सचमुच यह शिक्षाप्रद जीवन तथा सृष्टि को आमंत्रित तथा मृत्यु और विनाश की निन्दा करता है। जान-बूझकर हत्या करना, चाकू मारना, गला दबाना, डुबो देना, कुचलना, जहर देना, जला देना या अन्य तरीके से किसी मनुष्य या जानवर को पीड़ित करना—यह शिक्षापद केवल इन सब तरीकों से ही दूषित नहीं होता। किसी को किसी जीवित प्राणी को मारने, प्रताड़ित करने या हानि पहुँचाने के लिए उकसाना भी प्रथम शिक्षापद का उल्लंघन करना है। हालाँकि हिंसा वचनों,मन व कार्यों द्वारा की जा सकती है, प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म ने मुख्य रूप से कार्यों द्वारा की गई हिंसा की ओर अधिक ध्यान दिया था। विभिन्न प्रकार के यज्ञ एवं बलियाँ, विशेषकर वे जिनमें पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी, बुद्ध द्वारा उन्हें न केवल हास्यास्पद एवं निरर्थक बताया गया है, बल्कि अक्षम्य क्रूरता भी। एक ओर'उन्होंने यज्ञों की उपादेयता को नकारा, वहीं दूसरी ओर जीवित प्राणियों के जीवन का अत्यन्त सम्मान भी किया। उनके अनुसार 'सभी जीवित प्राणियों में से किसी को भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।' 'वह यज्ञ जिसमें जीवित प्राणियों का वध होता हो न तो ज्यादा फलदायक होती है और न ही अत्यधिक लाभदायक, न ही प्रसिद्धि वाली होती है और न ही विस्तृत प्रभाव वाली। यह वैसा ही है जैसे कि कोई किसान हल एवं बीज लेकर किसी जंगल में प्रवेश कर और वहाँ अनजुते खेत, प्रतिकूल मिट्टी जिसमें कटे पेड़ों के ठूँठ हों, वहाँ वैसे बीज बोए जो टूटे, गले, हवा तथा गर्मी से सड़ गए हों, जब मौसम उचित न हो, दशा ठीक न हो' और देव भी उचित मौसम में अच्छी वर्षा न करे।' सामञ्ञफलसुत्त में हमें बताया गया है कि "भिक्षु जीवित प्राणियों की हिंसा को छोड़कर जीवन को नष्ट करने से स्वयं को अलग रखता है। वह लाठी और तलवार अलग रख चुका है, तथा कठोरता से शर्मिन्दा एवं दया से ओत-प्रोत वह उन सभी जन्तुओं के प्रति, जिनमें जीवन है, सहृदयता एवं दया से रहता है।"

अहिंसा के अभ्यास का आधार दया, हितकामना, (हितानुकम्पा) तथा जीवित प्राणियों की हिंसा तथा हानि पहुँचाने जैसी क्रूरता से लज्जा अनुभव करना है। इस प्रकार से बौद्ध धर्म में अहिंसा का करुणा तथा लज्जा से एकीकरण कर दिया गया है। जहाँ कहीं किसी दिल में करूणा है, वह बाहरी तौर पर अहिंसा के कार्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। अहिंसा एक भव्य कार्य माना जाता है क्योंकि यह न केवल जिसके लिए किया जाता है उसे बल्कि उसके लिए जो इसका पालन करता है, सुखद परिणाम देता है। दूसरी ओर जो घृणा करते हैं, न केवल दूसरे को हानि

पहुँचाते हैं बल्कि स्वयं को भी दु:खी करते हैं। जीवित प्राणियों की हिंसा एक शर्मनाक तथा गलत कार्य है। इसी प्रकार धम्मपद के एक गाथा (२७५) में बताया गया है कि 'भद्र जीवित जन्तुओं की हत्या से नहीं, बल्कि उन सबके प्रति अहिंसा से बना जाता है'। **(न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति, अहिंसा सब्बपाणानं, अरियोति पवुच्चति।)** "इस दुनिया में घृणा कभी भी घृणा से समाप्त नहीं होती। प्यार भरी दया से इसका अन्त होता है।" (धम्मपद-५) "जो हत्या नहीं करता, न ही हत्या करने को कहता है, जो लूटता नहीं न ही दूसरों को लूटने को कहता है, अपने हृदय में सबके लिए स्थान रखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।" जब कोई अहिंसा का पालन करता है तब वह प्रेम की सच्ची भावना का अनुभव करता है तथा सुख पाता है। इस प्रकार के सुख की प्राप्ति को आध्यात्मिक रूप से अत्यन्त उदात्त अवस्था कहा जाता है। इस प्रकार अहिंसा में आनन्दित होना तथा मैत्रीपूर्ण चित्त का विकास तभी सम्भव है जब सभी जीवित प्राणियों की खुशी, सुख तथा भलाई की कामना की जाए। बौद्ध धर्म में अहिंसा को इस अर्थ में बताया गया है कि सभी व्यक्ति अपने जीवन से प्यार करते हैं और किसी अन्य से हानि पहुँचने या मारे जाने की इच्छा नहीं रखते हैं। आत्मरक्षा तथा स्वयं से प्यार की भावना को अन्य व्यक्तियों के चिन्तन में हस्तांतरित किया जाता है और इस प्रकार जीवन की रक्षा तथा जीवन से प्यार को प्रोत्साहित किया जाता है। उदाहरण के लिए धम्मपद इसी विचार को दुहराते हुए कहता है कि जैसे सभी मृत्यु से डरते हैं, वैसे ही दूसरों की तुलना स्वयं से करते हुए किसी की न तो हिंसा करनी चाहिए और न ही हिंसा का कारण बनना चाहिए।

अहिंसा का अनुपालन व्यक्ति को प्रेम का सच्चा अनुभव कराता है और इससे सुख की प्राप्ति होती है और इसके अतिरिक्त इस सुख को आध्यात्मिक रूप से अतिरेक आनन्द की अवस्था माना जाता है। करूणायुक्त हृदय के विकास का तात्पर्य है यह इच्छा व्यक्त करना कि सभी जीवित प्राणी सुख, शान्ति तथा कल्याण की अवस्था को प्राप्त करें तथा तब अपने अन्दर असंख्य तथा अनन्त प्रकार के जीवों के प्रति करूणा उत्पन्न करें तथा इस प्रकार सभी जीवों को करूणा के चिन्तन की परिधि में लाएँ। इसे ही अपरिमेय मैत्री (मेत्ता-अप्पमञ्ञा) से युक्त मन कहा गया है। पुन: यह तथ्य कि अहिंसा का आधार मैत्रीयुक्त मन है, मन की युक्ति के सिद्धान्त से मन की शक्ति (मेत्ता-चेतोविमुति) के द्वारा इसका विलय भी हो जाता है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि मैत्रीयुक्त मन के विकास द्वारा मन को शान्ति मिलती

है तथा इस प्रकार साधक मुक्ति को प्राप्त करता है। बौद्ध धर्म में अहिंसा इस नैतिक नियम कि प्रत्येक को सभी जीवित प्राणियों से प्रेम करना चाहिए, तक ही सीमित नहीं है। यह इसके बहुत आगे भी जाता है तथा धार्मिक अर्थ में स्वीकार करता है कि इसके अनुपालन से बुद्धत्व के उच्चतम शिखर को प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए बौद्ध धर्म में अहिंसा का अभ्यास कई प्रकार से बताया गया है। उदाहरण के लिए आर्य आष्टांगिकमार्ग में सम्यक् कर्म (सम्माकम्मन्त) की व्याख्या अहिंसा के रूप में की जा सकती है। पुन: अत्यधिक महत्वूपर्ण दसकुसलकम्मपथ (दस कुशल कर्मों का मार्ग) में प्रथम सोपान है, जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करना। इसी प्रकार जब बुद्ध ने सिंगालिक को एक उपासक के हर रोज के सही व्यवहार का उपदेश दिया तो पहला सिद्धान्त जो व्याख्यापित किया गया वह था जीवित प्राणियों की हिंसा न करना।

उपासकों और उपासिकाओं से जिस पंचशील के पालन को कहा गया है उनमें पहला है जीव हिंसा से बचना **पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं**। इसके परिणामस्वरूप उपासक और उपासिकाएँ जीवित प्राणियों की हिंसा से बचने का प्रयास न केवल मानसिक रूप से करते हैं, बल्कि इसे कार्य रूप में भी परिणत करते हैं। मानसिक रूप से जागरूक होने के बाबजूद यदि कोई व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष जीवन में किसी विशेष अवसर पर इसका पालन नहीं करता है तब शिक्षापद का उल्लंघन माना जाता है। इस शिक्षापद के इस प्रकार से उल्लंघन का अर्थ है अहिंसा के प्रति दृढ़संकल्प होते हुए भी इस संकल्प का विरोध करने वाली स्वार्थी इच्छाओं का बहुत ही शक्तिशाली होना। इस प्रकार की परिस्थितियों में अप्रत्याशित रूप से इस शिक्षापद के उल्लंघन के लिए पश्चाताप होता है तथा इस प्रकार इसकी स्वीकृति (पटिदेसना) की जाती है।

तथापि यह स्वीकृति निश्चित रूप से हृदय से होनी चाहिए। बौद्ध धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त की महत्ता को इस तथ्य से भी मापा जा सकता है कि अहिंसा के सिद्धान्त को आठ शिक्षापदों (अट्ठंगिक उपोसथ) में शामिल किया गया है जिसका बौद्धों द्वारा महीने के चार दिनों के उपवास (उपोसथ) के अवसर पर पालन किया जाता है। सामणेर तथा सामणेरी के लिए विहित दस शिक्षापदों में भी पहले शिक्षापद के अन्तर्गत इसे अन्तर्निहित किया गया है। जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करने का विस्तृत विवरण पातिमोक्ख में भिक्षु तथा भिक्षुणिओं के विनय में दिया गया है। पातिमोक्ख के अन्तर्गत पाराजिक के तीसरे नियम के अनुसार एक भिक्षु या

भिक्षुणी को हत्या करने के अपराध में संघ से निष्कासित कर दिया जाता है, जो संघ के सदस्य के लिए कठोरतम दण्ड है। बौद्ध धर्म उस व्यक्ति की घोर निन्दा करता है जो जानबूझकर तथा लक्ष्य साधकर (इति चित्तमनोचित्तसंकप्पो) विभिन्न तरीकों से मृत्यु की अच्छाई का वर्णन करे या किसी को मृत्यु की ओर प्रेरित करे। हत्या के तरीके जो विनय में वर्णित हैं वे भिन्न तथा अनेक हैं। इनमें हथियारों का प्रयोग गर्त्त तथा फन्दे से लेकर अत्यधिक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक योजनाओं जैसे भूत का रूप धारण कर किसी को डराकर मार डालना तथा असफल उपचार के परिणाम स्वरूप किसी की मृत्यु। चेतना के सन्दर्भ में उदाहरण बताते हैं कि दोषी द्वारा अपराध किए जाने के समय अपराध उसकी मानसिक स्थिति से अच्छी प्रकार जुड़ा होता है। दोषी या निर्दोश होना इस बात पर निर्भर करता है कि कोई किसी योजना का कार्यान्वयन जिस मंसा से करता है वह उसके परिणाम से मेल खाता है या नहीं। माध्यम का सिद्धान्त वहाँ महत्व रखता है जहाँ अन्य पार्टी या व्यक्ति को मध्यस्थ के रूप में शामिल किया जाता है, जैसे कोई भिक्षु किसी अन्य को प्राणघातक हमले के लिए निर्देश देता है। सामान्य तौर पर विनय में किसी कार्य के अपराध होने के लिए चेतना आवश्यक होती है, वह अपराध अपराध नहीं होगा यदि उसमें बुरी चेतना न हो। इसके अतिरिक्त जैसा एन्ड्र्यू हक्सले ने दर्शाया है कुरूधम्म जातक इस विचार पर जोर देता है कि कम से कम सामान्य जन के सन्दर्भ में किसी के द्वारा किसी अन्य के प्रति की गई हानि जिसमें उसकी चेतना शामिल न हो, उसे अपराध के तौर पर नहीं गिना जाना चाहिए, तथा ऐसे विषय पर पेरशान होना बुद्धिमता नहीं होगी। बौद्ध धर्म गर्भपात को मनुष्य की हत्या के समान ही हत्या मानता है। आत्महत्या भी बौद्ध धर्म में मना है।

पेड़े-पौधों को हानि पहुँचाने पर भी रोक है, तथा इस प्रकार बुद्ध के अनुसार एक आदर्श व्यक्ति प्राणिजात तथा वनस्पति-जीवन (बीजगाम भूतगाम) को हानि पहुँचाने से बचता है। उन्होंने सबसे जीव-जन्तुओं के प्रति करूणा रखने का आग्रह किया। बुद्ध के विचार में मानवीय मनोभाव को केवल मानवों तक ही सीमाबद्ध न किया जाए बल्कि उसका विस्तार सभी सचेतन जीवों तक हो जो करूणा के उतने ही भागी बन सकें जितने कि मानव स्वयं। बुद्ध ने समझाया कि किसी भी जीवित प्राणी के जीवन का अन्त न किया जाए, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो। यहाँ तक कि हरी घास या पानी में रहने वाले जीवों को हानि पहुँच सकती है। उनके अनुसार जीव-जन्तुओं की मार काट करना उनके प्रति क्रूर होना, रक्तमोचन करने,

उन्हें हानि पहुँचाने या उनकी हत्या करने की मंशा रखना, तथा जीव-जन्तुओं के प्रति दया की भावना न रखना जैसी प्रवृत्तियाँ आयु को कम करती हैं तथा उन्होंने इन्हें घृणास्पद (आमगन्ध) माना है। बुद्ध ने यहाँ तक कहा कि 'हमें अपने जीवन को बनाए रखने के लिए भी जान-बूझकर अन्य जीवों की हत्या नहीं करनी चाहिए। भिक्षुओं को मिट्टी खोदने की अनुमति नहीं थी। पानी को पीने से पहले अवश्य ही छान दिया जाना चाहिए क्योंकि इसमें जीवित प्राणी होते हैं तथा वही फल खाना चाहिए जिनमें अभी बीज न हुए हों या बीज न बचे हों।

वे सभी जो हत्या या निर्दयतापूर्वक आजीविका (क्रूरकम्मंत) अपनाते है जैसे—कसाई, बहेलिया, शिकारी, मछुआरा, डाकू, जल्लाद तथा कारागारिक सभी बौद्ध धर्म में हीन भाव से देखे गए हैं। इसी प्रकार काटने, कोड़े लगाने, बाँधने, राजमार्ग पर डकैती तथा लूटमार जैसे व्यवसायों को हिंसापूर्ण तथा घृणित माना गया है। एक कसाई 'लाखों सालों तक नकर में दुःख भोगता है।'' किसी ने ऐसा न ही देखा न ही सुना है कि कोई कसाई जो जानवरों—भेड़, सूअर या जंगली जानवरों की हत्या करता है तथा बेचता है, वह इतना धनवान होता है कि ऐशोआराम से जीवन व्यतीत करता हो। कुछ कर्मों के फल, जो मनुष्य जीवों को चोट पहुँचाकर अपने ऊपर थोपता है, वे हैं—'लम्बे समय तक दुःखपूर्ण अवस्था से पीड़ित होना तथा किसी निम्न जीव के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करना। यदि वह मानव के रूप में पुनः जन्म लेता भी है, तब भी वह दुर्बल, कुरूप, अप्रिय, डरपोक, करूणारहित, रोगग्रस्त, दुःखी तथा शोकग्रस्त, अपने प्रियों से वियुक्त तथा कम आयु में ही मृत्यु को प्राप्त करने वाला होता है। बौद्ध धर्म में हत्या के नैतिक दोष की गम्भीरता निश्चित करने के लिए परिस्थितियाँ, जिनके तहत किसी जीव की हत्या की गई हो तथा हत्या के समय उस जीव का शारीरिक और मानसिक विकास देखे जाते हैं। इस प्रकार 'एक आदमी तथा एक बच्चे की हत्या का परिणाम उन दोनों के शारीरिक तथा मानसिक विकास के अनुपात में भिन्न होत है।''

लेकिन आरम्भिक बौद्ध धर्म में विशेष परिस्थितियों में ''अप्रत्यक्ष हिंसा'' की अनुमति थी। उदाहरण के लिए आरम्भिक बौद्ध धर्म में 'चमड़े का प्रयोग जैसे—भेड़, बकरे तथा हिरण के चर्म का सीमान्त देशों में पलंगपोश के रूप में प्रयोग की अनुमति थी।' कच्चे मांस तथा खून का प्रयोग अमानुषिक रोग से ग्रस्त होने पर किया जा सकता था। एक जातक में यह उल्लेख किया गया है कि 'कुछ विशेष परिस्थितियों में बोधिसत्व भी जीव-हत्या कर सकते है' विशेषकर वहाँ जहाँ उनकी

जन्मकुण्डली में दोष हो। एक स्थान पर बोधिसत्व 'हिरण तथा सूअर की हत्या करते हैं तथा मांस को पकाकर खाते हैं' उसके बाद दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर एक चोर को पकड़ते हैं तथा 'उसे पीटते एवं बाँधते हैं।' एक सन्दर्भ में बोधिसत्व मांस बेचते दिखाए गए हैं। इससे भी अधिक विरोधाभास तब उत्पन्न होता है जब बोधिसत्व मांसाहारी पशु के रूप में जन्म लेते हैं तथा न केवल उन्हें अपने लिए बल्कि अपने झुंड के लिए भी हत्या करनी पड़ती है। कई बार तो ऐसी परिस्थितियों में बोधिसत्व सचमुच हत्या तथा शिकार की तकनीक में विशेषज्ञ दिखाए गए हैं। लेकिन यहाँ पर यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि जातक अट्ठकथा की रचना बहुत बाद में श्रीलंका में हुई थी।

प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म का 'युद्ध, कृषि तथा मांस भक्षण के प्रति दृष्टिकोण खूनी बलियों की अपेक्षा अधिक मिस्रित था। इसने इन तीन प्रथाओं की भी हृदय से नहीं दुत्कारा हालाँकि ये सभी जीव-हिंसा के लिए अपरिहार्य रूप से दोषी थे।' हालाँकि भिक्षुओं को सैनिक से जितना हो सके दूर रहने के लिए कहा गया था। तथा सैनिकों को संघ में सम्मिलित नहीं किया जाता था। फिर भी बौद्ध दृष्टिकोण कुछ विरोध भासात्मक प्रतीत है। कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से, बौद्ध धर्म युद्ध का गुणगान करता प्रतीत होता है तथा विनय और सुत्त पिटक में ऐसे कुछ स्पष्ट उदाहरण हैं जहाँ युद्ध करने वाले मनुष्यों तथा सामरिक गुणों की प्रशंसा की गई है और प्रतिस्पर्धाओं का वर्णन है। ऐसी बहुत सी उपमाएँ हैं जो विशुद्ध रूप से सैन्य प्रकृति की हैं और अक्सर उनका प्रयोग भिक्षुओं को युद्ध में लड़ने की भाँति दृढ़ रहने तथा सशस्त्र सैनिकों के समान आध्यात्मिक युद्ध करने हेतु उत्साहित करने के लिए किया गया है। कुछ ऐसी जातक कथाएँ हैं जिनमें बोधिसत्व ख्याति के लिए शंखनाद करते हुए युद्ध में कूछ पड़ते हैं। इसके बावजूदद कि नगरों में अहिंसा का उद्घोष डंके की चोट पर किया गया जिसे प्राचीन काल में राजाओं ने सुना तथा भूमिपतियों द्वारा जानवरों के वध पर प्रतिबंध लगाया गया, तब भी बौद्ध धर्म कुछ हद् तक ही अहिंसा के बारे में भारतीय मनोवृत्ति बदल सका तथा कोई गम्भीर प्रभाव न छोड़ सका क्योंकि जानवरों की हिंसा कम से कम अशोक के समय तक जोर शोर से होती रही। सम्भवत: वैदिक यज्ञों की लोकप्रियता में कमी लाने के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में होने वाली हिंसा में बौद्ध धर्म को सफलता निम्नलिखित दो कारणों से बहुत कम मिली—

१. आम लोग तथा शासक अपनी महत्त्वाकांक्षा आनन्द या आजीविका की पूर्ति के इन तरीकों को छोड़ना नहीं चाहते थे।

२. बुद्ध कोई लौकिक राजा नहीं थे अतः उनके हाथों में ऐसी प्रत्यक्ष शक्ति नहीं थी जिससे वे आम लोगों पर प्रतिबन्धात्मक नियमों तथा दण्डों को लागू कर पाते, जैसा कि उन्होंने अपने भिक्षु संघ के मामले में किया था।

मतकभत्त जातक में बोधिसत्व ने हत्यारों के विषय में सोचते हुए इच्छा व्यक्त की है—"यदि केवल ये प्राणि अपने पापों के परिणाम को जानते शायद वे हिंसा से दूर रह सकते थे।" उन्होंने इसी अवसर पर निम्नलिखित उदान भी कहा—

"यदि लोग मात्र यह जानते कि दण्ड से दुःखदाई जन्म होगा, जीवित प्राणी हिंसा करना छोड़ देंगे। दुःख वस्तुतः हत्या करने वालों के लिए होता है।"

बौद्ध धर्म दर्शन में अहिंसा के सिद्धान्त के दो पहलू हैं—१. नकारात्मक ऐसी अहिंसा जो करूणा, आत्म-निरोध तथा दुःख-दर्द को दूर करने की इच्छा से प्रेरित होती है तथा २. सकारात्मक ऐसी अहिंसा जो पहले के समान उद्देश्य इच्छा तथा अभिप्राय से प्रेरित होती है। दूसरे शब्दों में सकारात्मक निष्पक्ष विचारों को ध्यान में रखकर की गई हिंसा को अहिंसा की ही अभिव्यक्ति माना जाता है। अतः अहिंसा का द्वैध सिद्धान्त यथार्थवादी है नकारात्मक पक्ष इस तथ्य की पहचान पर आधारित है कि वास्तविक तौर पर सारा संसार ही मृत्यु तथा विनाश से अभिशप्त है। कोई भी इस संसार में किसी न किसी प्रकार की हिंसा किए बिना अपने जीवन को बनाए नहीं रख सकता। अहिंसा के सकारात्मक पहलू में नैतिक आदर्श की प्रकृति सम्मिलित जिसके बिना सामाजिक, मानवीय या अंतरिक्षीय व्यवस्था नहीं बनी रह सकती। हिंसा से पूर्णतः दूर नहीं रहा जा सकता, अतः विशेष संकटपूर्ण परिस्थितियों में इससे बचना असम्भव है। दूसरे शब्दों में विशेष परिस्थितियों में अहिंसा के नकारात्मक पहलू का प्रयोग अपरिहार्य है। अहिंसा के नकारात्मक सिद्धान्त के प्रयोग के कई उदाहरण दैनिक जीवन में देखे जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर दर्द दूर करने की दृष्टि से की गई हिंसा या स्त्रियों के सम्मान का हिंसक बचाव। बौद्ध धर्म मनुष्य तथा जानवर एवं वनस्पति व बीज आदि के बीच भिन्नता में विश्वास करता है। हालांकि दोनों को नष्ट करना या उन्हें क्षति पहुँचाना पाप माना गया है लेकिन पाप की मात्रा में अन्तर है। एक वृक्ष को काटने की तुलना में किसी मनुष्य की हत्या में अधिक पाप उपार्जित होता है। इसी प्रकार ऐसे आदमी की हत्या जिसका दिमाग कम

विकसित होने की तुलना में विकसित दिमाग वाले आदमी की हत्या में अधिक पाप उपार्जित होता है।

अहिंसा का बौद्ध सिद्धान्त तथाकथित कृषि क्रान्ति से प्रत्यक्ष रूप से जोड़ दिया गया है। यह कृषि क्रान्ति महज एकभ्रांति है। यह विचार कि जानवरों की आर्थिक उपयोगिता के कारण कुछ हद तक बलि प्रथा अलोकप्रिय हुई को १९४० ई. के दौरान कुमारी आई.बी. हॉर्नर द्वारा प्रतिपादित किया गया था। उसने प्रस्तावित किया था कि 'बढ़ते हुए इस अनुभव ने कि बड़े पैमाने पर बलि-प्रथा का प्रचलन आध्यात्मिक तथा आर्थिक दोनों ही रूपों से लाभकारी नहीं है, इसे उखाड़ फेकने में निर्णायक भूमिका अदा की।'' हालाँकि हॉर्नर के तर्क में कुछ सचाई हो सकती है, परन्तु आर्थिक उपयोगिता तथा बलि-प्रथा की अनुपयोगिता के बीच के सम्बन्ध को अत्यधिक नहीं खींचा जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध द्वारा अहिंसा के प्रसार के पीछे आधारभूत तथा तर्कसंगत कारण करूणा, दया, उपेक्खा, मेत्ता, सहिष्णुता तथा सद्भाव थे जिन्हें सामान्यतया प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म द्वारा प्रशंसित किया गया तथा श्रेष्ठ फल तथा लाभ के रूप में लिया गया। बुद्ध ने केवल क्रैषिक पशुओं के लिए ही नहीं, बल्कि हरेक को सभी जीवों के प्रति अनन्त मैत्री-युक्त मन विकसित करने को कहा।''

बुद्ध यदि केवल क्रैषिक पशुओं की अचानक उत्पन्न हुई आवश्कता के बारे में ही चिन्तित होते तो वे निश्चय ही इन जानवरों के नामों को उस सूची में शामिल कर लेते जिन जानवरों के मांस-भक्षण को बुद्ध ने प्रतिषेध किया था। हमें यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से किसी भी पशु का कृषि कार्यों से कोई लेना देना नहीं था और उनकी हत्या से कृषि कार्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला था। सही में देखा जाए तो बुद्ध ने कृषि कार्यो को हिंसा का अपरिहार्य कारण माना क्योंकि उनसे जीवन नष्ट होता था। बुद्ध ने पशु-बलि की आलोचना क्यों की इसका कारण यह था कि यह अत्यन्त निर्दयी, असंगत तथा निरर्थक थी। इसके अलावा गाय (विशेषकर दुधारू गाय) जिसका कृषि क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान था बहुत पहले ही संरक्षित की जा चुकी थी। सुत्तनिपात में पुरातन ब्राह्मणों के बारे में कहा गया है कि वे गायों को अपने माता-पिता, भाई-बन्धु सर्वश्रेष्ठ मित्र तथा सभी स्वास्थ्यकारी वस्तुओं का स्रोत मानते थे और इसलिए कृतज्ञतावश वे गायों की हत्या कभी नहीं करते थे। बड़ी मात्रा में होने वाली पशु-बलि को कम करने के उद्देश्य से आरम्भिक भारतीय बौद्ध साहित्य में भी दिए गए साक्ष्य यह बताते हैं कि ब्राह्मण समुदायों के

बाहर सामान्य लोगों में पशु-बलि इतनी प्रशंसित नहीं थी। इसके अतिरिक्त दो विद्यमान तथ्यों के बीच सम्बन्ध ढूँढ़ना भी अपने-आप में जोखिम भरा है। उदाहरण के लिए यदि हम यह तर्क देते हैं कि "आज समाज में बच्चों की जन्म-दर को कम करने की आवश्यकता है ब्रह्मचर्य का पालन बच्चों की जन्म-दर को कम करने में सहायक होगा, अतः देश की मठीय परम्परा में ब्रह्मचर्य का पालन देश की वर्तमान आर्थिक आवश्यकता को द्योतित करता है। परन्तु हम जानते है कि ऐसा नहीं है।

यदि पालि साहित्य के कथन जो बुद्ध द्वारा उपदिष्ट शब्द माने जाते हैं को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया जाए तो यह तर्क दिया जा सकता है कि बुद्ध ने जानवरों के मांस-भक्षण की अनुमति दी थी। परन्तु क्या ये भाग पालि साहित्य में बाद में जोड़े गए क्षेपक हैं? मांस-भक्षण के दृष्टिकोण की तीक्ष्ण आलोचना एवं खण्डन महायान सूत्रों जिन्हें भी बुद्धवचन माना जाता है द्वारा किया गया है। महायान सूत्र स्पष्ट रूप से विश्वास दिलाते हैं कि मांस-भक्षण शिक्षापद के अभिप्राय तथा उद्देश्य के प्रतिकूल है क्योंकि ऐसा करने वाला जानवरों की हिंसा का साधन बनता है और इसलिए यह सभी जीवों के प्रति करुणायुक्त भावना का जिसका बौद्ध धर्म में मर्म स्थान है उल्लंघन करता है। क्या कोई विश्वसनीय साक्ष्य है कि बुद्ध ने मांस-भक्षण की अनुमति दी थी? दुर्भाग्यवश विद्वानों द्वारा मांस-भक्षण पर बौद्ध धर्म की दो शाखाओं के बीच के विवाद एवं स्पष्ट असंगति को दूर करने का कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया गया है। इसके साथ यह प्रश्न भी उठता है कि क्या बुद्ध की मृत्यु सूअर का मांस खाने से हुई थी? जैसा कि कुछ विद्वानों द्वारा दावा किया जाता है या फिर विषाक्त खुंभी खाने से जैसा कि अन्य विद्वानों द्वारा कहा गया है। यदि पालि त्रिपिटक के अनुसार चला जाए तो हम पाते हैं कि बुद्ध ने मांसभक्षण पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया था। एक भिक्षु को 'जो कुछ भी उसके भिक्षा पात्र में डाला जाए' उसे स्वीकारने की अनुमति थी और फिर इस सम्बन्ध में बुद्ध के चचेरे भाई एवं साले देवदत्त का उल्लेख आता है जो सम्भवतः कुछ श्रमणों एवं ब्राह्मणों द्वारा मांस-भक्षण के प्रति अपनाए गये पूर्ण प्रतिषेध से प्रेरित था। उसने बुद्ध को चुनौती दी तथा उन्हें मांस-भक्षण पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने को कहा। बुद्ध के बारे में कहा जाता है कि अपने कुछ अनुयायियों द्वारा साथ छोड़ दिये जाने पर भी उन्होंने ऐसा करने से मना कर दिया। बहुत से अन्य सन्दर्भ यद्यपि प्रसंगवश ही सत्यापित करते हैं कि मांस-भक्षण साधारण रीति-रिवाज माना जाता था तथा भिक्षुओं द्वारा निरन्तर मांस तथा मछली खाने का उपलब्ध विवरण इस बात को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है कि

मांस-भक्षण उनके भोजन का महत्वपूर्ण भाग था। मांस, मछली, फल, दुग्ध-उत्पाद तथा अनाज विशेषकर चावल उस समय की जनसंख्या का मुख्य भोजन था तथा बुद्ध इस बात से बिल्कुल आश्वस्त थे कि शुद्धता खाद्य-पदार्थों पर निर्भर नहीं करती बल्कि यह शरीरिक मानसिक तथा सदाचार के उस आचरण के नियन्त्रण से सम्भव होती है जो मनुष्य को दूषित करता है।

पालि बौद्ध धर्म में भिक्षुओं को निम्नलिखित अपवादों के साथ मांस-भक्षण की अनुमति दी गई है।

१. किसी भिक्षु द्वारा इन तीन परिस्थितियों में मांस नहीं खाया जाना चाहिये, यदि उसने देखा, सुना या सन्देह किया हो कि मांस किसी जानवर की हत्या कर विशेषतया उसके लिए प्राप्त किया गया है, अर्थात् भिक्षु के निमित्त जानवर की हत्या की गई है। यह तिकोटिपरिसुद्ध (अर्थात् तीन तरह से शुद्ध) का नियम कहलाता है। इस प्रकार पालि बौद्ध धर्म के अनुसार भिक्षुओं को किसी पाप या हिंसा के लिए जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता यदि मांस की प्राप्ति किसी व्यक्ति द्वारा जानबूझकर किसी जानवर को उन्हें खिलाने के लिए मार कर की गई।

२. कच्चे मांस के प्रयोग की अनुमति नहीं थी। परन्तु बीमारी की अवस्था में 'कच्चे मांस तथा खून का भी प्रयोग किया जा सकता है।' बुद्ध ने भिक्षुओं को यह अनुमति दी थी कि वे 'सिंहो, बाघों, लक्कड्बग्घों तथा भेड़ियों द्वारा मारे गए जानवरों के अवशेषों को पका तथा खा सकते है।

बुद्ध ने इसकी भी अनुमति दी थी कि 'यदि उचित समय पर मिले तो तेल के रूप में भालुओं, मछलियों, मगरों, सूअरों तथा गधों की चर्बी का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। वास्तव में मछली तथा मांस का उल्लेख उन पाँच श्रेष्ठ एवं स्वादिष्ट भोजनों (पाणितभोजनीय) में किया गया जिन्हें एक बीमार भिक्षु को खाने की अनुमति थी।

३. विभिन्न कारणों से निम्नलिखित दस जीवों का मांस खाना भी भिक्षुओं के लिए मना था—आदमी, हाथी, घोड़ा, कुत्ता, साँप, शेर, बाघ, चीता, भालू तथा लक्कड़बग्धा।

हालाँकि तिकोटिपरिसुद्ध के नियम ने भिक्षुओं को मांस-भक्षण के लिए जानवरों की हत्या के लिए प्रत्यक्ष रूप से सहायक होने से बचाए रखा तथा कुछ हद तक इस नियम की 'सामाजिक रूप से अस्वीकार्य जीवों के मांस-भक्षण की मनाही

द्वारा कमियाँ दूर कर दीं' फिर भी पालि बौद्ध धर्म का मांस भक्षण तथा अहिंसा के प्रति रवैया किंचित् विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है। महायान सूत्रों में पालि बौद्ध धर्म की मांस-भक्षण के लिए घोर निन्दा की गई है। तिकोटिपरिसुद्ध के नियम ने भली ही भिक्षुओं को किसी भी प्रकार के पाप से मुक्त कर दिया हो परन्तु उसके द्वारा स्वयं कसाइयों की घोर निन्दा की गई है। इसलिए आजकल बड़ी संख्या में थेरवादी भिक्षुओं को मांस का रसास्वादन लेते अक्सर देखा जा सकता है। वे मांस-भक्षण को न केवल इस आधार पर उचित ठहराते हैं कि पालि ग्रन्थों में बुद्ध द्वारा मांस-भक्षण की अनुमति दिए जाने के उल्लेख हैं, केवल वे इस तथ्य का निरपवाद रूप से उल्लेख करते हैं कि वस्तुत: बुद्ध की मृत्यु चुन्द नामक अपने एक अनुयायी के घर सूअर का मांस (जो कि सड़ा हुआ था तथा जिसने बुद्ध को विषाक्त कर दिया था) खाने के परिणाम स्वरूप हुई थी। इसके आगे वे तर्क देते हैं कि भिक्षु लोग बिना किसी पसन्द या नापसन्द के जो कुछ उन्हें दिया जाता है उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते है। बुद्ध के ऐसे विभिन्न वक्तव्यों तथा क्रिया विधियों का प्रयोग भी वे मांस-भक्षण को वैध ठहराने के लिए करते हैं जिनसे लगता है कि दिये जाने पर बुद्ध स्वयं मांस खाते थे, अत: निश्चय ही उन्हें भी (भिक्षुओं को भी) ऐसा करने की अनुमति है। महापरिनिब्बानसुत्तंत प्रासंगिक भाग इस प्रकार है—

"तब चुन्द ने भगवान को सम्बोधित किया और कहा, भगवान अपने भिक्षु संघ के साथ मेरे घर कल का भोजन कर मेरा सम्मान करें।' तथा भगवान ने चुप रहकर अपनी सहमति दी रात्रि के बीतने पर चुन्द लोहार ने अपने घर मीठे चावल तथा सूकरमद्दव तैयार करवाया।

विद्वानों द्वारा सूकरमद्दव के कई अर्थ बताये गये हैं। एच. फैंके ने इसका अर्थ 'सूअर का मुलायम मांस' बतया है। आर्थर वेली सूकरमद्दव की चार व्याख्याएँ देते हैं सूअर का एक मुलायम भोजन (सूअर द्वारा खाया जाने वाला भोजन) सूअर का आनन्द (सूअर का एक मनपसन्द भोजन) सूअर के शरीर का एक मुलायम हिस्सा या सूअर से मथा हुआ (सूअर द्वारा लताड़ा हुआ भोजन) पालि में ऐसे बहुत से मिश्रित शब्द हैं जिनका एक भाग 'सूकर' (सूअर) से बना है। उदाहरण के लिए समास शब्द 'सूकर-सालि' का प्रयोग पालि साहित्य में एक प्रकार के जंगली चावल के लिए किया गया है। के.ई. न्युमत्र ने जैसा कि आर्थर वेली द्वारा उद्धृत किया गया है दर्शाया है कि नरहरि के रजनीघंतु में वर्णित औषधीय पौधों के नामों में मिश्रित शब्दों की एक श्रृंखला उल्लिखित है जिनका प्रथम अवयव 'सूअर' है, जैसे—

'सूकर-कन्द' (शकरकन्द) 'सूकर-पदिक' (सूअर का पैर) 'सूकरेष्ट' (सूअरों द्वारा इच्छित)। अन्तिम शब्द की समानता के आधार पर न्यूमत्र ने 'सूकर-मद्दव' का अर्थ सूअर का आनन्द बताया है तथा यह मानते हैं कि यह एक प्रकार के कवक का नाम है पौधों के नाम अक्सर स्थानीय तथा क्षेत्रीय बोलियों में होते हैं। इस बात की बड़ी सम्भावना है कि यदि इस प्रकार की अभिव्यक्ति जैसे—'सूअर-मद्दव' का अर्थ मगध में 'कवक' था, तो इसकी भी सम्भावना है कि सुदूर पश्चिमी तथा दक्षिणी केन्द्रों, जहाँ पालि बौद्ध धर्म पहुँचा इससे पूर्णत: अनभिज्ञ थे तथा परिणाम स्वरूप इसका गलत अर्थ लगाया गया। वस्तुत: टी. डब्ल्यू रायस डेविड्स ने इसका अर्थ 'कवक की मात्रा' बताया है। सूअर के मांस के लिए पालि में 'सूकरमंस' नामक शब्द का इस्तेमाल किया गया है। एड्वर्ड थाँमस ने सही ही निर्दिष्ट किया है कि 'शब्द स्पष्ट रूप से सूकरमांस (सूअर का मांस) नहीं है। जिसकी कि हम उम्मीद करते, यदि यही संदर्भ होता'। श्रीमती सी.ए.एफ. रायस डेविड्स ने तर्क प्रस्तुत किया है कि 'एक भोजन के नाम के रूप में समास शब्द सूकरमंस का त्रिपिटक में एक बार ही एक गौण महत्त्व के सुत्त में वर्णन आया है, जहाँ कि एक गृहस्थ गौतम को भोजन के लिए आमंत्रित करते हुए सीमित व्यौरे में भोजन-सूची को बोलता है। मद्दव कहीं किसी अन्य जगह मांस के साथ नहीं जोड़ा गया है तथा टी. डब्ल्यू. रायस डेविड्स का विचार तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यहाँ हमें वह भोज्य पदार्थ जो कि कन्द-मूल का है जैसे कवक जो सूअरों को अत्यधिक पसन्द होता है तथा सम्भावना है कि उसे ही सूअर का आन्नद कहा गया हो। इस प्रकार का कन्द-मूल सही में हमारे पास है जिसकी आलोचकों को जानकारी नहीं थी हमारे काष्ठफल छोटे गिरीदार फल के आकार की कन्दयुक्त जड़ें हैं। जिन्हें सूअर तथा बच्चे दोनों ही पसन्द करते हैं। सूकरमद्दव का अर्थ 'सूअर का मांस' न होने का एक और महत्त्वपूर्ण कारण भी है। चुन्द ने बुद्ध को अपने घर पर आमंत्रित किया था। उसने बुद्ध को सूअर का मांस नहीं खिलाया होगा, क्योंकि यह तिकोटिपरिसुद्ध नियम का साफ उल्लंघन होता। जहाँ तक बुद्ध की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की बात है, बुद्ध को भोजन के लिए आमंत्रित करने वाला अक्सर पहले आनन्द से सम्पर्क करता था। उदाहरण के लिए विनय-पिटक में वर्णित आनन्द एवं एक ब्राह्मण के बीच हुए वार्तालाप से ऐसा बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—

"मेरे प्रिय आनन्द यदि मैं (भिक्षुओं के लिए) खीर तथा मधुपिण्ड बनवाऊँ, तो क्या आदरणीय गौतम मुझसे यह स्वीकार करेंगे?"

"बहुत अच्छा ब्राह्मण! मैं प्रभु से पूछूँगा"। तथा आनन्द ने यह बात प्रभु को बताई।

"बहुत अच्छा आनन्द! उसे (वे खाद्य पदार्थ) तैयार करने दें।"

"बहुत अच्छा ब्राह्मण! तुम (उन खाद्य पदार्थों को) तैयार कर सकते हो।"

ऐसा कहना कि बुद्ध ने मांस-भक्षण की अनुमति कुछ निश्चित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर दी, स्वीकार करना बहुत कठिन है। उस व्यक्ति, जिसने पशु-बलि तथा मांस बेचने, शिकार करने और फंदेबाजी जैसे घिनौने धन्धों की कड़े शब्दों में निन्दा की हो, उसके लिए यह कल्पना करना कठिन है कि उन्होंने उन्हीं जानवरों के मांस का स्वाद लिया हो। वह प्रत्येक मनुष्य जो मांस खाता है, चाहे कोई जानवर विशेष रूप से उसके लिए मारा गया हो या नहीं, वह मांस के व्यापार में सहायक होता है तथा निर्दोष जानवरों की निर्मम हत्या में भागीदार होता है। कोई भी व्यक्ति जो बुद्ध की जीवित प्राणियों के प्रति विलक्षण करूणा तथा प्रेम से सम्बन्धित अनेक वृत्तान्तों से अवगत है वह यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि बुद्ध ने उन्हीं प्राणियों के मांस-भक्षण की अनुमति दी हो। जीवित प्राणियों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचें इसके लिए वह इतने चिंतित रहते थे कि उन्होंने भिक्षुओं को पानी भी छानकर पीने के लिए कहा ताकि पानी में रहने वाले सूक्ष्म जीवों की अनजाने में हुई हत्या से बचा जा सके। भिक्षु अपने प्रशिक्षण, चारित्रिक शक्ति तथा जीवन उद्देश्य में जन-साधारण से भिन्न तथा दृढ़निश्चय वाले होने के कारण अधिक अच्छी प्रकार से इन्द्रिय सुख जिससे कि आम लोग वशीभूत हो जाते हैं, उनसे स्वयं को बचा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि संबन्धित ग्रन्थों के लेखकों ने मांस-भक्षण से सम्बन्धित भागों को त्रिपिटक में बाद में जोड़ दिया गया लगभग ३०० वर्षों से अधिक तक धर्मगन्थ मौखिक परम्परा में हस्तांतरित होते रहे तथा इस काल के दौरान ऐसा अन्तर्वेशन हो गया होगा।

पुत्तमंस सुत्त में बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदिष्ट किया है कि ठोस भोजन (कवलीकार आहार) आनन्द (दवाय) आसक्ति (मदाय) अपने को सँवारनें (मण्डनाय) अपनी सुन्दरता (विभूसनाय) के लिए नहीं बल्कि मात्र जीवन की आवश्यकता के रूप में लिया जाना चाहिए। जबकि यह स्वीकार किया गया है कि जीवन को बनाए रखने के लिए भोजन मुख्य आवश्यकता है, वहीं इसे लालच का मुख्य स्रोत एवं वस्तु के समान माना गया है जिससे स्वाद का अनुभव तृष्णा में परिवर्तित तथा विकसित हो जाता है। अत: कई अवसरों पर भोजन के सम्बन्ध में अल्पाहार की

वकालत की गई हैं, हालाँकि कभी भी आत्म-दमन (अन्तकिलमथ) के स्तर तक नहीं। आदर्श भिक्षु उसे बताया गया है जो कर्म तथा वचन में नियंत्रित भोजन के प्रति संयमित (कायगुत्तोवचीगुत्तो आहारे उदरे यतो) हल्के उदर वाला, अल्पाहारी, आसानी से संतुष्ट होने वाला तथा शान्त चित्तवाला हो (अनूदरो, मिताहारो, अप्पिच्छस्स अलोलुपो)। दूसरी ओर वैसे व्यक्ति का जो भोजन में संयम न बरतता हो, वर्णन उस व्यक्ति के समान किया गया है जो बिना सोचे-समझे तथा बुद्धिहीन तरीके से भोजन आनन्द, मान, सजावट, शृंगार, अत्यधिक लालचवश भोजन ग्रहण करता हो।

वह धर्म जो अपने दर्शन का आधार मेत्ता, करूणा, मुदिता तथा अपेक्खा, को बनाकर सभी जीवों के कल्याण (सब्बपाण-भूत-हितानुकम्पिन्) की कामना करता हो जिसके संस्थापक प्रतिदिन संसार का सर्वेक्षण उन जीवों की खोज के लिए करते हों जिन्हें उनकी दया तथा मदद चाहिए, उसने मांस-भक्षण की अनुमति दी हो ऐसा नहीं हो सकता। एक अच्छा बौद्ध जिससे यह आशा की जाती हो कि वह करूणा के प्रति दत्तचित्त हो (करूणाधिमुत्त) उसके बारे में यह सोचना ठीक प्रतीत नहीं होता कि वह अपना जीवन मांस खाकर जीये, चाहे वह मांस किसी भी प्रकार प्राप्त किया गया हो। कसाइयों, शिकारियों तथा मछुआरों को छोड़कर जो भोजन के लिए हिंसा करते हैं मांस-भक्षण करने वाले अधिकांश लोग अप्रत्यक्ष रूप से जानवरों की हिंसा तथा बर्बादी के लिए उत्तरदायी हैं। लेकिन तब भी उन्हें प्रथम शिक्षापद के प्रति कम उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। इस प्रकार पालि त्रिपिटक के वे सभी भाग जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मांस-भक्षण की अनुमति (जिनमें तिकोटिपरिसुद्ध का नियम भी शामिल है) देते हैं, को आवश्यक रूप से मांसाहारी भिक्षुओं द्वारा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद जोड़े गये क्षेपक के रूप में देखा जाना चाहिए।

*

बौद्धन्याये स्वभावप्रतिबन्धः

डॉ० देवीसिंह :

संस्कृत-पालि-प्राकृतविभागः
कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयः, कुरुक्षेत्रम्

भारतीयदर्शने स्थितेषु अनेकेषु दर्शनेषु बौद्धदर्शनस्य विशेषस्थानमस्ति। आचार्यदिङ्नागः बौद्धदर्शने बौद्धन्यायस्य जनकोऽस्ति। तस्य प्रमाणसमुच्चयोपरि आचार्यधर्मकीर्त्या प्रमाणवार्त्तिकनामकग्रन्थस्य रचना कृता। बौद्धदर्शनं प्रमाणद्वयं स्वीकरोति-प्रत्यक्षमनुमानच्येति। यत् ज्ञानं कल्पनारहितं भ्रान्तिशून्यं च भवति तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमस्ति।[१] लिंगग्रहणस्य प्रतिबन्धस्मरणस्य च अनन्तरं यत् ज्ञानं भवति तज्ज्ञानं अनुमानमस्ति। पक्षधर्मस्य ग्रहणे तथा च साध्य-साधनयोः सम्बन्धस्य स्मरणे अनुमान-प्रमाणस्य प्रवृतिः भवति। अतः एतद् पश्चाद्कामभावि ज्ञानं कथ्यते।[२] अनुमानं द्विविधं-स्वार्थानुमानं परार्थानुमानञ्च।[३] येन ज्ञानेन स्वस्यकृते ज्ञानं भवति, तज्ज्ञानं स्वार्थानुमानम्। येन ज्ञानेन परस्य कृते ज्ञानं भवति तज्ज्ञानं परार्थानुमानमस्ति।[४] 'लिंग'-शब्दस्यार्थमस्ति-'लिंगयते गम्यतेऽनेनार्थमिति लिंगम्'।[५] यथा-धूमं दृष्ट्वा परोक्षाग्नेः अनुमानं भवति। अतः धूमः एव अग्नेः लिंगं भवति। हेतोः त्रीणी रूपाणि सन्ति-',[६] लिंगस्यानुमेये सत्त्वमेवनिश्चितम्, २ सपक्षे एव सत्त्वं निश्चितम् ३ असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् । यथा—पर्वते वहि्नरस्ति, धूमत्वात् पाकशालावत् । अत्र धूमरेव वह्नेः लिंगमस्ति। सः पर्वतरूप-पक्षेऽस्ति, पाकशालारूपसपक्षेऽपि अस्ति, परं जलाशयरूप विपक्षे कदापि न भवति। अतः अयं सद्हेतुरस्ति। अत्र अग्निः साध्योऽस्ति धूमश्च तस्याः सिद्धौ

---

१. 'तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्'। धर्मकीर्तिः न्यायबिन्दुः १.४

२. लिंगग्रहणसम्बन्धस्मरणस्य पश्चाद् मानम् अनुमानम् । गृहीते पक्षधर्मे स्मृते च साध्यसाधनसम्बन्धेऽनुमानं प्रवर्तते इति पश्चात्कालभावि उच्यते। धर्मोत्तरः, न्यायबिन्दुटीका, पृष्ठ ३०

३. स्वार्थं परार्थं च। धर्मकीर्तिः, न्या. वि. २.२

४. स्वस्मायिदं स्वार्थ परस्मायिदं परार्थम् । श्रीनिवास शास्त्री, न्या.वि.टी. पृष्ठ ९८

५. वही, पृष्ठ ९८

६. त्रैरूप्यं पुनर्लिगस्यानुमेये सत्त्वम् एव, सपक्षे एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् । धर्मकीर्तिः, न्या० वि० २.५

साधनमस्ति। अतः अग्निधूमयोः साध्यसाधनमपि कथ्यते। यतो हि यत्र धूमस्तत्र वह्निः इयं व्याप्तिः भवति।

हेतुबिन्दुटीकाकारार्चट्महोदयेन कथितं यत् व्यापकत्वादेव व्याप्यस्यास्तित्वमस्ति अथवा अव्यापकत्वाद् व्याप्यस्यास्तित्वं न। अत्र व्यापक-व्याप्ययोः धर्म व्याप्तिः कथ्यते।[१] आचार्य-दिंगनागेन कथितम्-ग्राह्यधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः।[२] धर्मकीर्त्या कथितम् ।

"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः त्रिधैव सः ।
अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ।।[३]

आचार्यमनोरथनन्द्या कथितम् 'तदंशेन पक्षस्यधर्मेण-सिसाधयिसितेन व्याप्तोहेतुबोद्धव्यः।'

स्वभावप्रतिबन्धः

स्वस्य भावः इतिस्वभावः अर्थात् स्वसत्ता स्वोत्पतिः-निचस्वरूपम्। प्रतिबन्धः आयत्तः = आश्रितः अर्थात् यत् वस्तु निजसत्तायै परवस्तुनि आश्रितमस्ति तत् वस्तु स्वभाव-प्रतिबद्धं कथ्यते तथा च तयोः सम्बन्धः स्वभाव प्रतिबन्धः अविनाभावसम्बन्धः भवति। उदाहरणतः धूमः स्वसत्तायै अग्नौ आश्रितोऽस्ति अग्निं विना धूमस्य सत्ता न भवति। अतः धूमस्य अग्न्या सह स्वभावप्रतिबन्धः अस्ति। एवं प्रकारेण शिंशपात्वं स्वसत्तायै वृक्षत्वे आश्रितमस्ति, यतो हि वृक्षत्वं विना शिंशपात्वं स्वसत्तायै वृक्षत्वे आश्रितमस्ति, यतो हि वृक्षत्वं विना शिंशपात्वं न भवति। अतः शिंशपात्वस्य वृक्षत्वेन सह स्वभावप्रतिबन्धः अस्ति।[४] बौद्धन्याये स्वभावप्रतिबन्धस्य कृते 'नान्तरीयः' शब्दः अपि अस्ति। नान्तरीयकः अन्तरं = व्यवधानम्, न तथा नान्तरम्, नान्तरे भवः इति गहादित्वात् छः (नान्तरीयः) ततः स्वार्थिकः कन् इति नान्तरीयकः।[५] यः विना न भवति इति नान्तरीयकः अविनाभावी वा अस्ति। लिंग हेतुः वा स्वसाध्यस्य अविनाभावी भवति। अविनाभावीसम्बन्धः अर्थात् प्रतिबन्धः एव बौद्धन्याये व्याप्तेः

१. (क) तस्य पक्षधर्मस्य स तु व्याप्तिः—यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तदुभयधर्मतया प्रतीतेः। हे.बि.टी., पृष्ठ १७-१८
(ख) न्यायवार्त्तिकतत्त्वार्थटीका, १-१-५
२. आचार्य दिंगनागः, प्रमाणसमुच्चयः, अनुमान प्रमाण-२
३. (क) आचार्य धर्मकीर्तिः, प्रमाणवार्त्तिकम्, ३.१
(ख) आचार्य धर्मकीर्तिः, हेतुबिन्दुः, पृष्ठ ५१
४. श्री निवास शास्त्री, न्या. वि. टी. पृष्ठ १३०
५. धर्मो, प्र. पृष्ठ ९२

स्वरूपमस्ति। यतो हि यावत् धूमाग्नयोः नियतसम्बन्धस्य (अविनाभावीसम्बन्धस्य) निश्चयं न भवति तावत् ज्ञात धूमने अपि अग्नेः अनुमानं न भवति। वस्तुतः यस्मिन् लिंगे कस्यापि परोक्षार्थस्य अविनाभावस्य निश्चयः भवति तदेव परोक्षार्थस्य ज्ञापकं भवति। एवं प्रकारेणैव लिंगं परोक्षार्थस्य (साध्यस्य) निश्चायकं (गमकं) कथ्यते।

स्वभावः, कार्यम् अनुपलब्धिः च एतेषु त्रीषु हेतुषु एव साध्येन सह अविनाभावस्य नियमः भवति। अतः ऐते एव साध्यस्य साधनं भवितुं शक्यन्ते। **पूर्वपक्षः** पूर्वपक्षः अत्र शंका करोति यत् स्वभावप्रतिबन्धत्वादेव साध्य-साधन-भावः कथं भवति। अनेन विना कथं न भवति?

उत्तरपक्षः 'तद्प्रतिबद्धस्य तद्व्यभिचारनियमाभावात्'[१] अर्थात् तेन स्वभावेन यस्य प्रतिबन्धः नास्ति, तस्य अन्यवस्तुना सह अविनाभावस्य नियमः (अव्यभिचारस्य नियमः) न भवति। भावार्थः अयमस्ति यत् अविनाभावनियादेव वस्तुनो साध्यसाधनभावः भवति। यतो हि धूमरूपलिंगं प्रदीपवत् योग्यतामात्रेणैव परोक्षार्थस्य ज्ञानस्य निमित्तं नास्ति अपितु अविनाभावनियमात् निश्चितलिंगमेव परोक्षार्थस्य ज्ञापकं भवति। अतः स्वभाव-प्रतिबन्धत्वादेव अविनाभावनियमः भवति।

शंका—यदि पराश्रितस्य तस्मिन् अर्थे प्रतिबन्धः भवति यः पराश्रितः न भवति, तर्हि अत्र साध्य-साधनयोः कस्य कस्मिन् प्रतिबन्धः भवति?

समाधानम् 'स च प्रतिबन्धः साध्यऽर्थे लिंगस्य'[२] अर्थात् सः स्वभावप्रतिबन्धः लिंगस्य (धूमादेः) साध्यार्थे (अग्न्यादौ) भवति। पराश्रितत्वात् लिंगं प्रतिबद्धमस्ति (आश्रितं व्याप्यं वा)। साध्यश्च अपराश्रितत्वात् प्रतिबन्धस्य विषयोऽस्ति, न प्रतिबद्धः। भावार्थोऽयमस्ति यत् साध्यसाधनयोः समरूपेण तादात्म्यत्वादपि यत् प्रतिबद्धमस्ति तत् साधनं, यस्मिश्च प्रतिबन्धः भवति सः साध्योऽस्ति। यतो हि यस्य धर्मस्य स्वसत्ता यस्मिन् धर्मे आश्रिता अस्ति सः धर्मः तस्मिन् धर्मैव प्रतिबद्धः भवति, यथा—'प्रयत्नानन्तरीकत्वाख्योऽनित्यत्वे'[३] अर्थात् प्रयत्नानन्तरीकत्वधर्मः अनित्यत्वे प्रतिबद्धोऽस्ति। वस्तुतः साध्यसाधन-भावः नियताधरे भवति, यतो हि प्रयत्नान्तरीयवस्तुः अनित्यस्वभावयुक्तमेवऽस्ति, एतद् निश्चितम् । अतः साध्यसाधनभावः नियतविषये एव भवति, नान्यथा इति।

---

१. आचार्यः धर्मकीर्तिः, न्या. वि. २.२०

२. वही, २.२१

३. श्रीनिवासशास्त्री, न्या. वि. टी., पृष्ठ १३३

पूर्वपक्ष: साधनस्यैव (लिंगस्यैव) अविनाभाव-सम्बन्ध: (स्वभावप्रतिबन्ध:) कथं भवति? वस्तुन: कथं न?

उत्तरपक्षः यतो हि लिंगस्य साध्येन सह तादात्म्य-तदुत्पत्ति: भवति।[१] आचार्य धर्मकीर्ति: कथयति यत् तादात्म्य-तदुत्पत्ति: एताभ्यां द्वाभ्याम् निमिताभ्यामेव स्वभावप्रतिबन्ध: भवति। यथा—असौ वृक्षोऽपि अस्ति तथा च अशोकोऽपि, परमेतेषु सर्वेषु धर्मेषु तादत्म्यं भवति। वस्तुत: ते अभिन्ना: भवन्ति। तेषु एक धर्म: प्रतिबद्ध: (अविनाभाव:) भवति, अपर: प्रतिबन्धस्य विषय: भवति।

यथा अशोकत्वधर्म: वृक्षत्वस्य अविनाभावी अस्ति, यतो हि स: अशोक: तदैव भवितुमर्हति यदा स: वृक्ष: भवेत्। अत: तादात्म्यात् प्रतिबन्ध: भवति। परं कार्य-कारणभावदृष्ट्या कार्य स्वसत्तायै कारणाश्रितमस्ति। तत् कार्य स्वकारणे प्रतिबद्धमस्ति (अविनाभावी अस्ति), यथा—अंकुररूपकार्य सदैव बीजादेव उत्पन्नं भवति, बीजं विना न। एवं प्रकारेण तदुत्पत्त्या अपि प्रतिबन्ध: भवति। यतो हि अंकुर: बीजादेव उत्पन्नो भवति। अत: अंकुरं दृष्टवा बीजस्यानुमानं कर्तुं शक्यते।[२] तादात्म्य तदुत्पत्ते: सिद्धान्त: बौद्धदर्शने धर्मकीर्ते: नूतनोद्भावना अस्ति।[३]

शंका पूर्वपक्षः पुनराक्षेपते यत् एताभ्यां द्वाभ्यां निमित्ताभ्याम् (तादात्म्य-तदुत्पतिभ्याम्) एव स्वभावप्रतिबन्ध: (अविनाभावप्रतिबन्ध:) कथं भवति? अन्यै: निमितै: कथं न? यतो हि अनेका: दृष्टान्ता: सन्ति यत् यत्र व्याप्ति: तु भवति परं तादात्म्य-तदुत्पत्ते: कोऽपि निमित्तं न भवति। यथा—चन्द्रोदयं दृष्ट्वा समुद्रस्य वृद्धे: कुसुमविकासस्य च अनुमीयते तथा च शरदृतौ निर्मल जलं दृष्ट्वा अगस्तनक्षत्रोदयस्य अनुमीयते। एवं प्रकारेण अनेका दृष्टान्ता: लोके शास्त्रे च विद्यन्ते। अत: नियतसाहचर्येणैव व्याप्ति: उचितास्ति, केवलं तादात्म्य-तदुत्पत्तिभ्यां न?[४]

समाधानम्—पूर्वपक्षस्याक्षेपं निवारयितुं बौद्धनैयायिका: कथयन्ति यत् स: साध्यरेव स्वभाव: नास्ति, यस्य च लिंगस्य तस्मात् साध्यात् एव उत्पत्तिर्नास्ति, तस्य लिंगस्य तस्मिन् साध्ये स्वभाव-प्रतिबन्ध: (अविनाभावसम्बन्ध:) न भवति।[५] यतो हि एतदवश्यमेव मन्तव्यं यत् तादात्म्य-तदुत्पतिभ्यामेव अविनाभावसम्बन्ध: (स्वभाव-प्रतिबन्ध:) भवति, अन्यथा कोऽपि पदार्थ: कस्यापि साधकं (लिंगं) भविष्यति।

१. 'वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पतेश्च', आचार्य धर्मकीर्ति, व्या. वि., २.२२
२. श्चेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लॉजिक-२, पृष्ठ ७३
३. S.N. Das Gupta, History of Indian Philosophy, P. 35
४. न्या. बि.टी., पृष्ठ १३७
५. अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वाभावत्वात्', न्या. वि. २.२३

पूर्वपक्षेणप्रदत्तदृष्टान्तेऽपि तादात्म्य-तदुत्पत्तिसिद्धान्तः स्थितोऽस्ति। यथा—जलस्य निर्मलता अगस्तोदयस्यैव कार्यमस्ति। यद्यपि समुद्रवृद्धिः कुमुदविकासः वा चन्द्रोदयस्य साक्षात्कार्य नास्ति तथापि तयोः उत्पत्तिः एकसामग्रयाश्रिताऽस्ति। एकस्मात् महाभूतविशेषादेव तयोः उत्पत्तिः भवति। अतः अत्रापि परम्परया तदुत्पत्तिः निमित्ताऽस्ति एवं यत्र एतयोः निमित्तयोः कोऽपि न भवति तत्र अविनाभावसम्बन्धः एव न भवति। यथा—जलयुक्तमेघान् दृष्ट्वा वृष्टेरनुमानं युक्तिसंगतं नास्ति, यतो हि एतदपि भवितुं शक्यते यत् कस्यापि कारणेन दृष्टिरेव न भवेत् । वस्तुतः कारणेन कार्यस्यानुमानं न कर्तुं शक्यते।[१]

पूर्वपक्षः यदि तादात्म्य-तदुत्पतिभ्यामेव अविनाभाव सम्बन्धः (स्वभावप्रतिबन्धः) भवति तर्हि कार्यहेतुः स्वभावहेतुश्च एतौ एव परोक्षार्थस्य बोधकौ कथं भवतः?

उत्तरपक्षः यतो हि तादात्म्यं तदुत्पत्तिश्च एतौ द्वौ निमित्तौ स्वभावकार्यहेतवोः एव नियतरूपे भवतः। साध्यवस्तुना सह एकरूपता तादात्म्यं, तस्मादुत्पत्तिः इति तदुत्पत्तिः। तयोः (तादात्म्य-तदुत्पत्तोः) निमित्तेन एव साध्यसाधनभावः भवति। अतः कार्यस्वभावहेतुभ्यामेव भावात्मकवस्तुनः सिद्धिः भवति।[२]

अतः निष्कर्षतः एतद् कथयितुं शक्यते यत् भूयो-भूयो साहचर्य-दर्शनेन सम्बन्धस्य ग्रहणं न भवति एतादृशः च सम्बन्धग्रहणं अनुमानांगं न भवितुं शक्यते। परं अविनाभावनियमरेव अनुमानस्य अंगमस्ति। अयमविनाभावनियमः द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां गृहीतः—प्रथमस्तु कार्य-कारणभावेन, यथा—धूमः अग्नेः कार्यमस्ति, सः अग्निं विना न भवति। अतः कार्यकारणभावेन अयं निश्चयः भवति यत् धूमस्य वह्निना सह अविनाभावनियमः अस्ति। द्वितीयस्तु तादात्म्येन अविनाभावस्य निश्चयः भवति यथा—अयं वृक्षः शिंशपात्वात् । शिंशपा एकः वृक्षोऽस्ति, अतः वृक्षः शिंशपायाः स्वभावो अस्ति अर्थात् शिंशपायाः वृक्षविशेषेन सह तादात्म्यमस्ति। शिंशपात्वं वृक्षत्वं विना न भवितुं शक्यते, एतस्मात् शिंशपात्वस्य वृक्षत्वेन सह अविनाभावसम्बन्धोऽस्ति। अतः तादात्म्यतदुत्पतिसम्बन्धः एव अविनाभावनियमः। अयमेव बौद्धदर्शने स्वभावप्रतिबन्धः (अविनाभावसम्बन्धः) कथ्यते।[३]

✱

---

१. (क) श्चेरबात्स्की, बुद्धिस्ट लॉजिक, पृष्ठ ७६

(ख) धर्मोत्तर प्रदीपः, पृष्ठ ११५

२. ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः' न्या. वि. २.२४

३. श्री निवास शास्त्री, बौद्ध दर्शन का विवेचन, पृष्ठ १५२

बौद्ध संस्कृत-साहित्य की विशेषताएँ

डॉ० विनीता पाण्डेय

जनरल फेलो, आई.सी.पी.आर. नई दिल्ली

जैन बौद्ध दर्शन विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

बौद्ध मत का आरम्भ बुद्ध के उपदेशों से होता है। बुद्ध ने अपने उपदेशों को पालि भाषा के माध्यम से जन साधारण तक पहुँचाया, क्योंकि तत्कालीन समाज की भाषा पालि थी। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् आयोजित चार बौद्ध संगीतियों में विचार-विनिमय का माध्यम पालि भाषा थी। बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ त्रिपिटकों की रचना भी पालि भाषा में की गयी।

पालि साहित्य के माध्यम से समृद्ध बौद्ध धर्म सनातन धर्मावलम्बियों के लिए विचारणीय विषय बन गया। फलस्वरूप वैदिक विचारधारा के आचार्यों ने बौद्ध विचारधारा का खण्डन प्रारम्भ कर दिया।

अत: बौद्ध आचार्यों ने संस्कृत भाषा में उत्तर देने की आवश्यकता का अनुभव किया तथा लेखन-कार्य प्रारम्भ करके स्वमत को स्थापित किया। इन आचार्यों ने बौद्ध-धर्म दर्शन के विविध सम्प्रदायों के प्रतिनिधि ग्रन्थों का प्रणयन किया। इस प्रकार इन ग्रन्थों के प्रणयन के फलस्वरूप बौद्ध धर्म-दर्शन अबौद्ध लोगों के बीच प्रतिष्ठित हो गया।

वैदिकों और बौद्धों के खण्डन-मण्डन के फलस्वरूप दोनों ही परम्पराओं के भाषा-साहित्य का विकास हुआ तथा संस्कृत भाषा दोनों परम्पराओं के लिए सामान्य बात बन गयी। अब यहाँ ध्यातव्य है कि बौद्ध आचार्यों ने सर्वप्रथम पालि भाषा में ग्रन्थों की रचना की परन्तु परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार उन्होंने ऐसी भाषा में लेखन-कार्य प्रारम्भ किया जिस पर पालि भाषा का प्रभाव भी पड़ा और संस्कृत का प्रभाव भी पड़ा जिसके फलस्वरूप उसे मिश्र संस्कृत[१] नाम दिया गया।

मिश्र संस्कृत की रचनाएँ गद्यपद्यमयी हैं। इसमें गद्यभाग प्राय: संस्कृत एवं पद्यभाग (गाथाएँ) मध्य भारतीय आर्यभाषओं में रचित हैं। गद्य भाग भी पूर्णरूपेण शुद्ध संस्कृत भाषा में नहीं है। यह मध्य भारतीय आर्य भाषाओं की विशेषताओं से युक्त संस्कृत है।

मिश्र संस्कृत में विरचित ग्रन्थों में 'अवदानशतक, दिव्यावदान' बौद्ध साहित्य का धर्मग्रन्थ 'ललितविस्तर', 'सुवर्णप्रभाससूत्र' 'सद्धर्मपुण्डरीक' आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं।

कालान्तर में पालि ग्रन्थों में वर्णित बुद्ध के वचनों और उनके सिद्धान्तों का नैयायिकों ने अपने संस्कृत ग्रन्थों में खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया।[२] बौद्ध आचार्यों को भी यह अनुभव हुआ कि उन्हें संस्कृत भाषा में लिखे हुए दार्शनिक ग्रन्थों का खण्डन करते हुए स्वमत का मण्डन करना चाहिए। अत: उन्होंने लोक-भाषा को त्यागकर संस्कृत भाषा को अपनाया।

जिन बौद्ध आचार्यों ने संस्कृत भाषा के माध्यम से बौद्ध संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया यहाँ उनका विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। इनमें आर्यशूर, नागार्जुन, वसुबन्धु धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्य प्रमुख हैं। इन बौद्ध आचार्यों ने काव्य, चम्पू, नाटक तथा विविध दर्शन ग्रन्थों का विविध विधाओं में प्रणयन किया।

'अश्वघोष' (प्रथम शताब्दी) ने संस्कृत भाषा के माध्यम से प्रथम काव्य 'बुद्धचरितम्' की रचना की। इसमें बुद्ध के उपदेशों, जीवन तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इनके द्वारा विरचित अन्य ग्रन्थों में 'वज्रसूची' तथा 'सौन्दरनन्दम्' सम्मिलित हैं।

बौद्ध संस्कृत साहित्य में अश्वघोष का वही महत्त्व है जो 'शेक्सपीयर' की नाट्य प्रतिभा के अध्ययन के लिए 'मार्लो' के नाटक 'कर्तृत्व' का[३]।

अश्वघोष के पश्चात् आर्यशूर (३५०-४०० ईसवी) ने संस्कृत भाषा में ३४ जातकों में निबद्ध जातकमाला[४] का प्रणयन किया। चम्पू शैली में विरचित इस काव्य में 'आर्यशूर' ने सर्वप्रथम पाणिनीय व्याकरण सम्मत शुद्ध संस्कृत में बुद्ध के उपदेशों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।[५] यह संस्कृत कथा साहित्य के विकास के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[६]

'नागानन्द' जैसे नाट्य ग्रन्थ भी बौद्ध-संस्कृत साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है।

संस्कृत भाषा में बौद्धाचार्यों ने तत्त्वमीमांसा पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिसमें 'नागार्जुन' विरचित शून्यवाद के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'माध्यमिक कारिका' का

विशिष्ट स्थान है। इसके अतिरिक्त नागार्जुन ने 'विग्रहव्यावर्तनी' 'सुहल्लेख', चतु:शतक' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

इसी क्रम में 'मैत्रेयनाथ' ने सात परिच्छेदों में (निबद्ध महायान सूत्रालङ्कार', मध्यान्त विभङ्ग या मध्यान्त विभाग, अभिसमयालङ्कार आदि ग्रन्थों की रचना करके बौद्ध संस्कृत साहित्य को विशिष्ट योगदान दिया है।

महायान[७] सम्प्रदाय के विश्रुत आचार्य 'वसुबन्धु ने 'विज्ञाप्तिमात्रतासिद्धि' का प्रणयन करके विज्ञानवाद को विशिष्ट उपलब्धि प्रदान किया है।

तत्त्वमीमांसा के उपरान्त प्रमाणमीमांसा के पितामह कहे जाने वाले आचार्य 'दिङ्नाग' ने संस्कृत भाषा में 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया।

आचार्य 'धर्मकीर्ति' द्वारा प्रणीत न्यायपरक ग्रन्थ 'हेतुबिन्दु' तथा वादविषयक ग्रन्थ 'वादन्याय' बौद्ध संस्कृत साहित्य की एक अन्य उपलब्धि है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बौद्ध आचार्यों ने इन विशिष्ट संस्कृत ग्रन्थों का प्रणयन करके बौद्ध संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। जहाँ तक बौद्ध संस्कृत साहित्य के वैशिष्ट्य की बात है, वहाँ बौद्ध साहित्यकारों ने पालि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इस आवश्यकता का अनुभव किया कि संस्कृत को स्वीकार किये बिना अभिजात्य वर्गो व विशेषज्ञों के समझ अपने विचारों को नहीं रख सकते।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अनेकानेक देशों में अपनी छवि बिखेरते हुए यह साहित्य विविध भाषाओं के साथ प्रदेशीय भाषाओं में लिपिबद्ध किया गया। साथ ही उनकी सभ्यता और संस्कृति को भी प्रभावित किया।

सम्पूर्ण बौद्ध संस्कृत साहित्य और इनके साथ विकसित स्थापत्य, चित्र और मूर्तिकलाओं की अद्भुत कृतियाँ केवल भारत और बौद्ध धर्म की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व की ऐतिहासिक एवं बहुमूल्य धरोहर हैं।

आज के इस वैज्ञानिक और आर्थिक युग में यदि मनुष्य को श्रेष्ठ बुद्धि, कल्याणकारी और करूणापूर्ण व्यवहार जैसे मूल्यों की आवश्यकता है तो बौद्ध संस्कृत साहित्य आज भी प्रासङ्गिक है। यह मानवता की प्रज्ञा और शील के विकास का इतिहास अपनी विशिष्ट शैली में प्रस्तुत करता है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में वह शक्ति है जो सम्पूर्ण मानवता को मैत्री, करूणा, अहिंसा शान्ति, समृद्धि और विकास की

ओर अग्रसर होने का सम्बल प्रदान कर सकती है। उपर्युक्त संक्षिप्त सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है कि बौद्ध संस्कृत साहित्य एक ओर पालि साहित्य से विलक्षण है तो दूसरी ओर परम्परागत वैदिक संस्कृत से भी भिन्न है। इस बौद्ध संस्कृत साहित्य में पालि साहित्य और संस्कृत साहित्य दोनों से कुछ समानताएँ हैं, कुछ असमानताएँ हैं। पालि साहित्य में बौद्ध धर्म का विषय प्रमुख है और दर्शन गौण, किन्तु संस्कृत आचार्यों ने धर्म को गौण रखते हुए दर्शन और तन्त्र को प्रमुखता दी। वैदिक साहित्य पर आधारित दार्शनिक ग्रन्थों में दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन की जो शैली प्राप्त होती है उसका बौद्ध दार्शनिकों ने अनुकरण किया और उन्हें पूर्वपक्ष बनाकर उन्हीं की शैली में उनका खण्डन किया। इसी के परिणाम स्वरूप भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रखर और आधारभूत तर्कवितर्कों का प्रादुर्भाव हुआ। अश्वघोष और आर्यशूर के ग्रन्थ बौद्ध संस्कृत की रचनायें होते हुए भी संस्कृत साहित्य के रत्न माने गये। दर्शन के क्षेत्र में बौद्ध आचार्यों ने गद्य, पद्य, सूत्र, भाष्य, वार्तिक, प्रकरण, टीका, प्रटीका आदि का उसी प्रकार समावेश किया जैसा वैदिक दर्शन के साहित्य में मिलता है। वसुबन्धु का 'अभिधर्मकोश' सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक साहित्य का ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है जो एक ओर दार्शनिक सिद्धान्तों का सूत्र-भाष्य शैली में प्रतिपादन करता है तो दूसरी ओर कोशों की परम्परा में एक नई विद्या को जन्म दिया। ऐसी ही अनेकानेक विशेषताओं के कारण बौद्ध संस्कृत साहित्य भारतीय इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है।

*

सन्दर्भ-सूची

१. मिश्र संस्कृत एवं मध्य भारतीय आर्य भाषाओं का सम्मिश्रण है। प्रो० एटर्जन ने इसे बौद्ध संकर संस्कृत (Buddhist Hybrid sanskrit) का नाम दिया है। इनके अनुसार यह भाषा प्राचीन मध्य प्रदेश की बोलचाल की कोई भाषा थी या उस पर आश्रित थी। कुछ विद्वान् इसे गाथा संस्कृत, बौद्ध संस्कृत, मिश्र संस्कृत आदि नामों से अभिहित करते हैं। काल की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। आचार्य नरेन्द्र देव ने इसे ईसापूर्व की भाषा कहा है। चीनी भाषा-विशेषज्ञों के अनुसार यह ईसा की द्वितीय शताब्दी की भाषा है। पाश्चात्य विद्वान् 'कीथ' भी इसी मत से सहमत हैं।

ज्योति कुमारी, बौद्ध स्तुति एवं स्तोत्र : सानुवाद अध्ययन
अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, २००२

२. द्रष्टव्य : शास्त्री, दयाशङ्कर, उद्योतकर का न्यायवार्तिक : एक अध्ययन

३. द्रष्टव्य, वही पृष्ठ ७०

४. जातक कथाओं का सन्देश है कि मनुष्य को मिथ्या दृष्टि का परित्याग करके सम्यग् दृष्टि का आश्रय लेना चाहिए। यह सम्यक् दृष्टि सद्धर्म को सुनने से विकसित हो सकती है इसी के फलस्वरूप इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। सबको सुखी बनाये बिना कोई अकेला अपने सुख का पूर्णत: उपयोग नहीं कर सकता है।

व्यास, सूर्य प्रकाश, जातक माला, पृष्ठ २२

५. व्यास, सूर्य प्रकाश, बौद्ध सुभाषित, पृष्ठ १२

६. द्रष्टव्य : वही पृष्ठ २३

७. १. अश्वघोष के दार्शनिक ज्ञान की परिचायक पुस्तकों में 'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र' एक महनीय रचना है और यह महायान के अभ्युदय का आधार भी है।

द्विवेदी, रामायण प्रसाद, वज्रसूची आमुख, पृष्ठ २०

८. २. महायान की एक विशेषता बुद्धवाद की स्थापना भी है। हीनयान में यह मान्यता थी कि एक काल में एक साथ दो बुद्ध नहीं हो सकते लेकिन महायान की परम्परा में एक साथ अनेक बुद्ध हो सकते हैं यद्यपि वे एक ही लोक में नहीं हो सकते।

देव, नरेन्द्र, बौद्ध धर्म दर्शन, पृष्ठ-१०४-५
लाल, यमुना, भारत और विदेशों में बौद्ध धर्म प्रसारक, पृष्ठ-८२

*

मध्यान्तविभागशास्त्र में लोकोपकार के तत्त्व

डॉ० अनामिका सिंह
जैन-बौद्ध दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

१. लोकोपकार का स्वरूप—

सृष्टि और दृष्टि के सम्बन्ध का इतिहास अनादि है। सृष्टि के निर्माण के साथ प्रादुर्भूत अनेकानेक दृष्टियों में से दो प्रमुख दृष्टियाँ रही हैं—उपकार और अपकार की। मानव-समाज के निर्माण के साथ ही ये दोनों दृष्टियाँ व्यवहार के रूप में समाज में प्रचलित रही हैं। समाज में घटने वाली घटनाओं का उपकार अथवा अपकार के रूप में मूल्याङ्कन करना नीतिशास्त्र का क्षेत्र है। किन्तु विषय जब व्यक्ति विशेष अथवा घटना विशेष की परिधि लांघकर 'सामूहिक कल्याण' अथवा 'लोकोपकार' की सीमा में प्रवेश करता है तब ये ही प्रवृत्तियाँ, विषयगत अथवा विषयीगत उपाधि धारण कर विवादास्पद अवधारणा का रूप ले लेती हैं। जीवन के छोटे-छोटे प्रसङ्गों पर परस्पर विरोधी मत रखने वाले कभी एकमत हो सकते हैं। किन्तु धर्म, दर्शन और इतिहास जैसे गम्भीर विषयों और उनसे जुड़ी समस्याओं पर लिङ्ग, जाति, मजहब, सम्प्रदाय से निरपेक्ष व तटस्थ रहकर, सर्वसम्मति से लोकोपकार की एक नई परिभाषा व उसका स्वरूप निर्धारित करना निश्चय ही एक दुष्कर कार्य है।

बौद्ध विचारधारा इस दुष्कर कार्य का सरल क्रियान्वयन किस रीति-नीति से करती है, उसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि लोकोपकार के रूप में किन नए मानकों को स्थापित करती है आदि प्रश्नों पर विचार करना भी प्रासङ्गिक है।

२. बौद्ध मत और लोकोपकार—

बौद्ध मत में लोकोपकार का स्वरूप परम्परा से कुछ हटकर है—वर्ण, जाति, लिङ्ग देशकाल की सीमा से निरपेक्ष रहकर प्राणिमात्र के अस्तित्व की रक्षा, उसके सुख, कल्याण व उसकी शान्ति की मङ्गलकामना[१] करना ही इस विचाराधारा का सर्वोच्च जीवनमूल्य है। यह मत इस मूल्य की व्यवहाररूप में परिणति के लिए

जीवन और जगत् के प्रति मिथ्यादृष्टि के त्याग को तथा सम्यक् दृष्टि[२] के रूप में निर्वाण[३] की उपयागिता के महत्त्व को रेखांकित करता है। यहाँ निर्वाण के अभ्यास को सद्धर्म[४] की संज्ञा दी गई है। इस धर्म का अनुयायी केवल व्यक्तिगत लाभ से सन्तुष्ट होकर निष्क्रिय नहीं हो जाता। अपितु **'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय'** की नीति का अनुसरण करते हुए, उसकी सक्रियता इस सद्धर्म को वैश्विक स्तर पर उतारने के लिए आजीवन गम्भीरता से प्रयास भी करता है। लोकोपकार के इस उच्चतम स्वरूप को स्वेच्छा से दायित्व के रूप में ग्रहण करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता स्वयं बुद्ध-वचनों में निहित है, जिसमें उन्होंने कहा था—

''परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचः न तु गौरवात्''

इसी उदारवादी चिन्तन का यह परिणाम है कि इस विचारधारा ने राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर लोकोपकार के न केवल उच्चतम मानक ही स्थापित किए बल्कि विगत ढाई हजार वर्षों से आज तक इन मानकों ने अपना वर्चस्व सुरक्षित भी रखा है।

३. बौद्ध मत के लोकोपकारक साहित्य में मध्यान्तविभागशास्त्र[५]

उपकार के इस उच्चतम आदर्श को व्यवहार की भूमि पर उतारने वाला उपकारक कहा जाता है। बौद्ध विचारधारा में उपकारक का सर्वोच्च आदर्शात्मक स्वरूप बोधिसत्त्व[६] के रूप में साकार होता है। बोधिसत्त्व की चर्या जिसे बौद्ध साहित्य में बोधिचर्या[७] के नाम से जाना जाता है, उपकार का सर्वोच्च उदाहरण है। उपकारक के रूप में बोधिसत्त्व और उपकार के रूप में उसकी बोधिचर्या, इन दोनों के स्वरूप की सुन्दरतम व्याख्या मध्यान्तविभागशास्त्र करता है। इसमें न केवल बोधिसत्त्व के आन्तरिक व बाह्य व्यक्तित्व के लक्षणों और उसकी प्रक्रिया का गुणगान ही किया गया है अपितु जिज्ञासुओं को बोधिसत्त्व बनने की योग्यता के मानदण्ड बताकर उसके निर्माण की विधि भी बताई गई हैं। इसलिए मध्यान्तविभागशास्त्र के बिना बौद्ध मत में लोकोपकार का स्वरूप समझना असम्भव है।

४. मध्यान्तविभागशास्त्र की लोकोपकारक दृष्टि

मध्यान्तविभागशास्त्र तत्त्वचिन्तन के विकास का एक क्रम मानता है तथा उसकी चरम परिणति के रूप में 'बोधिसत्त्व' की उपस्थापना करता है। इसके अनुसार बोधिसत्त्व के जीवन का सर्वोच्च मन्त्र है—

पुण्यञ्च यत् पुण्यफलञ्च साधो। सर्वं परार्थं तव नात्महेतोः।[८]

इस बोधिसत्त्व का आदर्श वही है जो गीता के इन शब्दों में कहा गया है—

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

बौद्ध मत की महायानी[९] विचारधारा यह जानती है कि जीवन की छोटी-छोटी आवश्यकताओं की पूर्ति करने से दुःखों का अन्त नहीं होगा और न ही इससे स्थायी कल्याण सम्भव है। उसकी दृष्टि में तो स्थायीरूप से कल्याण का एक ही समाधान है—वह है निर्वाण। क्लेशों का सम्पूर्ण प्रहाण निर्वाण से ही सम्भव है। इसलिए बोधिसत्त्व यह संकल्प लेता है कि वह तब तक परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं करेगा, जबतक विश्व के सभी प्राणी 'निर्वाण' प्राप्त नहीं कर लेते।[१०] ऐसे बोधिसत्त्व को तैयार करना मध्यान्तविभागशास्त्र का लक्ष्य है।

मध्यान्तविभागशास्त्र ने बोधिसत्त्व के परमपद की प्राप्ति के लिए साधारण धर्मों के अतिरिक्त चित्त की भूमियों और पारमिताओं[११] के अभ्यास को आवश्यक बताया है। ग्रन्थ में मध्यमाप्रतिपत्[१२] को बोधिसत्त्व की जीवनशैली का अपरिहार्य अङ्ग बताते हुए यह आग्रह किया गया है कि लोकोपकार के पथ पर अग्रसर होने वाले पथिक की दृष्टि से मध्यमाप्रतिपत् की होनी चाहिए। क्योंकि प्रज्ञा[१३] और शील[१४] बोधिचर्या के अनिवार्य पक्ष हैं। मध्यमाप्रतिपत् का ज्ञान, प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व करता है तथा प्रज्ञानुसारी शील निर्वाण की भूमिका तैयार करता है।

सन्देश यही है कि जीवन, प्रक्रिया और प्रयोजन दो अन्तों में से कभी एक ओर कभी दूसरी ओर झुक जाता है जबकि यह झुकाव जीवन का सन्तुलन बिगाड़ देता है। अतः लोकोपकार को सर्वोपरि मानते हुए, इन अतियों[१५] से सावधान होकर सम्यक् दृष्टि का अनुसरण करना चाहिए। यद्यपि ग्रन्थ में यह बात बोधिसत्त्व के सन्दर्भ में कही गई है किन्तु यह मार्ग सामान्य व्यक्ति, परिवार, समाज अथवा राष्ट्र के सभी के लिए समान रूप से कल्याणकारी है, आवश्यकता केवल इसके सही स्वरूप को समझकर क्रियान्वित करने की है।

५. बौद्ध एवं अन्य मतों से तुलनात्मक विवेचन एवं निष्कर्ष

मध्यान्तविभागशास्त्र महायान का ग्रन्थ है और बौद्ध साहित्य में महायान एक चरम विचारधारा है। यह विचारधारा लोकोपकार के सर्वोच्च आदर्श के रूप में

'बोधिसत्त्व' की स्थापना करती है। बोधिसत्त्व के चरित्र में लोककल्याण की भावना का उत्कर्ष है। लोकोपकार की दृष्टि से बोधिसत्त्व के रूप में यहाँ परमार्थ और व्यवहार का अथवा ज्ञान और क्रिया का सुष्ठु सामंजस्य दिखाई देता है। जबकि वैदिक विचारधारा में लोकोपकार की अद्वैतवादी दृष्टि बहुत स्पष्ट होते हुए भी सैद्धान्तिक पक्ष-विपक्ष के मन्थन तक ही सिमट कर रह जाती है। जिज्ञासुओं के लिए, व्यावहारिक चर्या की दृष्टि से 'बोधिसत्त्व' की तरह यहाँ इनके पास अपना कोई अनुकरणीय उदाहरण नहीं है।

उक्त पृष्ठभूमि में वैष्णव धर्म भी—"वैष्णवजन तो तेने कहिए, पीर पराई जानी रे; अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्" आदि वचनों की सिद्धान्तरूप में चर्चा तो करता है। किन्तु लोकोपकार के इन आदर्शों को मूर्त रूप देने वाले उदाहरणों का यहां भी प्रायः अभाव सा ही है।

महायान अथवा मध्यान्तविभागशास्त्र की यह विशेषता है कि इसने लोकोपकार के इन अमूर्त आदर्शों को बोधिसत्त्व के रूप में मूर्तरूप दिया जैसे—बुद्ध महाकरुणा के, युधिष्ठिर धर्म के, राम मर्यादा के और शिव कल्याण के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप साधारण समाज को अपने लौकिक जीवन में लोककल्याण की प्रेरणा और प्रोत्साहन सहजरूप में प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्षतः, मध्यान्तविभागशास्त्र इस बात की पुष्टि करता है कि बौद्ध मत लोकचिन्ता से प्रादुर्भूत हुआ हैं और लोकभाषा में ही समस्या के समाधान को प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ इस बात को भी पुनः रेखांकित करता है कि उदार लोकोपकार के लिए वर्ण, जाति आदि सीमाएँ अनावश्यक है। बुद्ध उदारमना मानव हैं किन्तु विभिन्न देशकाल, परिस्थिति और प्राणियों के अनुसार उन्हीं का अभ्यासीरूप बोधिसत्त्व है जिसमें लोकहित के लघु आचरणों की महानता के दर्शन होते हैं। इसलिए लोक का आकर्षण बोधिसत्त्व के प्रति विशेष उपयोगी है और संभवतया इसीलिए बोधिसत्त्व को अपना केन्द्रीय प्रतिपाद्य बनाया है मध्यान्तविभागशास्त्र ने। अतः बौद्ध विचारधारा के अनुसार लोकोपकार का चिन्तन बिना मध्यान्तविभागशास्त्र के अपूर्ण है।

*

सन्दर्भ-सूची

१. (अ) सर्वे च सत्त्वा: सुखिनो भवन्तु। सुवर्णप्रभाससूत्र, ४.८

(ब) मा दुःखशब्दा: क्वचि लोकि भोन्तु मा चैकसत्त्व: प्रतिकूलदर्शी ।
सर्वे च ते भोन्तु उदारवर्णा: प्रभंकरा भोन्तु परस्परेण ।। वही, ४.८५

२. आत्मास्तीति मतं तात मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते।
नास्तीति मतं सौम्य सम्यग्दृष्टिं विदुर्बुधा:।। बुद्धचरितम्, १६.७६

३. (अ) तण्हाय विप्पहानेन, निब्बानं इति वुच्चति। सुत्तनिपात, ५.१४.५

(ब) तितिक्षा निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धा:। धम्मपद, १८४

(स) निर्वाणं परमं सुखम्। वही, २०३, २०४

४. (अ) दीघो बालानं संसारो, सद्धम्म अविजानतं । वही (पालि), ६०

(ब) किच्छं सद्धम्मस्सवनं । वही, १८२

(स) मन आधाय सद्धर्मे साधुसङ्गं समाचर।
जन्मन्यस्मिस्तथा साध्यं यथा स्यात्परमं पदम्।। बुद्धचरतिम्, २०.२४

५. मध्यान्तविभागशास्त्र का मूल सिद्धान्त और भाव मैत्रेय की देन है जिसे असंग ने साक्षात् ग्रहण करके प्रसारित किया और अनुज और शिष्य वसुबन्धु ने भाष्य के माध्यम से उसके गूढ़ार्थ की व्याख्या की। वसुबन्धु के भाष्य को और अधिक बोधगम्य बनाने की दृष्टि से स्थिरमति ने ग्रन्थ विशेष पर आगमानुसारिणी टीका लिखी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों और १११ कारिकाओं में निबद्ध है।

६. (अ) नायं रत्न: सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गे नापवर्गे न कीर्तिम्।
त्रातुं लोकानित्यं त्वादरो मे ....।। जातकमाला, सम्पा. व्यास, सूर्यप्रकाश, २/२८

(ब) नायं प्रयत्न: सुगतिं ममाप्तुं
नैकातपत्रां मनुजेन्द्रलक्ष्मीम् ।
सुखप्रकर्षैकरसां न च द्यां ,, ,, वही, ३०.२

७. महावस्तु १/२ तथा १/४६ में चर्या को चार भागों में विभक्त किया गया है—१. प्रकृतिचर्या २. प्रणिधानचर्या ३. अनुलोमचर्या ४. अनिवर्तनचर्या।

८. मध्यान्तविभागशास्त्र, पञ्चम परिच्छेद (यानानुत्तर्य)

९. महायान बौद्ध मत की ही एक ऐसी परवर्ती विचारधारा है जो श्रावकयान प्रत्येक बुद्धयान अथवा हीनयान के साथ मतभेद से अस्तित्व में आई। इस विचारधारा में बोधिसत्त्व की अवधारणा का प्राधान्य है इस बोधिसत्त्व को श्रावक प्रत्येक बुद्ध की अपेक्षा श्रेष्ठतर माना गया। इसलिए यह यान बोधिसत्त्वयान कहा गया और हीनयान से श्रेष्ठतर बताने के लिए इसे महायान कहा गया।

१०. ...... बोधिसत्त्वानां महाकरुणा यत्पूर्वतरं सत्त्वानां बोधिमिच्छन्ति नात्मन इति। धर्मसंगीत सूत्र, (उद्धृत) शिक्षासमुच्चय, पृष्ठ ८१

११. दानं शीलमथ क्षान्तिवीर्यं ध्यानं तथा भवान् ।
प्रज्ञापारमितां वीक्ष्य जिनवल्लोकमुत्तरेत् ।। सुहृल्लेख, १५

१२. मध्यान्तविभागशास्त्र का नाम इस ग्रन्थ के केन्द्रीय सिद्धान्त मध्यान्तविभाग को प्रमुखता देता है। इसका एक पर्याय मध्यमाप्रतिपत् है जिसे रत्नकूट नामक ग्रन्थ में मध्यमाप्रतिपत् अन्तद्वयवर्जने

प्रतिपत्तिः—इयमेव रत्नकूटे मध्यमा प्रतिपदिति उपदिष्टा । मध्यान्त विभागटीका में कहा गया है। मध्यान्त विभागशास्त्र इसी अवधारणा के लिए 'अन्तद्वयवर्जन' (प्रतिपत्ति) शब्द का प्रयोग करता है और आठ प्रकार के ऐसे अन्तद्वयों का उल्लेख करता है।

१३. (अ) सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम् ।
साधिका जनयित्री च माता त्वमासि वत्सला ।। प्रज्ञापारमितासूत्र, १६
(ब) बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता ।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ।। वही, १७

१४. शीलमेव परं ज्ञानं शीलमेव परं तपः ।
शीलमेव परो धर्मः शीलान्मोक्षश्च नैष्ठिकः ।।
बुद्धचरितम्, २६.३४

१५. मध्यान्तविभागशास्त्र में अतियों के दो दृष्टियों से क्रमशः ८ और ७ = १५ प्रकार बताए गए हैं। ये वस्तुतः दो-दो अन्तों का समूह है—१६ + १४ = ३०

✱

वैश्विक सामाजिक परिवर्तन में बौद्ध दर्शन की भूमिका

डॉ० शिव कुमार चौबे

अंशकालिक प्राध्यापक-बौद्ध दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध धर्म का आविर्भाव वस्तुत: वैश्विक अभ्युदय के लिए अज्ञात शक्ति के द्वारा प्रेरित था। बुद्ध के प्रादुर्भाव के पूर्व से भारत एवं विश्व के अन्यान्य क्षेत्रों में सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का प्राकट्य हो चुका था। भारत में वैदिक एवं वेदान्त कालीन सभ्यताएं अपने चरम उत्कर्ष पर थीं। वैदिक और वेदान्त के वाङ्मय में ऐसे वर्णन प्राप्त होते हैं कि तत्कालीन समाज में प्रकृति, जगत, जीव और ईश्वर के बारे में जिज्ञाषायें पराकाष्ठा पर थीं। ऋग्वेद में प्रकृति के शक्तियों का वर्णन अत्यन्त जीवन्तता के साथ किया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद और सामवेद में समाज मनुष्य और परमेश्वर के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। यज्ञ के द्वारा सामाजिक संगठन राजनीतिक शक्ति तथा देवी देवताओं और परमेश्वर के प्रति ऋण चुकता करने की मानवीय विधि बनाई गयी थी। प्राचीन काल में यज्ञों के द्वारा संग्रह और वितरण की प्रक्रियायें प्रारम्भ हुई। यह माना गया कि यज्ञ के द्वारा सुख और शांति की प्राप्ति होती है। इस क्रम में बलिदान की प्रथा भी यज्ञों के साथ अनिवार्य रूप से जुटी थी। हजारों और लाखों जानवरों की बलि होती थी। ऐसी स्थिति तत्कालीन भारत में व्याप्त थी।

भारत के बाहर का विवरण ईसा से सत्रह सौ वर्ष पूर्व का प्राप्त होता है। ओल्डटेस्टामेंट में यह वर्णन है कि यहुदियों के पैगम्बर हजरत मूसा ने अपने अनुयायियों को देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं के बलिदान को धार्मिक दृष्टि से निश्चित किया। बहुत बड़ी संख्या में जानवरो की बलि होती थी। आज भी भारत के बाहर पशुओं के बलि की प्रथा प्रचलित है।

उपर्युक्त परिस्थितियों के साथ-साथ समाज के अन्दर समानता का भाव था। सामाजिक भेद भाव थे। अधिकांश लोगो के लिए ध्यान धारणा व धार्मिक क्रियायें वर्जित थीं। उनके लिए स्वर्ग के द्वार बन्द थे। उल्लेख है कि तत्कालीन भारत व तत्कालीन विश्व में जनसंख्या कम थी और भू क्षेत्र जैसा आज है वैसा उस समय था।

प्रकृति सम्पन्न थी। वृक्षों, वनों और पशुओं से देश भरे पूरे थे। पशु सम्पदा, वन सम्पदा, जल सम्पदा, शुद्ध वायु इन तमाम चीजों की सामाजिक स्तर पर कमी नहीं थी। लेकिन समाज में ऊँच, नीच स्वामी गुलाम और लौकिक पारलौकिक विभेद थे। गरिबी जैसी समस्याएं नहीं थीं। लेकिन लड़ाई झगड़े जबर्दस्ती राज्यों पर कब्जा करना और शक्ति के बल पर अत्याचार करना उन दिनों के समाज में आम बात थी। डाकुओं और आताताईयों के उपद्रव भी थे। इसी कारण बुद्ध के जीवन में अंगुलिमाल नामक आतंकवादी का विशेष उल्लेख है। ऐसी परिस्थितियों में बुद्ध का जन्म जामुन वृक्ष के नीचे हुआ। बुद्ध के पिता राजा शुद्धोधन ने ज्योतिषियों से विचार विमर्श किया। काफी विचार विमर्श के बाद ज्योतिषियों ने घोषणा किया कि बालक का भविष्य वैश्विक है। लेकिन वैश्विक व्यापकता में दो प्रकार की परिस्थितियाँ हैं। यदि बालक राजकाज में लगा रहेगा तो चक्रवर्ती सम्राट होगा। यदि राज पाठ में नहीं लगा रहेगा तो लौकिक जीवन में संलग्न नहीं रहेगा तो विश्व स्तर का धर्म प्रचारक होगा। ज्योतिषियों की भविष्यवाणी कालान्तर में सत्य साबित हुई। ज्योतिषियों की भविष्यवाणी को ध्यान रखकर सिद्धार्थ गौतम का रहन-सहन इस प्रकार नियन्त्रित कर दिया कि सिद्धार्थ गौतम संसार के दु:खों को देख न सकें। उनके राजमहल के अन्दर आमोद प्रमोद तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यों की व्यवस्था कर दी गयी। उनकी शादी भी कर दी गयी और ऐसा प्रबंध किया गया कि वे उस अवधि को पार हो जाय। जिस अवधि में ज्योतिषियों ने घोषणा की थी। संयोगवश सिद्धार्थ गौतम ने अपने राजमहल से देखा कि एक वृद्ध व्यक्ति छड़ी के सहारे सड़क पर जा रहा है। कुछ दिनों के बाद उन्होंने मृतक को देखा। इसके बाद उन्होंने एक दु:खी रोगी को देखा। उनके मन में इन तमाम दृष्टियों को देखकर अवशाद व वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपने सारथी से पूछा कि ऐसा क्यों है? तो उसने बतलाया कि ये सभी चीजें अनिवार्य हैं। हम सभी लोग इन परिस्थितियों से गुजरेंगे। इस उत्तर का सिद्धार्थ गौतम के मन पर प्रभाव पड़ा। इस अवधि में उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हो चुका था ऐसी स्थिति में वे उन्तीस वर्ष की अवस्था पार कर ली थी। सांसारिक दु:खों को अनिवार्य समझ उनके चित्त में भयंकर तुफान उठा और क्षोभ से भर गये। उन्होंने संसार के रहस्य को सत्य रूप में जानने का निश्चय किया। रात्रि में वे अपने पत्नी और बच्चे को छोड़कर सत्य की खोज के लिए वे जंगल की तरफ निकल पड़े। कई स्थानों पर घूमते फिरते तथा महात्माओं से सत्संग करते हुए वे बिहार के बोधगया नामक स्थान पर पहुँचे। उस स्थान पर कठिन तपस्या करते करते उनका शरीर सुखकर मात्र हड्डियों का ढाचा रह गया। इसी बीच किसी अदृश्य शक्ति से प्रेरित होकर पास के गाँव की रहने वाली सुजाता नाम की एक महिला ने उन्हें एक थार में खीर खाने को प्रस्तुत किया। खीर

खाने के बाद और नदी का स्वच्छ जल पीने के पश्चात् उन्होंने ध्यान योग में आसन लगाया। उस रात्रि में उन्हें चार आर्य सत्य दिखलाई दिये—१. संसार में दुःख है। २. दुःखों का समुदाय है। ३. दुःखों के कारण ४. और दुःखों के निवारण है। इन चार आर्य सत्यों को प्राप्त करने के पश्चात सिद्धार्थ गौतम को प्रतीत हुआ कि उन्हें बोधि सत्त्व की उपलब्धि हो गयी।

इसी दौरान उनको यह भी ज्ञात हुआ कि जीवन में सत्य के प्राप्ति के लिए किसी भी अति की आवश्यकता नहीं है। अति तपस्या से जीवन समाप्त हो जाता है और सत्य दुर्लभ हो जाता है। इसलिए जीवन में मध्यम मार्ग की आवश्यकता होती है। वे इस ज्ञान को लेकर वे बोधगया से सारनाथ आये। यहाँ पर उनके वे पाँच साथी थे जो उनके साथ तपस्या कर रहे थे। उन लोगों को ऐसा लगा कि सिद्धार्थ गौतम पथ भ्रष्ट हो गये हैं इसी कारण वे वाराणसी स्थित सारनाथ चले आये। सिद्धार्थ गौतम ने सारनाथ आकर उन पाँच व्यक्तियों को चार आर्य सत्य से अवगत कराया एवं धर्म चक्र का प्रवर्तन किया। धर्म चक्र प्रवर्तन के बाद इनका नाम गौतम बुद्ध हुआ।

गौतम बुद्ध के दार्शनिक विचार—अनित्य, दुःख, अनात्म के सूत्र के द्वारा बुद्ध ने अपने सम्पूर्ण दर्शन को प्रस्फुटित किया। बुद्ध के पहले नित्यतता की अवधारण समाज में प्रचलित थी। वैदिक दार्शनिक सनातन और नित्यता को स्वीकार करते है। लेकिन बुद्ध ने नित्यता को स्वीकार नहीं किया। उनकी मान्यता है कि नदी में स्नान करते समय गोता लगाने या डुबकी लगाने के बाद उस व्यक्ति के लिए वही नदी नहीं रहती है। बल्कि दूसरी नदी हो जाती है। यानि की एक प्रवाह के बाद दूसरा प्रवाह तुरन्त उत्पन्न हो जाती है। पूरे विश्व में कोई पदार्थ या कोई जीव नित्य धर्म नहीं है। बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि अनित्यता की पकड़ में है। इस प्रकार बुद्ध ने नित्यता को स्वीकार किया। उसी सन्दर्थ में बुद्ध ने दुःख-सत्य की व्याख्या की बुद्ध ने कहा जन्म भी दुःख, बुढ़ापा भी दुःख, मरण, शोक, रुदन व मन की खिन्नता और हैरानगी भी दुःख है। प्रिय से वियोग तथा अप्रिय से संयोग भी दुःख है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होना भी दुःख है। बुद्ध ने दुःख के हेतु को भी स्पष्ट किया। उन्होंने कहा दुःख की सृष्टि तृष्णा से होती है। तृष्णा और काम के लिए भी राजा भी राजाओं से लड़ते है, क्षत्रिय भी क्षत्रियों से, ब्राह्मण भी ब्राह्मणों से, वैश्य भी वैश्यों से, माता भी पुत्र से, पुत्र भी माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई-भाई से बहिन भाई से, भाई बहन से तथा मित्र मित्र से लड़ते है। वे आपस में हाथ व डंडा तथा शस्त्र से आक्रमण करते है। इन्हें मरण समान दुःख की प्राप्ति होती है। बुद्ध ने दुःख निरोध के बारे में बतलाया कि तृष्णा के नाश से दुःख की उत्पत्ति समाप्त हो जाती है।

बुद्ध ने आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं किया। वैदिक साहित्य में आत्मा को अजर अमर माना गया है। बुद्ध ने नित्यता को भी स्वीकार नहीं किया। इसलिए बौद्ध साहित्य में आत्मा के अस्तित्व के लिए स्थान नहीं है। ज्ञात है कि गौतम बुद्ध ने अज्ञात विषयों पर जोर न देते हुए ज्ञात संसार के बारे में आदर्श मनुष्यों को तैयार करने का प्रयास किया। उनके धर्म चक्र प्रवर्तन में उन सभी बातों का पूरा का पूरा ध्यान दिया गया जो बुद्ध के पहले के मनीषियों और अवतारी पुरुषों ने मानवता के उत्थान के लिए मनुष्यों में गुणात्मक परिवर्तन के लिए किया था। बौद्ध जगत में पूर्ववर्ती धर्मो के मुकाबले अन्तर यह रहा कि सभी मनुष्यों के लिए आध्यात्मिक उत्थान के द्वार जो पहले बन्द थे उन्हें गौतम बुद्ध ने खोल दिया। इसके साथ-साथ यज्ञों में मनुष्य व पशु बलि को रोक दिया। ये दोनों कार्य ऐतिहासिक महत्त्व से प्रमाणित हुए। इसके साथ ही साथ मानवीय गुणों के संवर्द्धन के लिए बुद्ध ने अष्टांग योग का प्रवर्तन किया। इस योग के अनुसार यह बतलाया गया है कि प्रत्येक मनुष्य की सोचने की प्रवृत्ति ठीक होनी चाहिए अर्थात विज्ञान सम्मत होनी चाहिए। उसी तरह मनुष्य को किसी दृश्य घटना या सम्वाद अथवा परिदृश्य को ठीक से देखना चाहिए। मनुष्य को ठीक से सुनना, ठीक से बोलना और ठीक से समझना चाहिए। उसे कर्म का निष्पादन ठीक से करना चाहिए। उल्लेखनीय है कि आधुनिक समय में प्रबन्ध शास्त्र की पढ़ाई अथवा मानव संसाधन विकास मंत्रालय के कार्य क्रम आज से छब्बीस सौ वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध के द्वारा प्रारम्भ किये जा चुके थे। उनका यह कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं का दीपक बनना चाहिए। उनके 'आत्मदीपो भव' का यही आशय था। उन्होंने व्यक्ति को गुरु, ग्रन्थ और अन्य प्रकार के बन्धनों से मुक्त किया। व्यक्ति की जो निज की सामर्थ्य है उस सामर्थ्य की मान्यता बुद्ध ने मनुष्यों को प्रदान की उन्होंने करुणा और अहिंसा के महत्व को स्थापित करते हुए व्यक्ति को हिंसा के प्रतिकार से विरत करने का प्रयत्न किया।

तत्कालीन समय में तीर्थंकर महावीर स्वामी का ही महत्व समाज में गौतम बुद्ध की तरह स्थापित हुआ था। तीर्थंकर महावीर स्वामी अपने विचारों के प्रचार के लिए स्वयं कोई कदम नहीं उठाया। लेकिन गौतम बुद्ध ने अपने विचारों के प्रचार के लिए सामूहिक व सामाजिक स्तर पर कार्य किया। जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर बुद्ध के जीवन काल में भारत के भीतर और बुद्ध के जीवन के बाद भारत के बाहर मैत्री व करुणा के संदेश दिक् दिगन्त में पंचशील के रुप में प्रचारित हुए। यह माना जाता है कि बुद्ध के संदेश कोलम्बस के खोज के पूर्व तक सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो चुकी थी। उसी कारण गौतम बुद्ध को तथा भारत को जगत गुरु के नाम से जाना जाता है।

*

सन्दर्भ-सूची :

१. ऋग वेद

२. यजुर्वेद

३. सामवेद

४. तैतरिय उपनिषद्

५. ओल्ड टेस्टामेंट

६. दर्शन दिग्दर्शन-महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन

७. दर्शन एवं चिन्तन

८. जैन लक्षणा बलि द्वितीय भाग

९. मनुस्मृति

१०. बृहदारण्यक उपनिषद्

११. छान्दोग्य उपनिषद्

१२. बौद्ध धर्मदर्शन- आचार्य नरेन्द्र देव

१३. पालि साहित्य का इतिहास- डॉ० भरत सिंह उपाध्याय

१४. बौद्ध दर्शन और मार्क्सवाद- प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी

१५. बौद्ध दर्शन प्रस्थान- प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

*

बदलते परिवेश में बौद्ध धर्म का योगदान

डॉ० शोभनाथ पाठक

अंश कालिक प्रवक्ता-इतिहास
हरिश्चन्द्र पी०जी० कालेज, वाराणसी

धर्म शब्द की उत्पत्ति धृ धातु से हुई है। इसका अर्थ होता है धारण करना। जिस पद्धति, प्रक्रिया व साधना के माध्यम से जीवन शक्ति को धारण किया जा सकता है वह धर्म से ज्ञात होता है। इसी कारण प्रारम्भ में सनातन धर्म था। विकास क्रम में वैदिक धर्म आया। वैदिक धर्म के सर्वोच्च युग में यज्ञ और कर्मकाण्ड की अधिकता हुई। यज्ञ और कर्मकाण्ड के कारण बलि प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। दिन-प्रतिदिन यज्ञों की संख्या में वृद्धि होती गयी और उसी वृद्धि के अनुपात में जानवरों की बलि चढ़ती गयी सर्वत्र बलि पशु यज्ञों के हवनकुण्ड में समाहित किए जा रहे थे। ऐसे कठिन दौर में महाकारुणिक गौतम बुद्ध का अवतरण हुआ। ज्ञात है कि आर्य संस्कृति के महान ग्रन्थ गीता में भी प्रतिपादित किया गया है कि धर्म की ग्लानि होने से जब अधर्म की वृद्धि होती है तब स्वयं परमेश्वर अवतार लेकर धर्म की रक्षा करते है। स्पष्ट है कि भयंकर बलि प्रथा के चलते हुए समाज की धारणा शक्ति क्षीण हो चुकी थी उस धारणा शक्ति को पुन: प्राप्त करने के लिए गौतम बुद्ध ने संसार को संदेश दिया। यद्यपि गौतम बुद्ध जीवन पर्यन्त हिन्दू धर्म के ही अंग रहे। उनके मृत्यु के उपरान्त उनके अनुयायियों ने बुद्ध के मार्ग पर चलने वालों को बौद्ध मतावलम्बी घोषित किया। यहाँ यह उल्लेख है कि गौतम बुद्ध ने अपनी तपस्या के फलस्वरूप चार आर्य सत्यों का दिग्दर्शन प्राप्त किया था। वे चार आर्य सत्य निम्नलिखित है— १. संसार में दु:ख है। २. दु:ख का समुदाय है। ३. दु:ख के कारण है। ४. दु:ख का निवारण है। इस प्रकार बुद्ध ने दु:ख के हेतु को अपनी तपस्या के द्वारा खोज निकाला तथा दु:ख के निवारण की विधियो को प्रतिपादित किया। यद्यपि दु:ख के आर्यसत्य को प्रतिपादित करने में बुद्ध ने एकांतिक रूप से जोर दिया क्योंकि उपनिषद् में तृणा व कामना को दु:ख का कारण माना गया है। बुद्ध ने भी तृष्णा व कामना को दु:ख का हेतु बतलाया है। लेकिन जिस प्रभावशाली ढंग से बुद्ध ने दु:ख रुपी विज्ञान का विश्लेषण किया वैसा विश्लेषण बुद्ध के पूर्व नहीं हुआ था। बुद्ध ने

दु:ख के मूल कारण को व्यक्ति के अन्दर ढूँढ निकाला था। उन्होंने समाज व राज्य को उतना जिम्मेदार नहीं माना था जितना कि व्यक्ति स्वयं अपने कारण से दु:ख प्राप्त करता है।

इस स्थापना के चलते हुए बुद्ध ने व्यक्ति निर्माण की परिकल्पना की। ज्ञात है कि वर्तमान समय व्यक्ति निर्माण के नाम पर मानव संसाधन की परिकल्पना को पूरा कर रहा है। वर्तमान समय में विश्व के सभी देशों में सरकारी स्तर पर मानव संसाधन विकास मंत्रालायों की स्थापना हुई। इन मंत्रालयों के द्वारा व्यक्ति में उन सभी क्षमताओं को स्थापित किया जा रहा है जिसके चलते हुए व्यक्ति विशेष के जीवन को पूर्णता प्राप्त हो। उस उपक्रम की पूर्ति हेतु विश्व के प्रगतिशील देशों में मानव संसाधन विकास मंत्रालय स्थापित किए गये हैं और संविधान के द्वारा समता और स्वतंत्रता को सुरक्षित किया गया है। साथ ही साथ शिक्षा के माध्यम से इन उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास किया जा रहा है। आज से २६०० वर्ष पूर्व बुद्ध ने मानवीय मूल्यों की अभिवृद्धि के लिए 'आत्मदीपो भव' का उद्घोष किया था। यह उद्घोष मानव संसाधन विकास का सर्वोच्च शिखर है।

समाज में शांति के लिए पारस्परिक करुणा अहिंसा, समन्वय, सहयोग व सहअस्तित्व की आवश्यकता होती है इसकी आवश्यकता जितनी उन दिनों समाज के लिए थी उससे अधिक आवश्यकता आज के समाज में उनके लिए है। वस्तुत: वैश्विक शांति, अहिंसा और करुणा के अभाव में सम्भव नहीं है इसी कारण गौतम बुद्ध ने अहिंसा और करुणा का सन्देश समाज को दिया। इसलिए उन्हें महान कारुणिक के रूप में याद किया जाता है। विभिन्न राष्ट्रो के बीच सह अस्तित्व और सहमति तथा शस्त्र प्रयोग त्याग के कारण वर्तमान समय युद्ध और आतंकवाद से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वर्तमान समय बौद्ध धर्म के अनुशीलन का समय है अनुशीलन के पश्चात् यदि तदनुसार आचरण किया जाय तो विश्व शांति वास्तव में प्राप्त की जा सकती है। अहिंसा, करुणा और शांति के चलते हुए विश्व के संसाधनों की बर्बादी बचायी जा सकती है क्योंकि विश्व के संसाधनों का ७० से ८० प्रतिशत भाग प्रतिरक्षा और युद्ध सम्बन्धी कार्यो पर व्यय होता है जिस कारण भू-मण्डल से गरीबी को हटाया नहीं जा सका। भूख, गरीबी और आतंकवाद की समाप्ति के लिए बौद्ध धर्म की सार्थकता स्वयं सिद्ध है। कहते है कि १९२७ में महात्मा गाँधी श्री लंका की यात्रा पर गये थे वहाँ पर एक बौद्ध मन्दिर में उन्होंने घोषणा किया कि मैं बौद्ध ही हूँ। स्पष्ट है कि महात्मा गाँधी ने सत्य, अहिंसा व सेवा के क्षेत्रों में उन सभी सिद्धान्तों को व्यवहार में उतारा जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन गौतम बुद्ध ने अपने

जीवन काल में किया था। बुद्ध और गांधी के सन्देश देश, काल सीमा से परे है, इसकी सार्थकता बनी रहेगी।

बौद्ध धर्म ने व्यक्ति से लेकर राज्य संगठन तक को प्रभावित किया क्योंकि बुद्ध की मान्यता थी कि दु:ख का हेतु मनुष्य स्वयं है समाज, संस्था तथा अन्य कारक दु:ख के कारक बाद में बनते हैं। इसलिए बुद्ध ने व्यक्ति को सम्यक् सोच, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् व्यवहार की शिक्षा प्रदान की। बुद्ध की शिक्षाओं में वैज्ञानिकता का भाव उपस्थित रहता है। ज्ञातव्य है कि विश्व का जो भी इतिहास है वह धर्म और विज्ञान की रेखा से बँटा हुआ है। प्रारम्भिक दिनों में प्रत्येक प्रश्न और प्रत्येक समस्या का उत्तर धर्म के आधार पर ढूँढ़ा जाता था। मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक स्थिति, व्याधिग्रस्तता व जीवन यापन तथा जीवन की अवधि सम्बन्धी सभी समस्याओं का उत्तर धर्म के द्वारा ढूँढ़ा जाता था वस्तुत: धर्म में धारणा शक्ति का समावेश रहता था। इस कारण धर्म में विज्ञान का भी सम्पुट था। कर्म काण्डों की अधिकता के कारण वैज्ञानिकता की मात्रा घट चुकी थी बुद्ध ने धर्म के माध्यम से ही वैज्ञानिक सोच का विस्तार किया। उनका अष्टांग योग इस तथ्य का प्रमाण है। इसी कारण विश्व के तमाम देशों में बुद्ध के विचारों का प्रचार-प्रसार बड़ी तेजी के साथ हुआ।

बुद्ध व्यक्ति के वर्तमान और भविष्य के निर्माण के लिए कार्यशील थे उनका कहना था कि अतीत को मष्तिस्क के ऊपर बोझ नहीं बनना चाहिए यदि व्यक्ति अतीत में डूबा रहेगा तो उसका भविष्य अंधकार मय हो जायेगा। इसे वे उदारण के द्वारा भी स्पष्ट करते थे। उनका कहना था कि किसी जल ने नाले को जिस बाँस के सहारे पार किया जाता है उस बॉस को व्यक्ति वही छोड़ देता है उसे आगे ढोता हुआ नहीं चल सकता, उसी प्रकार उसे अतीत की बातों को उसी जगह छोड़कर आगे का राह बनाना चाहिए।

यद्यपि उस जमाने में पर्यावरण सुरक्षा जैसी आवश्यकताएँ समाज को नहीं थी लेकिन वृक्षों और वनस्पतियों में जीव का भाव देखकर बुद्ध ने भिक्षुओं को सावधान किया था कि वे अपने वस्त्रों को रंगने के लिए अनावश्यक रूप से वृक्षों का विनाश न करें। आज से २६०० वर्ष पूर्व भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में वृक्षों की इतनी अधिकता थी कि वृक्ष बचाओ सन्देश की कोई आवश्यकता नही थी लेकिन गौतम बुद्ध ने उसी समय इसे महसूस किया था कि वृक्षों के संरक्षण के अभाव में प्राकृतिक संतुलन विनष्ट हो जायेगा। वर्तमान समय में जिस तेजी से वृक्षों का विनाश हुआ

तथा होता जा रहा है और जिनके विनाश के कारण पर्यावरण प्रदूषित हुआ है तथा मौसम का मिजाज बिगड़ा है ऐसी स्थिति को बुद्ध ने २६०० वर्ष पूर्व ही भाँप लिया था। उनके पर्यावरण सम्बन्धी सुझावों की आज विश्व को सर्वाधिक आवश्यकता है।

प्राचीन जमाने में जब बुद्ध अवतरित हुए थे तब समाज की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था सांमतवाद की थी। राजा का वर्चस्व हर स्तर पर स्वीकृत था। समाज में ऊँच-नीच, अमीर, गरीब का भेद था। बुद्ध ने जिस अर्थव्यवस्था का समर्थन किया तथा बौद्ध मठों के द्वारा जिसका उन्होंने व्यावहारिक रूप प्रदान किया वह व्यवस्था ट्रस्टीशिय के काफी नजदीक थी। मठ के भीतर समानता का व्यवहार था तथा शारीरिक श्रम अनिवार्य था। सामूहिकता के निर्णय होते थे। इस प्रकार की व्यवस्था को २०वीं शताब्दी में महात्मा गाँधी ने अपने आश्रमों में लागू किया। साथ ही साथ बुद्ध ने पहले से ही चली आ रही दान धारा के सिद्धान्त का भी अवलम्बन किया। ज्ञात है कि दान धारा के सिद्धान्त के कारण ही बड़े-बड़े बौद्ध मठ स्थापित हुए। २०वीं शताब्दी के मध्य में आचार्य विनोवा भावे ने इस दान धारा के सिद्धान्त का अवलम्बन किया तथा भू-दान, ग्राम दान, प्रखण्ड दान और जीवनदान के क्षेत्रों में दान धारा के सिद्धान्त को लागू किया।

गौतम बुद्ध के राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में सह अस्तित्व का सिद्धान्त प्रमुख है जिससे प्रभावित होकर भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने १९५४ में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन वादुंग (इण्डोनेशिया) में किया जिसमें इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुहार्तो, मिस्र के नासिर, यूगोस्लाविया के टीटो, चीन के चावन लाई तथा भारत के पं० जवाहर लाल नेहरू ने भाग लिया सहअस्तित्व का सिद्धान्त यह बतलाता है कि प्रत्येक प्राणी को यह समझना चाहिए कि अपने जीते रहते हुए दूसरो को भी जीते रहने देना चाहिए। दूसरे शब्दों में—'जीयो और जीने दो'। साथ ही साथ राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्र का सम्मान करना चाहिए तथा दूसरों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

बुद्ध के दर्शन को अंगीकार करने से व्यक्तिनिर्माण, समाज निर्माण, राष्ट्रनिर्माण और अन्तर्राष्ट्रीयता के निर्माण में आदर्श प्रगति हो सकती है तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन शान्तिपूर्ण जीवन यापन का आदर्श दर्शन है।

*

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. दर्शन और दिग्दर्शन — राहुल सांकृत्यायन

२. भारतीय दर्शन की रुपरेखा — प्रो० बी० एन० सिंह

३. बापू की झाकियाँ — काका कालेलकर

४. बादुंग सम्मेलन — १९५४ (इण्डोनेशिया-जकार्ता)

५. 'स्टडीज इन द ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म'— डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय

६. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका— डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

७. हिस्ट्री ऑफ धर्म शास्त्र— पी० बी० काणे

८. महात्मा गाँधी— जीवन और दर्शन— रोमारोलॉ

९. सोशल हिस्ट्री आफ माडर्न इण्डिया— प्रो० वी० ए० नारायण

१०. बौद्ध धर्म दर्शन— आचार्य नरेन्द्रदेव

११. बौद्ध दर्शन प्रस्थान— प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

१२. बौद्धदर्शन और वार्क्सवाद— प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी

१३. बौद्ध धर्म दर्शन एवं धर्म निरपेक्षता— प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी

✱

पाण्डुलिपि-सम्पादन एवं ईक्ष्यशोधन

डॉ. ददन उपाध्याय
सहायक सम्पादक
शिक्षण, शोध एवं प्रकाशन संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्विविद्यालय, वाराणसी

पाण्डुलिपिसम्पादन

ग्रन्थप्रकाशन की योजना, भावी प्रकाशनों की परिकल्पना और नाना प्रकार की अवधारणाओं एवं विचारों को ग्रन्थाकार प्रदान करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादक निभाता है। यह उसकी भविष्य-दर्शिता और कल्पना-प्रवणता, सूक्ष्म-बूझ एवं संयोजन-कौशल का ही सूचक है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर सम्पादक का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य होता है—**पाण्डुलिपि-सम्पादन।**

पाण्डुलिपि लेखक से हस्तलिखित या टाइप की हुई जो ग्रन्थ प्रकाशक को प्रकाशनार्थ प्राप्त होती है, वह पाण्डुलिपि कहलाती है। डॉ० रत्नेश्वर के शब्दों में किसी भी इकाई की हस्तलिखित, वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा लिखित या प्रथम लिपिबद्ध सामग्री को पाण्डुलिपि कहते हैं। प्राचीन काल में दृश्य या श्रव्य माध्यमों का प्रयोग अभिव्यक्ति की प्रस्तुति के लिए किया जाता था। बाद में लिपि का साधन उपलब्ध हुआ। संसार की तीन प्राचीनतम लिपियों में एक संस्कृत है। इन्हीं लिपियों के आधार पर समस्त साहित्यिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा दर्शन की अभिव्यक्ति लिपिबद्ध हुई।

भारत में सबसे प्राचीन लिपि-चिह्न मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा संस्कृति में मिलते हैं। इन दोनों स्थानों की खुदाई में कुछ ऐसी मुद्राएँ, ताँबे की टिकिया तथा मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं, जिनपर लिपि होने के संकेत मिलते हैं। सर जॉन मार्शल की मान्यता है कि सिन्धुघाटी के लेखक मिट्टी की टिकियों के समान अन्य सामग्री के अभाव में मिट्टी के स्थान पर भोजपत्र, ताड़पत्र वृक्षों की छाल, लकड़ी अथवा कर्पासवट जैसी अल्पजीवी सामग्री का उपयोग करते होंगे, जो कालान्तर में स्वाभाविक रूप से नष्ट हो गयी होंगी।

डॉ. कत्रे का मानना है कि ई०पू० चौथी शताब्दी के अन्तिम चरण के नीखोश के कथन के अनुसार हिन्दू लोग तैयार किये गये मजबूत कपड़े पर लिखते

थे। भोजपत्र पर खरोष्ठी लिपि में लिखित 'धम्मपद' ग्रन्थ मिला है। कागज पर लिखित ग्रन्थ तथा अन्य सामग्री दूसरी शताब्दी के आस-पास मिलना प्रारम्भ हुआ। कहा जाता है कि भारत में ही पहली बार कागज का प्रयोग किया गया।

वर्तमान समय में पाण्डुलिपि मात्र कागज पर ही तैयार की जाती है। किसी लेखक या पत्रकार के द्वारा प्रथम बार हस्तलिखित सामग्री को पाण्डुलिपि कहा जाता है। पत्र-पत्रिकाओं के कार्यालय में बाहर से जो भी सामग्री (समाचार, फीचर, लेख इत्यादि) आती है, वह ओरिजनल कॉपी (Original Copy) अर्थात् 'पाण्डुलिपि' मानी जाती है। संगणक यन्त्र (कम्प्यूटर) पर निवेश (कम्पोज) किया हुआ या टाईप की गयी सामग्री चाहे वह फैक्स से भेजी गयी हो या डाक से, पाण्डुलिपि ही है। टेलीफोन से जो समाचार लिखाये जाते हैं, वह भी पाण्डुलिपि ही माने जाते हैं; क्योंकि उप सम्पादक पुन: उसे सजा-सँवार कर समाचार के प्रारूप में उसे प्रस्तुत करता है। प्रेस-एजेंसियों के द्वारा भेजी गयी सामग्री भी पाण्डुलिपि है, परन्तु पत्र-पत्रिकाओं के कार्यालय में उसे (First Copy) या (Original Copy) से सम्बोधित किया जाता है। हालाँकि ये अंग्रेजी शब्द हैं; परन्तु पत्र-पत्रिकाओं में इसी का प्रचलन है। इसी का संस्कृतनिष्ठ शब्द पाण्डुलिपि है।

पाण्डुलिपि नामकरण में हेतु

पं० उदयशंकर शास्त्री ने पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में लिखा है कि आजकल हस्तलिखित ग्रन्थों को पाण्डुलिपि कहा जाने लगा है। किन्तु प्राचीन काल में पाण्डुलिपि उस हस्तलेख को कहा जाता था, जिसके प्रारूप (मसविदा) को पहले लकड़ी के पट्टे या जमीन पर खड़िया (पाण्डु) चाक से लिखा जाता था, फिर उसे शुद्ध करके अन्यत्र उतार लिया जाता था और उसी को पक्का कर दिया जाता था। हिन्दी में यह अर्थ विपर्यय अंग्रेजी के कारण हुआ है। अंग्रेजी में किसी भी प्रकार के हस्तलेख को 'मैन्युस्क्रिप्ट' कहते हैं।[१] मैन्युस्क्रिप्ट लैटिन के (Manu scriptus) मनु + क्रिप्ट्स से बना है। इसका अर्थ होता है। हाथ की लिखावट। विशद अर्थ में कोई भी लेख जो छपा हुआ नहीं है, इसके अन्तर्गत आता है। वह समस्त सामग्री मेन्युस्क्रिप्ट कही जायेगी, जो किसी भी रूप में लिखी गयी हो, चाहे वह कागज पर लिखी हो, अथवा अन्य वस्तु पर, जैसे धातु, पत्थर, लकड़ी, मिट्टी, कपड़े, वृक्ष की छाल, वृक्ष के पत्ते अथवा चमड़े पर। मनुष्य की सभ्यता के आरम्भ और विकास की अवस्थाओं में यह लेखनक्रिया ईंट पर, पत्थरों पर, शिलालेखों के रूप में या

१. भारतीय साहित्य, जनवरी, १९५९, पृष्ठ १२०।

टंकण द्वारा की जाती रही। मोम-पाटी या चमड़े पर भी लिखा गया। ताड़पत्र पर नुकीली लेखनी से गोदन द्वारा यह कार्य किया गया और कपड़ों पर छापों द्वारा, भोजपत्र पर लेखनी के द्वारा ताम्रपत्र पर तथा अन्य धातुपत्रों पर टंकण द्वारा या ढालकर या छापों द्वारा अपने विचारों को अंकित किया जाता था। अनुमान किया जा सकता है कि लिप्यासन (मोम-पाटी, भोजपत्र, ताड़पत्र आदि) या मसि (स्याही) पाण्डु होती थी, उससे जो लेखन-क्रिया की गयी, उसे पाण्डुलिपि कहा जाने लगा।

पाण्डुलिपि-सम्पादन का अर्थ

पाण्डुलिपि-सम्पादन का अर्थ होता है, लेखक के विचारों तथा भावों को स्पष्टतम रूप से सुव्यवस्थित करके प्रभावपूर्वक प्रस्तुत करना। इसके लिए यह आवश्यक है कि सम्पादक प्रेस के लिए यथासम्भव साफ-साफ रूप में पाण्डुलिपि पूर्ण शुद्धता के साथ तैयार करे, जिसमें मुद्रक को कोई बात समझने में उलझन न हो और प्रूफ में कम से कम अशुद्धियों की गुंजाइश रहे।

इस सन्दर्भ में पाण्डुलिपि-सम्पादन में जिन तथ्यों की ओर साग्रह ध्यान रखना होता है, वे हैं—

१. **स्पष्टता**—पाण्डुलिपि यदि हस्तलिखित हो, तो वह साफ-साफ हस्तलिपि में हो, उसमें काट-छाँट कम से कम हो। पाण्डुलिपि ऐसी स्थिति में हो कि मुद्रणालय में सुगमता से पढ़ी जा सके। टाइप करायी गयी पाण्डुलिपि का सही मिलान कर लेना भी आवश्यक है, जिससे टाइपकर्ता की त्रुटियों से बचा जा सके। पाण्डुलिपि में सम्पादक द्वारा किये गये परिवर्तन भी स्पष्ट लेख में होना चाहिए ताकि प्रेस में अशुद्धियों की सम्भावना कम-से-कम रहे। सम्पादक प्रेस को जो निर्देश दे, वे भी सुस्पष्ट होना चाहिए, जिससे प्रेस उन निर्देशों का ठीक से पालन कर सके।

इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि पाण्डुलिपि की फोटो-कॉपी करा ली जाय। यदि मूल पाण्डुलिपि किन्हीं असाधारण स्थितियों में इधर-उधर हो जाय, तो दूसरी पाण्डुलिपि सुलभ हो सके। समय की बचत के लिए भी पाण्डुलिपि की दूसरी प्रति आवश्यक है; क्योंकि प्रूफ-संशोधन या किन्हीं अन्य कारणों से पाण्डुलिपि यदि प्रेस में हो और किसी संशय के निवारण हेतु लेखक से बात करनी पड़े, तो सम्पादक इस पाण्डुलिपि की दूसरी प्रति का प्रयोग कर सकता है।

२. **एकरूपता**—सम्पादन-कार्य करते समय सम्पादक को एक निर्धारित नीति के अनुसार वर्तनी (स्पैलिंग), विराम-चिह्नों आदि के सम्बन्ध में एकरूपता

बरतनी चाहिए। जैसे पञ्चमाक्षरों यथा ङ्, ञ्, ण्, न्, म् के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करना है या पञ्चमाक्षर का। जैसे कंकाल या कङ्काल, चंचल या चञ्चल, पांडव या पाण्डव, नंदन या नन्दन, परंपरा या परम्परा में से कौन सा रूप रखना है, यह तय करना चाहिए और एक निश्चित एकरूपता पूरी पुस्तक में आदि से अन्त तक रहे। इसी प्रकार वाक्य की सामाप्ति पर पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई (।) प्रयोग करनी है या फुलस्टाप (.) यह भी निश्चित करना चाहिए। एक उद्धरण चिह्न (' ') का प्रयोग करना है या दो (" ") का यह भी सुनिश्चित करना चाहिए। शब्दों के संक्षिप्तीकरण के लिए भी एक समान शब्दों का सर्वत्र प्रयोग करना चाहिए और उसका एक पृष्ठ में विवरण देना भी आवश्यक है। पाद-टिप्पणियों (फुटनोटों) के विषय में भी एकरूपता आवश्यक है। यथा प्रत्येक पृष्ठ पर १.२.३. अलग-अलग रखें या पूरे अध्याय में लगातार संख्या दी जाय। इसी प्रकार पाद-टिप्पणियाँ हर पृष्ठ पर नीचे दी जाँय या अन्त में सभी सन्दर्भ उसी क्रमसंख्या से अध्याय के अन्त में दे दिया जाय। हिन्दी में कारकों के चिह्नों को संज्ञा, सर्वनाम से अलग रखना है या मिलाकर। प्रत्येक अध्याय नये पृष्ठ से आरम्भ किया जाय अथवा चार या छः का स्पेश देकर उसी पृष्ठ से प्रारम्भ किया जाय। इसके बारे में भी एक निश्चित नीति का निर्धारण रहना चाहिए। जो भी क्रम अपनाया जाय, वह सम्पूर्ण पुस्तक में एक समान प्रयोग किया जाय।

३. व्याकरण—वैसे तो भावोद्रेक के पीछे भाषा और भाषा के पीछे व्याकरण चलता है; किन्तु पाण्डुलिपि के सम्पादन में लेखक-शैली की रक्षा करते हुए व्याकरण का ध्यान रखना भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ में सर्वनाम इस या उस के सम्बन्ध में, वाक्य कर्मवाच्य है या कर्तृवाच्य है, इसकी और विशेषण-विशेष्य के बीच तथा क्रिया-विशेषण क्रिया पद से सम्बद्ध लगे, इस ओर सम्पादक को एक निश्चित नीति के तहत संशोधन करना चाहिए। विशेषण के सम्बन्ध में सबसे अधिक गड़बड़ी देखने में आती है। संख्यावाचक विशेषण के स्थान पर प्राय: सुनने-पढ़ने में आता है—भारी भीड़ आई। यह भारी विशेषण परिमाणवाचक है। भारी भीड़ के लिए विशाल भीड़ लिखना कहीं उपयुक्त है। इसीप्रकार संख्यावाचक विशेषण विशेष्य से काफी आगे लिखे जाते हैं, जो ठीक नहीं। प्राय: अनेकों का प्रयोग होता है, जबकि अनेक स्वयं ही बहुवचन होता है। इन सभी पक्षों पर व्याकरण की दृष्टि से सम्पादन करने से भाषा के स्वरूप की रक्षा होती ही है, पाठकों को भी सही वाक्य-रचना पढ़ने से अपने दैनिक उपयोग में लाभ प्राप्त होता है। व्याकरण सम्बन्धी

सम्पादन/संशोधन लेखक के मन्तव्य को स्पष्टता प्रदान करने की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए।

४. शैली—शैली की दृष्टि से पाण्डुलिपि-सम्पादन का कार्य बहुत कठिन होता है; क्योंकि यदि उसे पुस्तक में से कुछ घटाना, कुछ बढ़ाना या कुछ आगे पीछे करना पड़े, तो उसका संशोधन लेखक की शैली को विरूप न करे, इसका ध्यान रखना चाहिए; क्योंकि कुछ लेखक अपनी शैली के प्रति विशेष सतर्क होते हैं। वे नहीं चाहते कि उनकी शैली के साथ छेड़-छाड़ किया जाय; क्योंकि प्रत्येक लेखक की शैली ही उनकी अपनी अलग पहचान बनाने वाली होती है। सृजनात्मक साहित्य की पुस्तकों के सम्पादन में इस बात का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है।

तथ्यात्मक सूचना प्रदान करने वाली पुस्तकों के लेखक विद्वान् होते हैं, लेकिन उनकी लेखन-पद्धति भली प्रकार मजी हुई नहीं होती। ऐसी पुस्तकों के सम्पादन में पाण्डुलिपि-सम्पादक को अधिक सतर्कता से कथ्य को प्रस्तुत करने की आवश्यकता होती है। इससे लेखक की बात को समझ कर उसे लेखकीय भाषा में प्रस्तुत करने से पाठक भी तथ्यात्मक जानकारी भली प्रकार हृदयंगम कर पाता है, जो लेखक पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना चाहता है। इस प्रकार पाण्डुलिपि सम्पादक लेखक और पाठक दोनों के साथ पूरा न्याय कर पाता है।

५. तथ्यात्मक शुद्धता—यह सबसे कठिन कार्य होता है। यह सत्य है कि पाण्डुलिपि-सम्पादक बहुपठित होता है और उसे अनेक विषयों का अच्छा-खाशा ज्ञान होता है, किन्तु हर तथ्य की पुष्टि करने का उसके पास समय नहीं होता। इस लिए यदि पाण्डुलिपि-सम्पादक को पाण्डुलिपि पढ़ते समय कहीं त्रुटि की सम्भावना दिखे, तो उसे उस सम्बन्ध में सन्दर्भ पुस्तक की सहायता से तथा स्वयं लेखक से सम्पर्क करके तथ्यों की पुष्टि कर लेनी आवश्यक होती है।

६. औचित्य तथा नैतिकता—पुस्तक के कथ्य का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ेगा, उसे प्रकाशित करना नैतिकता की दृष्टि से उपयोगी होगा या नहीं, इस पक्ष पर सामान्यत: पाण्डुलिपि स्वीकार करने से पूर्व विचार कर लिया जाता है। फिर भी यदि पाण्डुलिपि सम्पादन के दौरान सम्पादक को इस सन्दर्भ में कुछ असंगत लगे, तो उसे अपने प्रकशन संस्थान के कानूनी सलाहकार तथा अधिकारियों को बता देना चाहिए और सर्वसम्मति से इस प्रकार की समस्या पर निर्णय करना चाहिए। इस सन्दर्भ में कॉपीराइटों की समस्या को भी ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

सारांश रूप में पाण्डुलिपि सम्पादक को भाषा-शैली में निष्णात होना ही चाहिए, उसे लेखक, प्रकाशक तथा मुद्रक और चित्रकार आदि से काम लेने और उनके साथ ऐसे मधुर सम्बन्ध बनाने में भी प्रवीण होना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर सभी उसे भरपूर सहयोग देने के लिए प्रस्तुत हों। पाण्डुलिपि-सम्पादक का एकमात्र उद्देश्य यही होना चाहिए कि लेखक जो बात या विचार पाठक तक पहुँचाना चाहता है, उसे स्पष्टतया तथा प्रभावपूर्वक पाठक तक पहुँचाया जा सके, जिससे लेखक के साथ भी न्याय हो सके और प्रकाशक भी लाभान्वित हो।

पूर्वरूप (प्रूफ)—प्राग्रूप (प्रूफ) और पाण्डुलिपि (ओरिजनल कॉपी) में बड़ा प्रगाढ़ सम्बन्ध है। पाण्डुलिपि के आधार पर ही ग्रन्थ आदि के लिए सामग्री निवेश (कम्पोजिंग) की जाती है। अब तो अधिकांश निवेश (कम्पोजिंग) कम्प्यूटर पर ही होती है। कहीं-कहीं ट्रेडिल पर छापने के लिए हाथ से अक्षरों को सजाया जाता है। पाण्डुलिपि के आधार पर जब पहली बार उसे कम्पोज कर लिया जाता है, तब कम्पोज कर निकाली गयी कॉपी और पाण्डुलिपि का मिलान किया जाता है। कम्पोज की गयी सामग्री को प्राग्रूप (प्रूफ) कहकर सम्बोधित किया जाता है। उसमें आयी त्रुटियों को ठीक करना ही ईक्ष्यशोधन (प्रूफ रीडिंग) कहलाता है। प्राग्रूप देखने वाला ईक्ष्यशोधक (प्रूफरीडर) कहा जाता है।

सम्प्रति सम्पादन और ईक्ष्यशोधन के अन्तर को समझना आवश्यक है। सम्पादन में किसी भी इकाई की भाषागत शुद्धता के अलावा, शब्दों और पंक्तियों में पूरा फेर-बदल करने की गुंजाईश है, पर प्रूफरीडिंग में पाण्डुलिपि के अनुसार शब्द-दर-शब्द मिलान करना ही मूल कार्य है। यह बात अलग है कि अच्छा ईक्ष्यशोधक पाण्डुलिपि की भाषागत अशुद्धता को भी ठीक करता है, पर इसके लिए लेखक से अनुमति ले लेता है। सम्पादन में पूरे प्रारूप का बदलाव हो सकता है, पर ईक्ष्यशोधन में नहीं।

ईक्ष्यशोधन तथा सम्पादन में अन्तर

क्र.सं.	सम्पादन	ईक्ष्यशोधन
१.	पाण्डुलिपि में सम्पादक बड़ा से बड़ा फेरबदल कर सकता है।	पाण्डुलिपि से मिलानकर निविष्ट सामग्री को ठीक करना ईक्ष्यशोधन है।
२.	सम्पादक स्वतन्त्र है।	ईक्ष्यशोधक पाण्डुलिपि की सीमा में बँधा रहता है।

३.	सम्पादक को लेखक से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है। वह सामग्री में परिवर्तन कर सकता है।	ईक्ष्यशोधक अधिक से अधिक भाषा को लेखक की अनुमति से ठीक कर सकता है।
४.	सम्पादक सामग्री को छोटा भी कर सकता है और बड़ा भी।	ईक्ष्यशोधक सामग्री में काट-छाँट नहीं कर सकता है।
५.	पाण्डुलिपि का ही सम्पादन होता है।	पाण्डुलिपि से निवेश की गयी सामग्री का ईक्ष्यशोधन होता है।
६.	सम्पादन के विभिन्न कार्यों में ईक्ष्यशोधन भी एक कार्य है।	ईक्ष्यशोधन सम्पादन का एक हिस्सा है।

ईक्ष्यशोधन एवं उसकी प्रक्रिया

ईक्ष्यशोधन का आधार पूर्ण वैज्ञानिक होता है। ईक्ष्यशोधन के लिए मानवीकृत संकेत दिये गये हैं, जिसके आधार पर ईक्ष्यशोधक ईक्ष्यशोधन करता है। यदि ईक्ष्यशोधक उस विज्ञान को आधार नहीं बनायेगा, तब उसका पढ़ना व्यर्थ सा हो जायेगा; क्योंकि निवेशक (कम्पोजिटर) उसे समझ नहीं पायेगा और अशुद्धियाँ ठीक नहीं हो पायेंगी। इसलिए ईक्ष्यशोधन के वैज्ञानिक आधार को जानना आवश्यक है।

पहला प्राग्रूप (प्रूफ) गेली कहलाता है। ईक्ष्यशोधक एक अन्दाज से पूरा पृष्ठ लम्बे-लम्बे दो भागों में बाँट देता है। गेली प्राग्रूप पढ़ते समय पृष्ठ के आधे भाग की गलतियों का संकेत-चिह्न प्राग्रूप की बाँयी ओर हाशिये में लिखता है। हाशिये का अर्थ है पृष्ठ का वह चौथा या पाँचवाँ हिस्सा जिसे बगल में ऊपर से नीचे तक छोड़ दिया जाता है। आधे पृष्ठ की गलतियों का संकेत-चिह्न प्राग्रूप की दायीं ओर लिखता है। शुद्ध करने वाले पंक्ति के सामने ही उचित चिह्न दर्शाना आवश्यक है। शुद्ध करने के स्थान से लेकर हाशिये तक रेखा खींचना नहीं चाहिए। प्रोफेशनल प्रूफरीडर संकेत दर्शाकर ही अपना काम करते हैं। जिस पंक्ति में अशुद्धि है, उसी पंक्ति की बाँयी ओर हाशिये पर शुद्ध की गयी सामग्री रखी जाती है। सामग्री अधिक हो, तो संकेत देकर पृष्ठ के ऊपर-नीचे या पीछे भी शुद्ध सामग्री लिखी जाती है।

ईक्ष्यशोधन के मानवीकृत संकेत

सम्प्रति ईक्ष्यशोधन के मानकीकृत संकेतों को जान लेना असंगत नहीं होगा। इसलिए वे संकेत नीचे दिये जा रहे हैं।

ईक्ष्यशोधन के मानकीकृत संकेत

नया पैरा	L
अक्षर निकालना	d
अक्षर निकालकर मिला दें	⁀d‿
जगह दें	#
जगह कम करें	⁀‿
गलत टाइप	W.F
टाइप उठा नहीं है	×
अक्षर या शब्द का स्थान बदलना है	⌐
वाक्य के नीचे लाइन	under line
मैटर को दाहिने करें	⊏
मैटर को वायें करें	⊐
मैटर को नीचे करें	↓
एक सीध में पंक्ति रखना	||
पंक्ति सीध में की जाय	=
पंक्ति के बीच में जगह कम करना	↔
पैरा या पंक्ति मिलाना	⌒
सम्पादक से पूछना है	(? ? ?)
कोई नया शब्द या वाक्य भरना	h
अक्षर काटने का चिह्न	/
कोई पंक्ति छूट गयी हो या कॉपी से मिलान करें	S/C
नया पैराग्राफ	n. p.
इनभरटेड कौमा	" " ' '
कोलन दें	(:)
अनुस्वार दें	⊙
पूर्णविराम लगायें	|/-
कामा लगायें	,/-
हाइफन लगायें	—/-

डैस दें	–/-
कोष्टक लगायें	[/]
सेमी कोलन लगाये	;
लेड या स्पेश दबाये	/—
रिक्त स्थान कम करें	∠
पंक्तियों के बीच की जगह कम करें	(
प्रश्न-चिह्न लगायें	?/-
विस्मयादिबोधक चिह्न लगाये	!/-
सामग्री को बोल्ड करें	(—
बोल्ड सामग्री को सादा करें	(—)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाण्डुलिपि सम्पादक का कार्य असीमित है और उनके कार्य उनकी रुचि पर निर्भर करते हैं। अच्छे सम्पादक अपने अधीनस्थ ईक्ष्यशोधक आदि के साथ बैठकर उनके कार्यों में हाथ बँटाते हैं। उनकी समस्याओं को तत्काल सुलझाते हैं और उन्हें बेहतर कार्य के लिए प्रोत्साहित भी करते हैं।

*



आचार्यवसुबन्धुविरचितं

पञ्चस्कन्धप्रकरणम्

सम्पादकः

प्रो. रमेशकुमारद्विवेदी

अध्यक्षः

जैनदर्शन-प्राकृत-जैनागमविभागयोः

संकायाध्यक्षश्च, श्रमणविद्यासङ्कायस्य

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये, वाराणस्याम्

भूमिका

सम्पादक-प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी

आचार्यवसुबन्धोर्व्यक्तित्वं कृतित्वञ्च

लोकोत्तर प्रतिभा-पुरस्कृता आचार्यप्रवरावसुबन्धु महाभागा बौद्धदर्शनस्याऽऽ-चार्या आसन् । एभिर्महाभागैरात्मीयैर्बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धिभिर्ग्रन्थैर्बौद्ध दर्शनस्याऽद्वितीया सेवा सम्पादिता । परिणामतया इमे बौद्ध धर्म-दर्शनाचार्यैः-शास्त्रकारैश्चापर बुद्धत्वेनाभिहिता बभूवुः[१] ।

जीवनवृत्तम्

यद्यपि वसुवन्धूनां जात्यादेर्विषये बौद्ध-धर्म-दर्शनाचार्येषु वैमत्यं दरीदृश्यते । विद्वद्भिर्भिन्न-भिन्न रूपेण एषामाचार्याणां जननी-जनक-जात्यादेरुल्लेखः कृतोऽवलोक्यते । तथाप्यत्र चतुर्णां विदुषां मतं विशेषेणोल्लेखनीयम्—

परमार्थेन (४९९ ई.-४६९ ई.) वसुबन्धूनां जीवनवृत्तं स्वतन्त्ररूपेण चीनी भाषायामुपनिवद्धम्, ताकाकुसु महोदयेन तदाङ्ग्ल भाषायामनुवादितम् ।

परमार्थमहोदयानुसारं गान्धार प्रदेशस्य पुरुषपुरीये कौशिक गोत्रीये ब्राह्मण-कुटुम्बेऽऽचार्य वसुबन्धु-महाभागानां प्रादुर्भावो वभूव[२]। महानुभावानां पितुर्नाम कौशिकः, मातुर्नाम-विरिञ्चिरित्यासीत् । असङ्ग-विरिञ्चिपवत्साख्यौ अस्य भ्रातरावसमभू ।

युवान्च्वाङ्ग महोदया परमार्थतो भिन्नं मतं प्रतिपादयन्ति । ते च वसुबन्धु-महागानां पितुर्नाम कौशिकः मातुर्नाम विलिन्दीत्युलिखन्ति । तेषां मतेऽऽचार्यवसु-बन्धूनामग्रजस्य नामाऽसङ्गः, कनिष्ठजस्य नाम-विलिन्दीभव इत्यासीत्[३] ।

---

१. यं वुद्धिमतामग्रयं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः । (अभिस्फु० १-१ ।

२. एस्टडी परमार्थःस लाईफ आफ वसबन्धु एण्ड द डेट आफ बसुवन्धु पेज. ३३.५३ ताकाकुसु

३. **WAttelrs. Thmas. yuan I chang. P. 210**

उभयो: (परमार्थ-युवान् च्वाङ्गयो: मताभ्यां) भिन्नमपरं मतं तिब्बती इतिहासकारेण बुदोन महोदयेन प्रतिपादितं वर्तते। बुदोन महोदयानुसारं असङ्ग-वसुबन्धोर्जननी त्वेकैवासीत्, परन्तूभयोर्जनकौभिन्नै जनावस्ताम्। तन्मतानुसारं कस्यचित् क्षत्रियस्य एतसा प्रसन्नशीलाख्याया: कुक्षितोऽसङ्गो जात:, तथान्यस्य ब्राह्मणस्य रेतसा तस्या एव ब्राह्मण्या गर्भाद् वसुबन्धो: प्रादुर्भावो वभूव[१]।

एभ्यो (चरमार्थ-युवान्-च्वाङ्ग-बुदोन महोदयानां) मतेभ्यो भिन्नं तुरीयंमतं तिब्बती-इतिहासकारेण लामा तारानाथोपनिबद्धम् वर्तते। तन्मतानुसारं असङ्ग-वसुबन्धुश्च सहोदरावास्ताम् तत्ज्ञानयोर्मातुर्नाम प्रकाशशीलेत्यासीत्। वसुबन्धोर्जनक: चतुर्वेदपारदृश्वा-विद्वान् ब्राह्मणावतंशोऽऽसीत्। आचार्य वसुबन्धोर्जन्मऽसङ्गस्य प्रव्रजितानन्तरमेकवर्षपश्चात् वभूर्व[२]।

आचार्य वसुबन्धो: -शिक्षा-दीक्षा—

समुन्नत-सफल-जीवन सिद्धये-समुन्नतशिक्षाऽनिवार्या भवति। अत तदर्थमेकस्य समुन्नत'-गुरोरावश्यकताप्यनिवार्या भवति। यतो गुरोरूपेदश एव समुन्नत-सफल-जीवनार्थमर्थं-दिशां च प्रददाति। आचार्य बसुबन्धोर्जीवनं-दर्शनञ्च वैविध्यव्यापकत्वा-न्निवमवलोक्यते। अनेनमहाभागेनात्मीयायां सुदीर्घजीवन यात्रायां ज्ञानोपार्जनार्थं तद्विकासार्थं चानेक गुरुणामन्तेवासित्वमङ्गीकृतम्। तथा तेभ्यो ज्ञानस्य विविध-विभागानामध्ययनञ्चकार।

यद्यपि शिक्षाया: प्रारम्भो वाल्यावस्थाद् भवति किन्त्वस्य (वसुबन्धुमहाभागस्य) वाल्यावस्था-विवरणमनुपलब्धं वर्तते। अतएवास्य प्राथिमिकी शिक्षा कुत्र, कस्माद् गुरो: सकाशाद, केन पाठ्यक्रमानुसारेण जाता, अस्मिन् विषये प्रमाणाभावे-किमपीदमित्थं वक्तुं न शक्यते। तथापि एतदनुमीयते यत् विद्याव्यसनिनो ब्राह्मणस्य कुलेऽनेन जन्म ग्रहीत:। अत एवासौ प्रथमिकी-शिक्षा पितृभ्यामग्रजात् चाप्तवान्। अथ चास्य प्राथमिक्या: शिक्षाया: विषया वैदिक-साहित्यभू, धर्म दर्शनादयश्च भविष्यन्तिस्म्।

आचार्य बसुबन्धु पादा: बौद्ध धर्म-दर्शनस्य विविध-विभागेषु पारङ्गता आसन्। अनेन विभिन्नानांस्थानानां यात्रा: कृता:। परिणामतयाऽस्य गुरवो भिन्न-भिन्न शाखानामाचार्या आसनित्यनुमीयते वसुबन्ध्वाचार्यस्य' गुरुषु-बुद्धमित्र-मनोरथ-संघभद्र-असङ्ग-जयंत प्रभृतीनां नाम समादरेण स्मर्यते। एभ्योऽतिरिक्तमपि कानिचिदप्रसिद्धानि नामानिचैतिहासकारै रुल्लिखितानि सन्ति।

---

१. बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास पृष्ठ ४२० (गोविन्द चन्द्र पाण्डेय)

२. भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास पृष्ठ (तारानाघ)

आचार्य परमार्थपादानुसारं बसुबन्धोर्गुरुर्वुद्धमित्राचार्या आसन्। बुद्ध मित्राद् वसुबन्धुना हीनयानस्य-दीक्षाधिगता तथा गुरुणा साकं विहारमधिवसन् बौद्ध-दर्शनमधीतम्। बुदोन महोदयानुसारमाचार्य वसुबन्धुना काश्मीर देशे संघभद्राचार्यात् वैभाषिक-दर्शनमधीतम्। बुस्तोन महोदयानुसारमनेन संघभद्रस्य सम्प्रदाये प्रवेशः कृतः।

लामा तारानाथ पादानुसाराचार्य वसुबन्धुनाऽञ्चै नालन्दायां प्रव्रजितो जातः। पश्चाद्भिः धर्मस्योन्नत ज्ञातमवाप्तये काश्मीरं गतः। तत्र चाचार्य संघभद्रमुपवसन् तस्माद्विभाषां तथाष्टादश-निकायानां समस्त ग्रन्थानां तर्क-मतानाञ्चाध्ययनं कृतम्। लामा तारानाथ चरणानां मतेऽऽचार्यवसुबन्धुना मन्त्रकाचार्याद् मन्त्रोपदेशोऽधिगतः। परन्त्वेन्नेतस्य मन्त्रकाचार्यस्य नामोल्लेखोऽनुल्लिखितः।

ह्वेनसाङ्ग-शिष्यस्य पुकुआंडग मतानुसारमाचार्य वसुबन्धु चरणैः साईच्याइंग टिलोऽऽचार्यात् बौद्ध-धर्म दर्शनस्य शिक्षाधिगता। अस्याचार्यस्याऽधिधर्मावताराख्यमति-गम्भीरं किन्तु संक्षिप्तं ग्रन्थमुपलभ्यते। ग्रन्थोऽयं प्रमुखतयावैभाषिकी व्याख्या रूपः।

युआनच्वाङ् महोदयेन मनोरथम्मिधस्याऽऽचार्यस्यान्तेवासित्वमङ्गीकृतमाचार्य वसुबन्धु पादानाम्। एनेकर महोदयानामनुसारेण वसुबन्धुपादानां चेतसि वैभाषिक-तत्वमीमांसायाः प्रासङ्गिकता-विषयेऽनेकाः शङ्काः सञ्जाताः। अत एव तत्समाधानार्थ-मेभिराचार्य मनोरथपादात्सौत्रान्तिक-दर्शनस्य सिद्धान्तारधीताः।

स्टीफन एनेकर महोदयानुसारमाचार्य वसुबन्धुपादैर्महायानस्य निगूढ़ सिद्धान्तारार्यासङ्ग चरणादधीताः।

सुजुकी महोदयानाममते जयताख्याचार्याद् वसुबन्धुचरणैः साधनायाः शिक्षाधिगता।

वसुबन्धोयात्रा विवरणम्

आचार्य वसुबन्धोः प्रकृतिः यायावरीयाऽऽसीत्। अत एवानेन कास्मिंश्चिदेकस्मिन् स्थाने निवासो न कृतः। प्रत्युत् बाल्य कालादेव विभिन्न शास्त्राणोमध्ययेनार्थं विभिन्न स्थानानां यात्रास्तेन कृताः।

लामा तारानाथेन, स्टीफन एनकरेण चास्याऽऽचार्यस्य विभिन्न स्थानानां यात्राणां विवरणं सविस्तरं प्रदत्तम्।

नालन्दायां प्रव्रज्यामधिगत्य शास्त्रज्ञानार्जनार्थमसौ काश्मीरं गतवान्। तत्र च ३४२ खिस्ताब्दतः ३४६ खिस्ताब्द यावन्निवासं चकार। तदनन्तरं तस्माददुच्चचाल,

क्रमेण परिभ्रमन् मगध देशमाजगाम। अथ पूर्वगौरीदेशं गत्वा तत्रत्येभ्यो जनेभ्योरूप देशो दत्तवान्। अथ नेपाल देशं प्रति प्रस्थानं चकार।

स्टीफन एनेकर महोदया: लामा तारानाथ प्रदत्त विवरणाद् केषांचित् भिन्न स्थानामुल्लेखं कुर्वन्ति। तन्मतानुसारमाचार्य वसुबन्धु पादै: साकल देशे कश्चित्कालंव्यतीतम्। तदनन्तरमयोध्यामागत्य आयोध्यिकेभ्यो नागरिकेभ्यो, नृपेभ्योश्चोपदेशं प्रदत्त:। तत: पुरूषपुरमधिगम्याचार्यऽसङ्गस्य प्रभावेण महायानाचार्यत्वेन शेषं जीवनं यापितम्।

कस्यचिन्मते चतुर्थे वयसि वसुबन्धुभि: साकल कौशाम्बी सम्प्राप्ता। तत्र गोविन्द गुप्तो युवराजपदमलञ्चकार। समात्रा तेनाऽयोध्यायामेव निवासार्थं प्रार्थना कृता। तस्य प्रार्थनामङ्गी कृत्याचार्य वसुबन्धुनाशेषं जीवनमयोध्यायामेव यापितम्।

वसुबन्धोः सम्प्रदायः

आचार्य वसुबन्धो: सम्प्रदाय सम्बन्धिनं महत्वपूर्णं मतद्वयमुपलभ्यते। परमार्थाचार्यमतानुसारमादौ त्रिभि: भ्रातृभि: सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाये एवाभिनिवेशो कृत:। कालक्रमेऽग्रजाऽसङ्गेन महायानान्तर्गतो योगाचार सम्प्रदायोऽधिग्रहीत: तथा तस्य सम्प्रदायस्य महान दार्शनिकोऽऽचार्यो जात:। वसुबन्धुश्च सौत्रान्तिक मतमङ्गीचकार। किन्तु जीवनस्याऽन्तिमे वयसि अग्रजस्यासङ्गस्य प्रभावेण महायानमतमालसाच्चकार।

युवानच्वाङ्ग महोदयानुसारि प्रथमे वयसि वसुबन्धु-आचार्यपादा: सर्वास्तिवाद-सम्प्रदायानुयायिनोऽसन्, पश्चात् महायान सम्प्रदायानुयायिनो वभूवु:। महायान सम्प्रदानंङ्गीकृत्य पूर्वकृतात्माक्षेपान् स्मृत्य च पश्चातापाकुलो भूत्वाऽऽचार्य प्रवरेण वसुबन्धुपादेन विज्ञानवाद सम्बन्धिनो ग्रन्था: विरचिता:। लामातारानाथ स्टीफन एनेकराभ्यामेतदेव तथ्यं समर्थितं वर्तते।

स्थिति समयः

भारतीय वाङ्मयस्य प्रायश: प्राचीनाऽचार्याणामात्मगोपनं यदा तेषां सार्वकालिकतां सार्वभौमिकताञ्च ख्यापयति। तत्रैव तद्देश कालादेरनुसन्धानकर्तृभ्यो जटिलां समस्यामप्युप स्थापयति। बौद्ध दार्शनिकाऽऽचार्य वसुबन्धुरप्यात्मविषये मौनमेवाकलितम्। परिणामतयेतिहासकाररप्यावधि पर्यन्तं तेषां स्थिति-काल विषयक निर्विवाद निष्कर्षावधारणेऽक्षमा: सन्ति। तथापि कैश्चिदितिहासकारै स्तेषां स्थितिकाल-निर्धारणस्य स्तुत्य प्रयासो विहित:। अतएवोऽत्र तेषां विदुषां मतान्युपस्थाप्यन्ते—

इतिहासकारः निर्णीते समयः

३१६ त.-३९६	ख्रिस्ताब्दपर्यन्तम्
फ्राउवाल्नर महोदयाः (प्रथमवसुबन्धुः)	३२० ख्रिस्ताब्दतः-३८० ख्रिस्ताब्द पर्यन्तम्
दासगुप्त महोदयाः	४०० ख्रिस्ताब्दः
वोगिहारा महोदयाः	३९० ख्रिस्ताब्दतः ४७० ख्रिस्ताब्द पर्यन्तम्
फ्राउवाल्नर महोदयाः (द्वितीयवसुबन्धुः)	४०० ख्रिस्ताब्दतः-४८० ख्रिस्ताब्द पर्यन्तम्
ताकाकुश महोदयाः	४२० ख्रिस्ताब्दतः ५०० ख्रिस्ताब्द पर्यन्तम्
टी. किमुरा महोदयाः	४२० ख्रिस्ताब्दतः ५०० ख्रिस्ताब्द पर्यन्तम्
सिल्वालेवी महोदयाः	५०० ख्रिस्ताब्दतः ५५० ख्रिस्ताब्द पर्यन्तम्
मैक्समूलर महोदयाः	६०० ख्रिस्ताब्दः

एवमितिहासकारैर्वसुबन्धुचरणानां स्थिति समयाश्चतुर्थ शताब्दीतः षष्ठ शताब्देर्मध्ये निर्धारितः । अर्थात् प्रायशः वर्षशतत्रयमेवाचार्य वसुबन्धोः स्थिति-समयस्य पूर्वापर सीमा निश्चिता भवति । एनेकर-फ्राडवाल्नर-दासगुप्ता-प्रभृत्यरितिहासकाराश्चतुर्थ शताब्द्यां वसुबन्धवाचार्यपादानां स्थिति समयं समर्थयन्ति । तथा वोगिहारा-फ्राउवाल्नर-ताकाकुसु टी. किमुरा-सिल्वालेवी-मैक्समूलर प्रभृतयरितिहासकाराः पञ्चम शताब्दी षष्ठ शताब्दीं चामनन्ति ।

महापरिनिर्वाणः

अचार्य वसुबन्धुपादैः प्रायशोऽशीतिवर्षदेशीयावस्थायां महापरिनिर्वाणोऽवाप्तः । तथ्यमेतत सर्वैरिवेतिहासकारैरेकसरेणाङ्गीकृतम् । किन्तु परिनिर्वाणस्य स्थान विषये तेषु वैमत्यमेवलोक्यते । परमार्थ महोदयानाम्मते आचार्यवसुबन्धु पादैरयोध्यायां महापरिनिर्वाणोऽवाप्तः । युवान् च्वाङ्ग महोदयेनापि परमार्थ महोदयानाम्मतमनुमोदितम् । किन्तु ह्वेनसाङ्ग महोदयाः परमार्थ-प्रतिपादित-मतेऽरुचिमादधन् साकल देशे वसुबन्धु आचार्य पादानां महापरिनिर्वाणमामनन्ति । तेनोल्लिख्यते यत् संघभद्रेण सह शास्त्रार्थस्य समयेऽऽचार्य वसुबन्धु पादाः साकल देशेऽवस्थिता आसन् । तत्रैव तैस्त्रिस्वभाव निर्देशाख्योऽन्तिमो ग्रन्थो विरचितः । ग्रन्थस्यास्य सृष्टयनन्तरमेवात्रैवाऽऽचार्य वसुबन्धुपादैः परिनिर्वाणोऽवाप्तः ।

बुस्टोन महोदयारूपर्युक्ते उभेऽपि मतेऽरुचिमादधन् नेपालदेशे आचार्य वसुबन्धुपादानां महापरिनिर्वाणमङ्गीकुर्वन्ति । तेषां मतेऽऽचार्य वसुबन्धु पादा यदोत्तरस्यामासन् तदा तैर्हन्डुरित्याख्येन भिक्षुणा समागमार्थं गताः । तेन भिक्षुणात्मस्कन्धेऽऽसवपात्रमाध्रियतेस्म

तं तदावलोक्य तैरुक्तम्-एवमयं सिद्धान्तो नष्ट प्रायो भविष्यति। एवमुक्त्वा तैः (आचार्य वसुबन्धु पादैः) 'उष्णी विजयधारणी' मन्त्रं स्तोत्रं वा विपरीत क्रमेणाभ्यस्य महापरिनिर्वाणोऽवाप्तः। तारानाथेनापि नेपाल देशे एवाऽऽचार्य वसुबन्धुपादानां महानिर्वाणमङ्गीकृतम्।

आचार्य वसुबन्धुपादानां कृतित्वम्

बौद्ध दर्शनस्य वैभाषिक सौत्रान्तिक विज्ञानवादाख्यैस्त्रिभिः सम्प्रदायैराचार्य-वसुबन्धुपादानां सम्बन्धो दरीदृश्यते। एभिः सम्प्रदायत्रय सम्बन्धितारनेके ग्रन्थाः सृष्टाः। परिणामतया तेषां ग्रन्थेषु विविधता-व्यापकता चावलोक्यते। केषाञ्चिन्मते एभिराचार्यपादैः बौद्ध दर्शनस्य प्रत्येक सम्प्रदाय-सम्बन्धिताः पञ्चशत-पञ्चशत-ग्रन्थाः सृष्टाः। किन्त्वस्य मतस्य समर्थने प्रमाणाभावोऽवलोक्यते।

यथा खल पूर्वमुल्लिखितं यदाऽऽचार्य वसुबन्धुपादानां रचनासृष्टौ विविधता-व्यापकता च वर्तते। विभिन्न-स्तरीय-विचार-संख्या क्रमेण विभिन्न सम्प्रदायानामङ्गीकरणा-देतत् सम्भवं जातम्। वसुबन्ध्वाचार्य पादानां ग्रन्थ-सृष्टि-सम्बन्धिताः सूचनाः प्रायशश्चीनीय साहित्येन तथा तयात्रिकाणां यात्रा विवरणैश्चोपलभ्यन्ते। काश्चित् सूचनाश्च तिब्बतीय-स्त्रोतैरूपलभ्यन्ते। एवं भिन्न-भिन्न स्त्रोतैरुपलब्धासु सूचनासु सर्वत्रैकरूपतायारभावो दरीदृश्यते। परिणामतयाऽऽचार्य वसुबन्धुपादानां ग्रन्थानां संख्या बाहुल्यमापद्यते। यद्यपीदं स्पष्टं यत् वसुबन्धु-आचार्यपादैः संस्कृत भाषायामेवात्मीया ग्रन्थारचिताः। किन्तु सम्प्रति चीनीय-तिब्बतीयभाषायामपि तन्नाम्नाऽनेके ग्रन्थारूपलभ्यन्ते। इत्यनेन सम्भायते यत् ते मूल संस्कृत ग्रन्थानामनुवाद-स्वरूपाः सन्ति। दुर्भाग्यतो मूल संस्कृत ग्रन्थाः सम्प्रति नोपलभ्यन्ते।

आचार्य वसुबन्धुपादानामुपलब्धासु रचनास्वधोलिखिता ग्रन्थारुल्लेखनीयाः सन्ति—

(१) पञ्चस्कन्धप्रकरणम्।

(२) अभिधर्मकोशकारिका भाष्यञ्च।

(३) मध्यान्तविभागभाष्यम्।

(४) त्रिस्वभाव निर्देशः।

(५) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः।

(अ) विंशतिका कारिका भाष्यञ्च।

(आ) त्रिंशिकाकारिका।

बौद्ध दर्शन-वाङ्मये मध्यमकशास्त्र-अभिधर्मकोश-प्रमाण वार्तिक-तत्वसंग्रह-प्रभृति बृहदाकारग्रन्थैः सार्धमेव कतिपया प्रकरणग्रन्था लध्वाकारा ग्रन्थारप्युपलभ्यन्ते इमेग्रन्था गद्यात्मकाः पद्यात्मकारुभयरूपात्मकाश्च सन्ति । यथा—पञ्च स्कन्धप्रकरण-निस्वभावनिर्देश-न्याय बिन्दु-सम्बन्धपरीक्षा प्रभृतयः । एतत्सम्भाव्यते यदिमे लध्वाकारा ग्रन्थाः विषयस्य शास्त्रस्य च संक्षेपेण सहज रूपेण च जिज्ञासुनामवबोधनार्थं रचिताः । अत एव विषय प्रवेशाय प्रवेशार्थिने एषामुपयोगिताऽपलपितुं शक्या न । एषु ग्रन्थेषु पूर्वोत्तर पक्षयोर्युक्तीनां दुर्बोध स्वरूपो न प्रस्तुतः । प्रत्युत् सिद्धान्त पक्ष एव सार रूपेण सरल भाषामुपस्थापितो वर्तते । एषु केषुचित् कृतं स्वोपज्ञं भाष्यं ग्रन्थकारस्य दार्शनिक सिद्धान्तस्य च तात्पर्यं स्पष्टतरं करोति । एषु ग्रन्थेषु कृताः टीकाः प्रतिपाद्य विषयं स्पष्टं कुर्वन् सिद्धान्त ग्रन्थानामाधारीकृत्य तस्या विस्तारमपि चक्रुः । इमे लध्वाकारा ग्रन्थाः केषाञ्चिट्टीकाराणां मध्ये सैद्धान्तिक मत भेदस्य व्याख्याभेदस्य चाद्यारतामपि गताः सन्ति । अत मया वसुबन्धुपादानां पञ्चस्कन्ध प्रकरणाख्यं ग्रन्थं जिज्ञासुनां बौद्ध-दर्शन-प्रवेशाय मूल रूपेण सम्पाद्यते ।

पञ्चस्कन्ध प्रकरण परिचयः प्रतिपाद्यविषयश्च—

पञ्चस्कन्धप्रकरणस्याऽभिधवैवेदं स्पष्टं यद् ग्रन्थोऽयं प्रकरण ग्रन्थोऽस्ति । प्रकरणस्य लक्षणम्—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थ भेदः विपश्चितः ।।

अयं भावः यस्मिन् ग्रन्थे शास्त्रीय विषयस्य कस्यचिदेकस्याऽङ्गस्य स्वतन्त्र रूपेण विवेचनं प्रस्तूयते, स ग्रन्थः प्रकरणमित्याचक्षते ।

वसुबन्धुआचार्य पाद-प्रणीत-पञ्चस्कन्ध प्रकरणस्य सर्वप्रथम संस्कृत भाषायां प्रकाशनं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालयस्य सारस्वती सुषमा पत्रिकायां १९५५ ख्रिस्ताब्दे वभूव । बौद्ध-विदुषा शान्तिभिक्षुशास्त्रिणा भोट भाषातोऽस्य संस्कृतभाषायामनुवादो विधाय संस्कृतज्ञानां जिज्ञासुनां परमुपकारो विहितः । अद्यानेनैव १९६९ ख्रिस्तादे सर्वप्रथमस्याङ्ग्लानुवादोऽपि प्रस्तुतः । जिनमित्र शीलेन्द्र बोधि-दानशील-येशेतडे प्रभृतिभिरस्य ग्रन्थस्य तिब्बती भाषायामप्यनुवादः कृतः ।

✻

आचार्यवसुबन्धुविरचितं

पञ्चस्कन्धप्रकरणम्

प्रथमाधिकारः

स्कन्धोद्देशनिर्देशकः

पञ्चस्कन्धाः

पञ्चस्कन्धाः । रूपस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः, संस्कारस्कन्धः[१] विज्ञानस्कन्धश्च ॥१॥

रूपस्य द्वौ भेदौ

रूपं कतमत्। यत् किञ्चिद् रूपं सर्वं तच्चत्वारि महाभूतानि, चत्वारि च महाभूतान्युपादाय ॥२॥

महाभूतनामानि

कतमानि चत्वारि महाभूतानि । पृथिवीधातुः, अब्धातुः, तेजोधातुः, वायुधातुश्च ॥३॥

महाभूतलक्षणानि

तत्र पृथिवीधातुः कतमः । कठिनता ॥४॥ अब्धातुः कतमः । निष्यन्दता ॥५॥ तेजोधातुः कतमः । उष्णता ॥६॥ वायुधातुः कतमः । पौनःपुन्यकम्पनता ॥७॥

उपादायरूपनामानि

उपादायरूपं कतमत् । चक्षुरिन्द्रियम्, श्रोत्रेन्द्रियम् , घ्राणेन्द्रियम् , जिह्वेन्द्रियम्, कायेन्द्रियम्, रूपम्, शब्दः, गन्धः, रसः, स्प्रष्टव्यैकदेशः, अविज्ञप्तिश्च ॥८॥

उपादायरूपलक्षणानि

चक्षुरिन्द्रियं कतमत् । वर्णविषयो रूप प्रसादः ॥९॥ श्रोत्रेन्द्रियं कतमत् । शब्दविषयोरूप प्रसादः ॥१०॥ घ्राणेन्द्रियं कतमत । गन्धविषयो रूपप्रसादः ॥११॥ जिह्वेन्द्रियं कतमत् । रसविषयोरूपप्रसादः ॥१२॥ कायेन्द्रियं कतमत् । स्प्रष्टव्यविषयो रूपप्रसादः ॥१३॥ रूपं कतमत् । चक्षुर्गोचरः । वर्णः, संस्थानम्, विज्ञप्तिश्च ॥१४॥

---

१. अभिधर्मकोशम्१-७

शब्दः कतमः । श्रोत्रगोचरः । निष्पन्नः, अनिष्पन्नः, उभयः । उपात्तचतुर्महाभूतहेतुकः, अनुपात्तचतुर्महाभूतहेतुकः, उभयचतुर्महाभूतहेतुकश्च ॥१५॥ गन्धः कतमः । घ्राणगोचरः । सुरभिः, असुरभिः, तदन्यश्च ॥१६॥ रसः कतमः । जिह्वागोचरः । मधुरः, अम्लः, लवणः, कटुः, तिक्तः, कशायश्च ॥१७॥ स्प्रष्टव्यैकदेशः कतमः । कायगोचरः । महाभूतान्युपादाय श्लक्ष्णत्वम्, कर्कशत्वम्, गुरुत्वम्, लघुत्वम्, शीतत्वम्, जिघत्सा, पिपासा च ॥१८॥ अविज्ञप्तिरूपं कतमत् । विज्ञप्तिसमाधिसंभूतं रूपम्, अनिदर्शनम्, अप्रतिघम् ॥१९॥

रूपस्कन्धः सोद्देशनिर्देशः परिनिष्ठितः ॥

अथ वेदना सलक्षणप्रभेदा

वेदना कतमा । त्रिविधोऽनुभवः । सुखः, दुःखः, अदुःखासुखश्च ॥२०॥ सुखो यस्मिन् निरुद्धे संयोगेच्छा जायते ॥२१॥ दुःखो यस्मिन्नुत्पन्ने वियोगेच्छा जायते ॥२२॥ अदुःखासुखो यस्मिन्नुत्पन्ने नोभयेच्छा जायते ॥२३॥

वेदनास्कन्धः सोद्देशनिर्देशः परिनिष्ठितः ॥

अथ संज्ञा सलक्षणप्रभेदा

संज्ञा कतमा । विषयनिमित्तोद्ग्रहणम् ॥२४॥ सा त्रिधा । परित्ता महद्गता, अप्रमाणा च ॥२५॥

संज्ञास्कन्धः सोद्देशनिर्देशः परिनिष्ठितः ॥

संस्काराणां द्वौ भेदौ

संस्काराः कतमे । वेदनासंज्ञाभ्यामन्ये चैताः, चित्तविप्रयुक्ताश्च ॥२६॥

चैतलक्षणम्

तत्र चैत्तधर्माः कतमे । ये धर्माश्चित्तेन संप्रयुक्ताः ॥२७॥

चैत्तपरिसंख्यानम्

ते कतमे । स्पर्शः, मनसकारः, वेदना, संज्ञा, चेतना, छन्दः, अधिमोक्षः, स्मृतिः, समाधिः, प्रज्ञा, श्रद्धा, ह्रीः, अपत्रपा, अलोभः, कुशलमूलम्, अद्वेषः, कुशलमूलम्, अमोहः कुशलमूलम्, वीर्यम्, प्रश्रब्धिः, अप्रमादः, उपेक्षा, अविहिंसा, रागः, प्रतिघः, मानः, अविद्या, दृष्टिः, विचिकित्सा, क्रोधः, उपनाहः, म्रक्षः, प्रदाशः, ईर्ष्या, मात्सर्यम्, माया, शाठ्यम्, मदः, विहिंसा, आह्रक्यम्, अनपत्राप्यम्, स्त्यानम्, औद्धत्यम्, आश्रद्धयम्, कौसीद्यम्, प्रमादः, मुषितास्मृतिः, विच्छेपः, असंप्रजन्यम्, कौकृत्यम्, मिद्धम्, वितर्कः, विचारश्च ॥२८॥

एतेषां पञ्च सर्वत्रगाः । पञ्च प्रतिनियतविषयाः । एकादश कुशलाः । षट् क्लेशाः । शिष्टा उपक्लेशाः । चत्वारोऽन्यत्रापि भवन्तीत्यनियताः ॥२९॥

चैत्तलक्षणानि

स्पर्शः कतमः । त्रिकसंनिपाते इन्द्रियविकारपरिच्छेदः ॥३०॥

मनस्कारः कतमः । चेतस आभोगः ॥३१॥

चेतना कतमा । गुणदोषानुभयेषु चित्ताभिसंस्कारो मनस्कर्म ॥३२॥

छन्दः कतमः । अभिप्रेते वस्तुन्यभिलाषः ॥३३॥

अधिमोक्षः कतमः । निश्चिते वस्तुनि तथैवावधारणम् ॥३४॥

स्मृतिः कतमा । संस्तुते वस्तुन्यसंप्रमोषः ॥३५॥

समाधिः कतमः । उपपरीक्ष्ये वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता ॥३६॥

प्रज्ञा कतमा । तत्रैव प्रविचयो योगायोग विहितोऽन्यथा च ॥३७

श्रद्धा कतमा । कर्मफलासत्यरन्तेष्वभिसंप्रत्ययः । चेतसोऽभिलाषः । चेतसः प्रसादः ॥३८॥

ह्रीः कतमा । आत्मनं धर्मं वाधिपतिं कृत्वा स्वयमवद्येन लज्जा ॥३९॥

अपत्रपा कतमा । लोकमधिपतिं कृत्वा परतोऽवद्येन लज्जा ॥४०॥

अलोभः कतमः । लोभप्रतिपक्षः । चेतसो दानक्षेत्रापरिग्रहः ॥४१॥

अद्वेषः कतमः । द्वेशप्रतिपक्षः । मैत्री ॥४२॥

अमोहः कतमः । मोहप्रतिपक्षः । यथाभूतसंप्रतिपत्तिः ॥४३॥

वीर्यं कतमत् । कौसीद्यप्रतिपक्षः । कुशले चेतसोऽभ्युत्साहः ॥४४॥

प्रश्रब्धिः कतमा । दौष्ठूल्यप्रतिपक्षः । कायचित्तकर्मण्यता ॥४५॥

अप्रमादः कतमः । प्रमादप्रतिपक्षः । अलोभादीन् वीर्यान्तान् निश्रित्य अकुशलानां धर्माणां प्रहाणम् । तत्प्रतिपक्षाणां कुशलानां धर्माणां भावना ॥४६॥

उपेक्षा कतमा । अलोभादीन् वीर्यान्तान् निश्रित्य चित्तसमता । चित्तप्रशठता । चित्तानाभोगता । यया क्लिष्ट धर्मानवकाशेनाऽक्लिष्टेषु स्थितिः ॥४७॥

अविहिंसा कतमा । विहिंसाप्रतिपक्षः । करुणा ॥४८॥

रागः कतमः । उपादानस्कन्धेष्वभ्यर्थना । अध्यवसानम् ॥४९॥

प्रतिघः कतमः । सत्त्वेष्वाघातचित्तता ॥५०॥

मानः कतमः । मानः सप्तविधः । अतिमानः, मानातिमानः, अस्मिमानः, अभिमानः, ऊनमानः, मिथ्यामानश्च ॥५१॥

मानः कतमः । हीनात् श्रेयानहमस्मि, सदृशेन वा सदृशोऽस्मीति चिन्तयतो या चित्तस्योन्नतिः ॥५२॥

अतिमानः कतमः सदृशात् श्रेयानहमस्मि, श्रेयसा वा सदृशोऽस्मीति चिन्तयतो या चित्तस्योन्नतिः ॥५३॥

मानातिमानः कतमः । श्रेयसोऽहमेव श्रेयानिति चिन्तयतो या चित्तस्योन्नतिः ॥५४॥

अस्मिमानः कतमः । पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मानमात्मीयं वा पश्यतो या चित्तस्योन्नतिः ॥५५॥

अभिमानः कतमः । अप्राप्त उत्तरे विशेषाधिगमे प्राप्तोमयेति चिन्तयतोया चित्तस्योन्नतिः ॥५६॥

उनमानः कतमः बह्वन्तरविशिष्टादल्पान्तरहीनोऽस्मीति चिन्तयतो या चित्तस्योन्नतिः ॥५७॥

मिथ्यामानः कतमः । अगुणवतो गुणवानहमस्मीति चिन्तयतो या चित्तस्योन्नतिः ॥५८॥

अविद्या कतमा । कर्मफलसत्यरत्नानामज्ञानम् । सा पुनः सहजा परिकल्पिता च ॥५९॥

रागचरितस्य रागप्रतिघयोः, रागचरितस्याविद्यायाश्चेत्यकुशलानां त्रीणि मूलानि । लोभोऽकुशलमूलम्, द्वेषोऽकुशलमूलम्, मोहोऽकुशलमूलं च ॥६०॥

दृष्टिः कतमा । पञ्च दृष्टयः—सत्कायदृष्टिः अन्तग्राहदृष्टिः, मिथ्यादृष्टिः, दृष्टिपरामर्शः, शीलव्रतपरामर्शश्च ॥६१॥

सत्कायदृष्टिः कतमा । पञ्चोदानस्कन्धानात्मत आत्मीयतो वा पश्यतो या क्लिष्टा प्रज्ञा ॥६२॥

अन्तग्राहदृष्टिः कतमा । तानेवाधिपतिं कृत्वा शाश्वतत उच्छेदतो वा पश्यतो या क्लिष्टा प्रज्ञा ॥६३॥

मिथ्यादृष्टिः कतमा । हेतुं वा फलं वा क्रियां वापवदतः सद्वा वस्तु विनाशयतो या क्लिष्टा प्रज्ञा ॥६४॥

दृष्टिपरामर्शः कतमः । ता एव तिस्रो दृष्टीस्तदाश्रयांश्च स्कन्धान् श्रेष्ठतः परमतश्च पश्यतो या क्लिष्टा प्रज्ञा ॥६५॥

शीलव्रतपरार्शः कतमः । शीलं व्रतं तदाश्रयांश्च स्कन्धान् शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च पश्यतो या क्लिष्टा प्रज्ञा ॥६६॥

विचिकित्सा कतमा । सत्यादिषु या द्विकोटिका मतिः ॥६७॥

एतेषां क्लेशानां पश्चिमास्तिस्रो दृष्टयः, विचिकित्सा च परिकल्पिताः । शिष्टाः सहजाः परिकल्पिताश्च ॥६८॥

क्रोधः कतमः । वर्तमानमपकारमागम्य या चेतस आघातचेतना ॥६९॥

उपनाहः कतमः । वैरानुबन्धः ॥७०॥

म्रक्षः कतमः । आत्मनोऽवद्यप्रच्छादना ॥७१॥

प्रदाशः कतमः । चण्डवचोदाशिता ॥७२॥

ईर्ष्या कतमा । परसंपत्तौ चेतसो व्यारोषः ॥७३॥

मात्सर्यं कतमत् । दान विरोधी चेतस आग्रहः ॥७४॥

माया कतमा । परवञ्चनाभूतार्थसंदर्शनता ॥७५॥

शाठ्यं कतमत् । स्वदोषप्रच्छादनोपायसंगृहीतं चेतसः कौटिल्यम् ॥७६॥

मदः कतमः । स्वसंपत्तौ रक्तस्योद्धर्षः । चेतसः पर्यादानम् ॥७७॥

विहिंसा कतमा । सत्त्वेषु विहेठना ॥७८॥

आह्रीक्यं कतमत् । अवद्येन स्वयम लज्जा ॥७९॥

अनपत्राप्यं कतमत् । अवद्येन परतोऽलज्जा ॥८०॥

स्त्यानं कतमत् । चित्ताकर्मण्यता । स्तैमित्यम् ॥८१॥

औद्धत्यं कतमत् । चित्तस्याव्युपशमः ॥८२॥

आश्रद्धयं कतमत् । कर्मफलसत्यरत्नेष्वनभिसंप्रत्ययः । श्रद्धाविपक्षश्चेतसोऽप्रसादः ॥८३॥

कौसीद्यं कतमत् । कुशले चेतसोऽनुभ्युत्साहो वीर्यविपक्षः ॥८४॥

प्रमादः कतमः । या लोभद्वेषमोहकौशीद्यैश्चित्तस्यानाररक्षा कुशलस्याभावना ॥८५॥

मुषितास्मृतिः कतमा । क्लिष्टा स्मृतिः । कुशलप्रतिपत्तिः ॥८६॥

विक्षेपः कतमः । रागद्वेषमोहासिकः पञ्चकामगुणेषु चित्तस्य विसारः ॥८७॥

असंप्रजन्यं कतमत् । क्लेश संप्रयुक्ता प्रज्ञा, तया कायवाक्चित्तचर्या असंविदितेव प्रवर्तते ॥८८॥

कौकृत्यं कतमत् । चेतसो विप्रतिसारः ॥८९॥

मिद्धं कतमत् । अस्वतन्त्रवृत्तिचेतसोऽभिसंक्षेपः ॥९०॥

वितर्कः कतमः । पर्येषको मनोजल्पः, चेतनाप्रज्ञाविशेषः, या चित्तस्यौदारिकता ॥९१॥

विचारः कतमः । पर्येषको मनोजल्पः, तथैव या चित्तस्य सूक्ष्मता ॥९२॥

चित्तविप्रयुक्तपरिसंख्यानम्

चित्तविप्रयुक्तसंस्कारा: कतमे। ये रूपचित्तचैत्ताधिकारे प्रज्ञप्ता:, त एवान्यत्राप्रज्ञप्ता: ॥९३॥

ते कतमे। प्राप्ति:, असंज्ञिसमापत्ति:, निरोधसमापत्ति:, आसंज्ञिकम्, जीवितेन्द्रियम्, निकायसभागता, जाति:, जरा, स्थिति:, अनित्यता, नाकमाय:, पदकाय:, व्यञ्जनकाय:, पृथगजनत्वमित्येवमादिभेदसमादाना: ॥९४॥

चित्तविप्रयुक्तलक्षणानि

तत्र प्राप्ति: कतमा। प्रतिलम्भ: समन्वागमश्च। बीजम्, वाशीता, अभिमुखीभावश्च यथायोगम् ॥९५॥

असंज्ञिसमापत्ति: कतमा। शुभकृत्स्नवीतरागस्योपर्यवीतरागस्य नि:सरणसंज्ञापूर्वकेण मनसिकारेणावस्थावराणां चित्तचैत्तधर्माणां यो निरोध:॥९६॥

निरोध समापत्ति: कतमा। न्यायतनवीतरागस्य भावाग्रादुच्चलितस्य शान्तविहारसंज्ञापूर्वकेण मनसिकारेणास्थावराणां चित्तचैत्त धर्माणां तदेकत्यानां च स्थावराणां यो निरोध: ॥९७॥

आसंज्ञिकं कतमत्। असंज्ञिसत्त्वनिकायदेवेषूपपन्नस्यास्थावराणां चित्तचैत्त धर्माणां निरोध: ॥९८॥

जिवितेन्द्रियं कतमत्। निकायसभागेषु पूर्वकर्मानुविद्धेषु य: संस्काराणां स्थितिकालनियम: ॥९९॥

निकायसभाग: कतम:। या सत्त्वानामात्मभावसदृशता ॥१००॥

जाति: कतमा। निकायसभागे संस्काराणामभूत्वा यो भाव: ॥१०१॥

जरा कतमा। तथा तेषां प्रबन्धान्यथात्वम् ॥१०२॥

स्थिति: कतमा। तथा तेषां प्रबन्धान्वय: ॥१०३॥

अनित्यता कतमा। तथा तेषां प्रबन्धविनाश: ॥१०४॥

नामकाय: कतम:। धर्माणां स्वभावाधिवचनम् ॥१०५॥

पदकाय: कतम:। धर्माणां विशेषाधिवचनम् ॥१०६॥

व्यञ्जनकाय: कतम:। अक्षराणि। तदुभयाभिव्यञ्जनतामुपादाय ॥१०७॥

वाक्यानि तानि। नामपदाश्रयेणार्थवच नतामुपादाय ॥१०८॥

अक्षरं पुन: पर्यायाक्षरणतामुपादाय ॥१०९॥

पृथग्जनत्वं कतमत्। आर्यधर्माणामप्रतिलम्भ: ॥११०॥

इति संस्कारस्कन्धो नाम ॥१११॥

संस्कारस्कन्धः सोद्देश्य निर्देशः परिनिष्ठितः ॥

विज्ञानलक्षणम्

विज्ञानं कतमत्। आलम्बनविज्ञप्तिः ॥११२॥

चित्तमनसी विज्ञानपर्यायौ सनिवर्चनौ तच्चित्तं मनोऽपि। चित्रीकारतां मनोनिश्रयतां च उपादाय ॥११३॥

सलक्षणचित्तनिर्देशः

मूलचित्तमालयविज्ञानं तद्यथेदं सर्वसंस्काराणां संचितं बीजम् ॥११४॥

तत्पुनरालम्बनमव्युपच्छिन्नमेकसन्तानवर्ति। यथा—निरोध समापत्त्यसंज्ञिसमापत्या-संज्ञिकेभ्यो व्युत्थितस्मास्माद् विषयविज्ञप्तिकं नाम प्रवृत्तिविज्ञानं जायते। आलम्बनप्रत्ययमपेक्ष्य भिन्नाकारेषु वृत्तितामुच्छिद्य पुनर्जाततां संसारे प्रवृत्तिनिवृत्तितां चोपादाय तदालम्बनं नाम विज्ञानम् ॥११५॥

आलय विज्ञान हि सर्वबीजालय तामात्मभावालयहेतुतामात्मभावे स्थितितां चोपादाय ॥११६॥

आदानविज्ञानमपि तत्। आत्मभावादानतामुपादाय ॥११७॥

सलक्षणमनोनिर्देशः

मूलमन आलयविज्ञानमाश्रित्य नित्यमात्ममोहात्मदृष्ट्यात्ममानात्मस्नेहैः संप्रयुक्तं विज्ञानमेकजातीयसंतानवर्ति अर्हत्त्वार्यमार्गनिरोधसमापत्तिकाले व्यावर्तते ॥११८॥

विज्ञानस्कन्धः सोद्देशनिर्देशः परिनिष्ठितः ॥

स्कन्धनिर्वचनम्

किमर्धः स्कन्धः। राश्यर्थः। कालगोत्राकारगतिविषयभिन्नानां रूपादीनामभि-संक्षेपतामुपादाय ॥११९॥

स्कन्धोद्देशनिर्देशकः प्रथमाधिकारः परिनिष्ठितः ॥१॥

द्वितीयाधिकारः

आयतनोद्देश निर्देशकः

आयतननामानि

द्वादशायतनानि। चक्षुरायतनम्, रूपायतनम्, श्रोत्रायतनम्, शब्दायतनम्, घ्राणायतनम्, गन्धायतनम, जिह्वायतनम्, रसायतनम्, कायायतनम्, स्प्रष्टव्यायतनम्, मनआयतनम्, धर्मायतनं च ॥१२०॥

आयतनानां सलक्षणप्रपञ्चः

चक्षुरादीनि रूपशब्दगन्धरसायतनानि यथोक्तपूर्वाणि ॥१२१॥

स्प्रष्टव्यायतनं चत्वारि महाभूतानि, उक्तश्च यः स्प्रष्टव्यैकदेशः ॥१२२॥

मनआयतनं यो विज्ञानस्कन्धः ॥१२३॥

धर्मायतनं वेदना, संज्ञा, संस्काराः, अविज्ञप्तिः, असंस्कृताश्च ॥१२४॥

असंस्कृताः सलक्षणप्रभेदाः

असंस्कृताः कतमे। आकाशम, अप्रतिसंख्यानिरोधः, प्रतिसंख्यानिरोधः, तथता च ॥१२५॥

तत्राकाशं कतमत्। रूपावकाशः ॥१२६॥

अप्रतिसंख्यानिरोधः कतमः। यो निरोधो न विसंयोगः ॥१२७॥

स क्लेशाऽअप्रतिपक्षेण स्कन्धानामात्यन्तिको निरोधः ॥१२८॥

प्रतिसंख्यानिरोधः कतमः। यो निरोधो विसंयोगः ॥१२९॥

स क्लेशप्रतिपक्षेण स्कन्धानामात्यन्तिको निरोधः ॥१३०॥

तथता कतमा। या धर्माणां धर्मता। धर्मनैरात्म्यम् ॥१३१॥

आयतन निर्वचनम्

किमुपादायायतनमिति। विज्ञानोत्पादद्वारतामुपादाय ॥१३२॥

आयतनोद्देशनिर्देशको द्वितीयाधिकारः परिनिष्ठितः ॥२॥

तृतीयाधिकारः

धातूद्देश निर्देशकः

धातुनामानि

अष्टादश धातवः। चक्षुर्धातुः, रूपधातुः, चक्षुर्विज्ञानधातुः, श्रोत्रधातुः, शब्दधातुः, श्रोत्रविज्ञानधातुः, घ्राणधातुः, गन्धधातुः, घ्राणविज्ञानधातुः, जिह्वाधातुः, रसधातुः, जिह्वाविज्ञानधातुः, कायधातुः, स्प्रष्टव्यधातुः, कायविज्ञानधातुः, मनोधातुः, धर्मधातुः, मनोविज्ञानधातुश्च ॥१३३॥

धातुप्रपञ्चः

चक्षुरादयो धातवो रूपादयो धातवश्च यथायतनानि ॥१३४॥

षड्विज्ञानधातवश्चक्षुराद्याश्रया रूपाद्यालम्बनाविज्ञप्तयः ॥१३५॥

मनोधातुस्तेषामेव समनन्तरनिरुद्धं षड्विज्ञानदेशनाश्रयतामुपादाय ॥१३६॥

धातुव्यवस्थानम्

एवमष्टादशधातुव्यवस्थानम् । यो रूपस्कन्धस्तानि दशायतन धातवः ॥१३७॥

धर्मायतनं धर्मधात्वेकदेशः ॥१३८॥

यो विज्ञानस्कन्धस्तन्मन आयतनम्, सप्तमनोधातवश्च ॥१३९॥

अन्ये ये त्रयः स्कन्धाः रूपधात्वेकदेशश्च, तेऽसंस्कृतैः सहिता धर्मायतनं धर्मधातुश्च ॥१४०॥

धातुनिर्वचनम्

किमुपादाय धातव इति । आकरकात्मलक्षणधारणतामुपादाय ॥१४१॥

स्कन्धायतनधातुक्रमेण धर्मदेशनायाः प्रयोजनम् किमर्थं स्कन्धादिक्रमेण देशना। त्रिविधात्मग्राहप्रतिपक्षेणायं क्रमः ॥१४२॥

आत्मग्राहस्त्रिविधः । एकात्मग्राहः, वेदकात्मग्राहः, कारकात्मग्राहश्च ॥१४३॥

अष्टादशधातुविकल्पाः

अष्टादशधातुषु कति रूपिणः । ये रूपस्कन्धस्वभावाः ॥१४४॥

कत्यरूपिणः । शिष्टाः ॥१४५॥

कति सनिदर्शनाः । रूपधातुरेकः सनिदर्शनविषयः ॥१४६॥

कत्यनिदर्शनाः । शिष्टाः ॥१४७॥

कति सप्रतिघाः । दश रूपिणः । यत्र यत्प्रतिघातस्तत्र तत् सप्रतिघम् ॥१४८॥

कत्यप्रतिघाः । शिष्टाः ॥१४९॥

कति सास्रवाः । पञ्चदश पश्चिमानां त्रयाणामेकदेशश्च । ते क्लेशोत्पादप्रत्यक्षचर्या विषयतामुपादाय ॥१५०॥

कत्यनास्रवाः । पश्चिमानां त्रयाणामेकदेशः ॥१५१॥

कति कामप्रतिसंयुक्ताः । सर्वे ॥१५२॥

कति रूपप्रतिसंयुक्ताः। चतुर्दश स्थापयित्वा गन्धरसघ्राणजिह्वाविज्ञान धातून् ॥१५३॥

कत्यारूप्यसंप्रयुक्ताः । पश्चिमास्त्रयः ॥१५४॥

कत्यप्रतिसंयुक्ताः । त्रयाणामेकदेशः ॥१५५॥

कति स्कन्धसंगृहीताः । असंस्कृतान् स्थापयित्वाः ॥१५६॥

कत्युपादानस्कन्धसंगृहीताः । ये सास्रवाः ॥१५७॥

कति कुशलाकुशलाव्याकृताः । दश त्रिविधाः । सप्तमनोधातवः, रूपशब्द-धर्मधातवश्च । शिष्टा अव्याकृताः ॥१५८॥

कत्याध्यात्मिकाः । द्वादश । स्थापयित्वा रूपशब्दगन्धरसस्प्रष्टव्यधर्मधातून ॥१५९॥

कति बाह्याः । षट् । ये स्थापिताः ॥१६०॥

कति सालम्बनाः । सप्तचित्तधातवः, धर्मधात्वेकदेशोऽपि यश्चैत्तः ॥१६१॥

कत्यनालम्बनाः । शिष्टा दश, धर्मधात्वेकदेशश्च ॥१६२॥

कति सवितर्काः । मनोधातुः, मनोविाानधातुः, धर्मधात्वेकदेशश्च ॥१६३॥

कति निष्पन्नाः । पञ्चाध्यात्मिकाः । चतुर्णामेकदेशः ॥१६४॥

कत्यनिष्पन्नाः शिष्टा दश, चतुर्णामेकदेशश्च ॥१६५॥

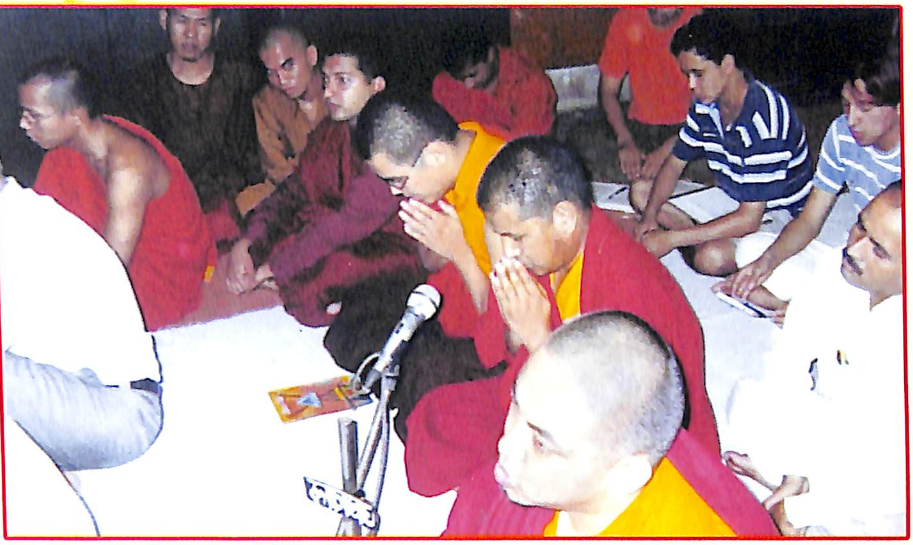
कति सभागाः । आध्यात्मिकाः पञ्च रूपिणः । स्वविज्ञान सहितविषय-सदृशतामुपादाय ॥१६६॥

कति तत्सभागाः । त एव स्वविज्ञानविरहितस्वान्वयसदृशतामुपादाय॥१६७॥

धातूद्देशनिर्देशकस्तृतीयाधिकारः परिनिष्ठितः ॥३॥

॥ आचार्य वसुबन्धुविरचितं पञ्चस्कन्धप्रकरणं समाप्तम् ॥

यदत्र सुकृतं सर्वं तदाचार्यस्य धीमतः ।
यत् कुकृतं तदागो मे क्षन्तव्यं साधुसूरिभिः ॥



बुद्ध जयन्ती समारोह २००७
पालिमंगलाचरण करते हुए भिक्षुवृन्द



राष्ट्रीय सेवा योजना में २००५ वर्षीय श्रीमती इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय पुरस्कार से पुरस्कृत छात्र श्री धनञ्जय कुमार को अंगवस्त्रम् व स्मृतिचिन्ह प्रदान करते हुए माननीय कुलपति प्रो० अशोक कुमार कालिया जी एवं कार्यक्रम समन्वयक प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी जी



प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय स्मृति संगोष्ठी २००७
अध्यक्षता- प्रो० अशोक कुमार कालिया जी कुलपति सं० सं० वि० वि० वाराणसी
मुख्यअतिथि- प्रो० नवांग समतेन निदेशक के० उ० ति० शि० संस्थान-सारनाथ
मुख्यवक्ता- प्रो० ब्रजबल्लभ द्विवेदी निदेशक - जंगमवाणीमठ-वाराणसी
संयोजक- प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष



पं० कमलापति त्रिपाठी जयन्ती के उपलक्ष्य में सप्तदिवसीय व्याख्यानमाला में
व्याख्याता प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी का अभिनन्दन करते हुए
माननीय कार्यपरिषद् के सदस्य पं० विजयशंकर पाण्डेय जी



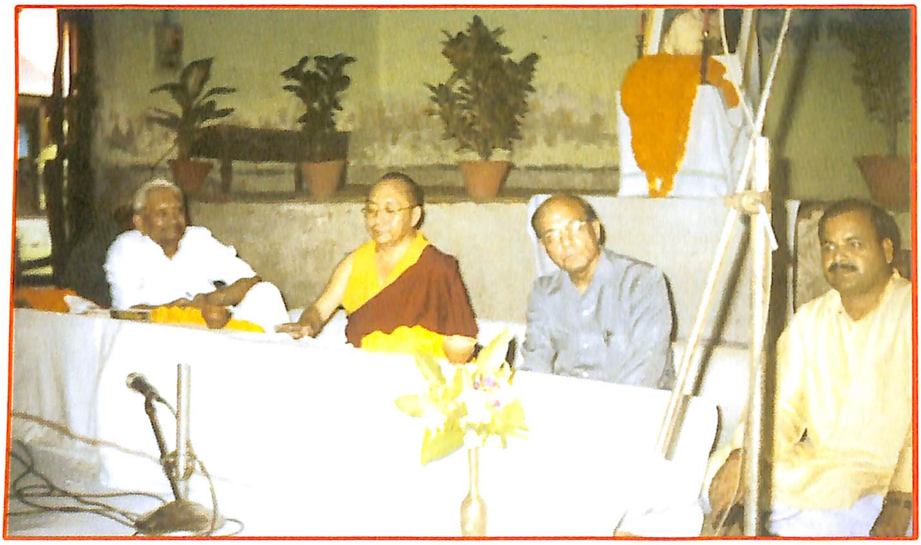
बुद्ध जयन्ती समारोह २००६
दीप प्रज्ज्वलित करते हुए कुलपति प्रो० अशोक कुमार कालिया जी कुलपति
प्रो० रघुनाथ गिरि जी, प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी जी, प्रो० माहेश्वरी प्रसाद जी



श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष के कार्यभार ग्रहण करने के समय वृक्षारोपण करते हुए
माननीय कुलपति प्रो० अशोक कुमार कालिया जी
वित्ताधिकारी- श्रीमती गीतिकनासुरजी, विनयाधिकारी- डॉ० केदारनाथ त्रिपाठी
देखते हुए- प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
एवं श्री योगेन्द्र नाथ गुप्ता उपकुलसचिव
प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे



बुद्ध जयन्ती २००५ के अवसर पर आयोजित संगोष्ठी में
प्रो० राजीवरंजन सिंह, मुख्यवक्ता प्रो० रघुनाथ गिरि पूर्व दर्शन विभागाध्यक्ष
प्रो० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा एवं संचालक प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी



प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय स्मृति संगोष्ठी २००६
अध्यक्षता- प्रो० अशोक कुमार कालिया कुलपति सं० सं० वि० वि० वाराणसी
मुख्य अतिथि- प्रो० नवांग समतेन निदेशक के० उ० ति० शि० संस्थान-सारनाथ
मुख्यवक्ता- प्रो० रामशंकर त्रिपाठी शोध आचार्य के० उ० ति० शि० संस्थान-सारनाथ
संयोजक- प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष सं० सं० वि० वि० वाराणसी



बुद्ध जयन्ती २००८ के अवसर पर आयोजित संगोष्ठी में
अध्यक्षता- प्रो० रामजी मालवीय प्रतिकुलपति सं० सं० वि० वि० वाराणसी
मुख्य अतिथि- प्रो० आद्या प्रसाद मिश्र पूर्व कुलपति जबलपुर (म०प्र०)
विशिष्ट अतिथि- प्रो० हरेराम त्रिपाठी मानविकी संकायाध्यक्ष म० गॉ० काशी विद्यापीठ वाराणसी
मुख्यवक्ता- प्रो० रामशंकर त्रिपाठी शोध आचार्य के० उ० ति० शि० संस्थान-सारनाथ



बौद्धदर्शन विभागीय विशिष्ट व्याख्यानमाला
की अध्यक्षता करते प्रो० राजीवरंजन सिंह श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष
मुख्यवक्ता- प्रो० राकेश कुमार मिश्र जम्मू वि०वि० जम्मू
बीच में प्रो० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा पालि एवं थेरवाद विभागाध्यक्ष
कार्यक्रम के संयोजक व संचालक- प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष



प्रो० संघसेन, पूर्व विभागाध्यक्ष, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली वि० वि० दिल्ली
प्रो० परमानन्द सिंह अध्यक्ष इतिहास विभाग म० गाँ० काशी विद्यापीठ, वाराणसी
भन्ते के सिरि सुमेधथेरो महामंत्री महाबोधि सोसायटी सारनाथ
प्रो० अशोक कुमार कालिया जी कुलपति सं० सं० वि० वि० वाराणसी
प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी संयोजक डॉ० भीमराव अम्बेडकर परिनिर्वाण दिवस



२००६ में उ०प्र० संस्कृत संस्थान से रु० ग्यारह हजार का पुरस्कार एवं
प्रशस्ति पत्र प्राप्त करते हुए प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष
प्रो० अशोक कुमार कालिया जी कुलपति एवं
उ०प्र० संस्कृत संस्थान के अध्यक्ष श्री सुरेन्द्र पटेल जी

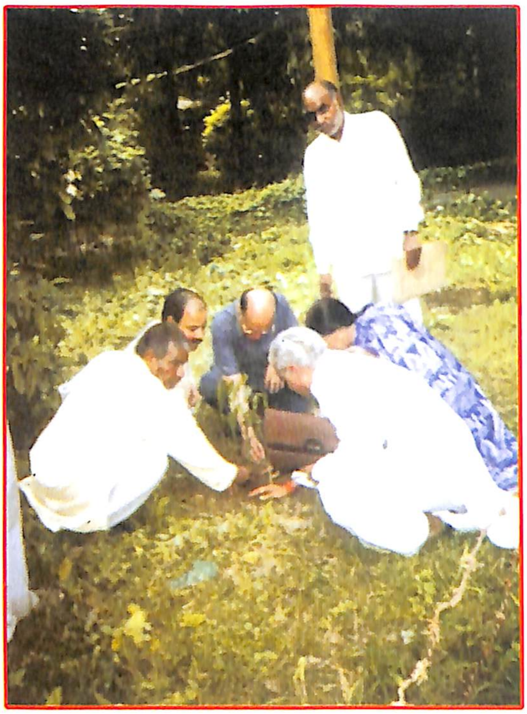


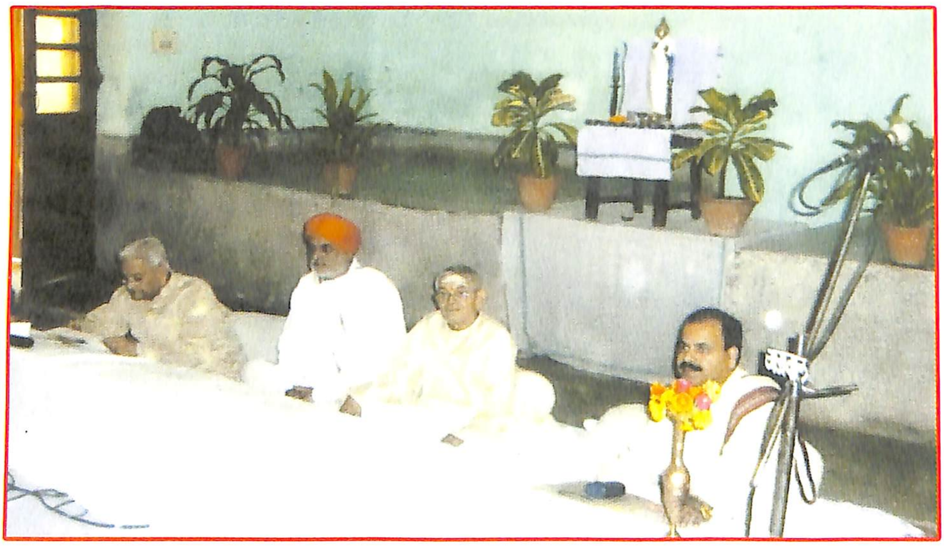
बाबा राघवदास महिला महाविद्यालय
बरहज आश्रम-देवरिया में
मुख्य अतिथि के रूप में अभिनन्दन
व सम्मान-पत्र प्राप्त करते हुए
प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
बौद्धदर्शन-विभागाध्यक्ष
सं. सं. वि. वि. वाराणसी



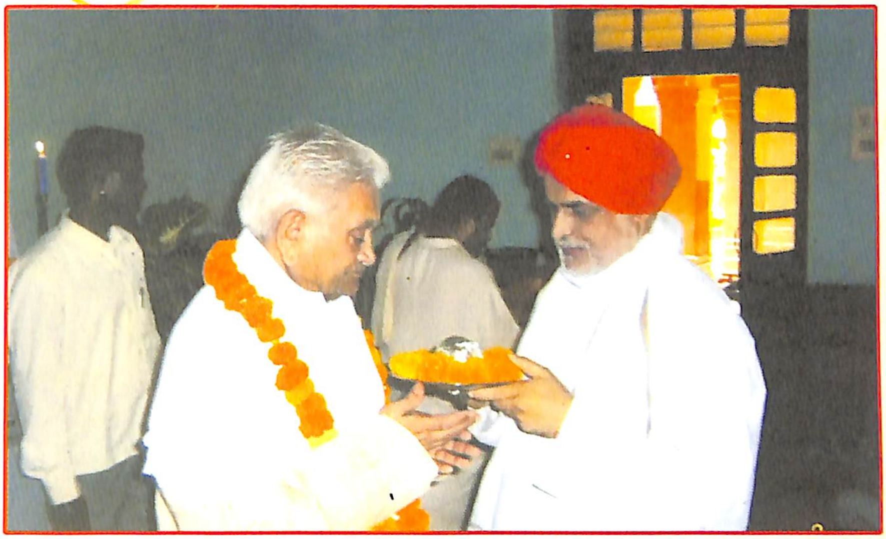
२००७ वर्षीय श्रमण विद्या संकायीय विशिष्ट व्याख्यान माला
के मुख्यवक्ता- प्रो० रामशंकर त्रिपाठी शोध आचार्य के०उ०ति०शि०संस्थान-सारनाथ
अध्यक्षता- प्रो० अशोक कुमार कालिया कुलपति सं० सं० वि० वि० वाराणसी
संयोजक- प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष सं० सं० वि० वि० वाराणसी

प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी के
श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष के कार्यभार
ग्रहण करने के अवसर पर
वृक्षारोपण करते हुए
प्रो० अशोक कुमार कालिया जी कुलपति
प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे
प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष
डॉ० केदारनाथ त्रिपाठी विनयाधिकारी
श्रीमती गीतिकनासुर वित्ताधिकारी
उपकुलसचिव- श्री योगेन्द्र नाथ गुप्ता





बुद्धजयन्ती समारोह २००८ में ही
मुख्यवक्ता- प्रो० रामशंकर त्रिपाठी शोध आचार्य के० उ० ति० शि० संस्थान-सारनाथ
अध्यक्षता- प्रो० रामजी मालवीय प्रतिकुलपति सं० सं० वि० वि०-वाराणसी
मुख्यअतिथि- प्रो० आद्याप्रसाद मिश्र पूर्वकुलपति जबलपुर (म०प्र०)
संयोजक- प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी
श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष

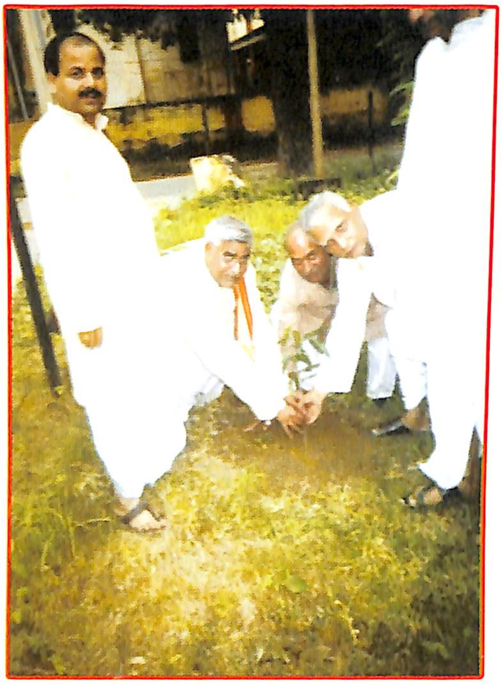


प्रो० रामशंकर त्रिपाठी को शंकर पुरस्कार प्राप्त होने के
उपलक्ष्य में श्रमणविद्या संकाय द्वारा अभिनन्दन करते हुए
प्रो० रामजी मालवीय प्रतिकुलपति सं० सं० वि० वि० वाराणसी



२००६ वर्षीय राष्ट्रीय सेवा योजना के विशेष शिविर के
समय कार्यक्रम समन्वयक प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी का अभिनन्दन करते
श्री गोदेनाथ तिवारी कार्यक्रम अधिकारी
संस्कृत विद्या प्रवोधिनी महाविद्यालय, हाटा-कुशीनगर

वृक्षारोपण कराते हुए



प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी

श्रमणविद्या संकायाध्यक्ष

प्रो० उमाशंकर शुक्ल

छात्रकल्याण संकायाध्यक्ष

प्रो० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा

डॉ० रविशंकर दूबे

कार्यपरिषद् सदस्य

डॉ० हरप्रसाद दीक्षित

पालि एवं थेरवाद विभागाध्यक्ष



प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय स्मृति संगोष्ठी २००५
अध्यक्षता- प्रो० अशोक कुमार कालिया कुलपति सं० सं० वि० वि० वाराणसी
मुख्यअतिथि- प्रो० माहेश्वरी प्रसाद निदेशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान-वाराणसी
संयोजक- प्रो० रमेश कुमार द्विवेदी बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष सं० सं० वि० वि० वाराणसी
माइक पर बोलते हुए- डॉ० अनिल कुमार उपाध्याय पत्रकारिता विभागाध्यक्ष एवं
अध्यक्ष-अध्यापक परिषद् म० गाँ० काशी विद्यापीठ, वाराणसी
बैठे हुए- प्रो० कृष्ण चन्द दूबे आधुनिक ज्ञान विज्ञान संकायाध्यक्ष

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

गौरीशंकर प्रेस, वाराणसी